गंगा-पुस्तकमाला का बारहवाँ पुष्प

देव और विहारी

लेखक

कृष्णविहारी मिश्र बी० ए०, एल्-एल्० बी०
(साहित्य-समालोचक-संपादक)

प्रकाशक
गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
२९-३०, अमीनाबाद-पार्क
लखनऊ

द्वितीयावृत्ति

रेशमी जिल्द २।)] सं० १९८२ वि० [सादी १।।)

द्वितीय संस्करण की भूमिका

'देव और विहारी' के इस दूसरे संस्करण को लेकर पाठकों की सेवा में उपस्थित होते हुए हमें परम हर्ष हो रहा है। पहले संस्करण का हिंदी-संसार ने जैसा आदर किया उससे हमें बहुत प्रोत्साहन मिला है। जिन पत्र-पत्रिकाओं तथा विद्वान् समालोचकों ने इस पुस्तक के विषय में अपनी सम्मतियाँ दी हैं उनके प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं। कई समालोचनाओं में पुस्तक के दोषों का भी उल्लेख था। यथासाध्य हमने उनको दूर करने का प्रयत्न किया है, पर कई दोष ऐसे भी थे जिन्हें हम दोष न मान सके, इसलिये हमने उनको दूर करने में अपनेआपको असमर्थ पाया। समालोचकगण इसके लिये हमें क्षमा करें। पटना-विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने इस पुस्तक को बी० ए० ऑनर्स कोर्स में पाठ्य पुस्तक नियुक्त किया है। एतदर्थ हम उनको विशेष रूप से धन्यवाद देते हैं। हमें यह जानकर बड़ा हर्ष और संतोष हुआ है कि इस पुस्तक के पाठ से महाकवि देव की कविता की ओर लोगों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित हुआ है और सबसे बढ़कर बात तो यह है कि कॉलेजों के विद्यार्थियों ने देवजी की कविता को उत्साह के साथ अपनाया है। हमें विश्वास है कि योग्यता की यथार्थ परख होने पर देव की कविता का और भी अधिक प्रचार होगा।

हम पर यह लांछन लगाया गया है कि हम देव का अनुचित पक्षपात करते हैं और विहारी की निंदा। यदि हिंदी-संसार को हमारी नेकनीयती पर विश्वास हो तो हम एक बार यह बात फिर

स्पष्ट रूप से कह देना चाहते हैं कि हमें देव का पक्षपात नहीं है और विहारी का विरोध भी नहीं। हमने इन दोनों कवियों की रचनाओं को जैसा कुछ समझा है उससे यही राय क़ायम कर सके हैं कि देवजी विहारीलालजी की अपेक्षा अच्छे कवि हैं। साहित्य-संसार में हमें यह राय प्रकट करने का अधिकार है और हमने इसी अधिकार का उपयोग किया है। कुछ अन्य विद्वानों की यह राय है कि विहारीजी देव से बढ़कर हैं। इन विद्वानों को भी अपनी राय प्रकट करने का हमारे समान ही अधिकार है। बहुत ही अच्छी बात होती, यदि सभी विद्वानों की देव-विहारी के संबंध में एक ही राय होती। पर यदि ऐसा नहीं हो सका तो हरज ही क्या है। ऐसे मामलों में मतभेद होना तो स्वाभाविक ही है। जो हो, देव के संबंध में कुछ विद्वानों की जो राय है हमारी राय उससे भिन्न है और हम अपनी राय को ही ठीक मानते हैं। हम विहारी के विरोधी हैं, इस लांछन का हम तीव्र शब्दों में प्रतिवाद करते हैं। देव को विहारी से बढ़कर मानने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि हम विहारी के विरोधी हैं। विहारी की कविता पढ़ने में हमने जितना समय लगाया है उतना देव की कविता में नहीं। हमें विहारी का विरोधी बतलाना सत्य से कोसों दूर है।

इस संस्करण में हमने 'भाव-सादृश्य' और 'देव-विहारी तथा दास'-नामक नए अध्याय जोड़ दिए हैं तथा 'रस-राज' और 'भाषा'-वाले अध्यायों में कुछ वृद्धि कर दी है। भूमिका में से कुछ अंश निकाला गया तथा कुछ नया जोड़ दिया गया है। इधर देव और विहारी की कविता पर प्रकाश डालनेवाले कई निबंध हमने समय-समय पर हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कराए थे। उनमें के कई निबंधों को हमने परिशिष्ट-रूप से इस पुस्तक में जोड़ दिया है। चि० नवलविहारी ने 'चक्रवाक' के संबंध में

'माधुरी' में एक वैज्ञानिक लेख प्रकाशित कराया था, वह भी परिशिष्ट में दे दिया गया है । आशा है, जो नए परिवर्तन किए गए हैं वे पाठकों को रुचिकर होंगे ।

ऊपर जिन परिवर्तनों का उल्लेख किया गया है उनसे इस पुस्तक का कलेवर बढ़ा है । इधर हमारे पास देव और विहारी की तुलना के लिये और बहुत-सा सामान एकत्रित हो गया है । हमारा विचार है कि हम देव और विहारी के विचारों का पूर्ण विश्लेषण करके उस पर विस्तार के साथ लिखें तथैव रेवरेंड ई० ग्रीव्ज़-जैसे विद्वानों के ऐसे कथनों पर भी विचार करें जिनमें वे इन दोनों कवियों को कवि तक मानना स्वीकार नहीं करते, पर इस काम के लिये स्थान अधिक चाहिए और समय भी पर्याप्त । यदि ईश्वर ने चाहा तो हमारा यह संकल्प भी शीघ्र ही पूरा होगा ।

अंत में हम देव-विहारी के इस द्वितीय संस्करण को प्रेमी पाठकों के करकमलों में नितांत नम्रता के साथ रखते हैं और आशा करते हैं कि पहले संस्करण की भाँति वे इसे भी अपनाएँगे और हमारी त्रुटियों को क्षमा करेंगे ।

लखनऊ;
२० एप्रिल, १६२५

विनयावनत—
कृष्णविहारी मिश्र

भूमिका

व्रजभाषा-दुर्बोधता की वृद्धि

जिस भाषा में प्राचीन समय का हिंदी-पद्य-काव्य लिखा गया है, वह धीरे-धीरे आज कल के लोगों को दुर्बोध होती जाती है। इसके कतिपय कारणों में से दो-एक ये हैं—

(१) शिक्षा-विभाग द्वारा जो पाठ्य पुस्तकें नियत होती हैं, उनमें महात्मा तुलसीदासजी की रामायण के कुछ अंशों को छोड़कर जो कुछ पद्य-काव्य दिया जाता है, वह प्रायः उस श्रेणी का होता है, जिससे विद्यार्थियों को प्राचीन पद्य-काव्य की भाषा से परिचय प्राप्त नहीं होता और न उस पद्य-काव्य को स्वतंत्र रूप से पढ़ने की ओर उनकी प्रवृत्ति ही होती है *।

(२) आज कल के कविता-प्रेमी इस बात पर बड़ा ज़ोर देते हैं कि नायिका-भेद या अलंकार-शास्त्र के ग्रंथों की कोई आवश्यकता नहीं है। प्राचीन पद्य-काव्य को, शृंगार-पूरित होने के कारण, अश्लील बताकर वे उसकी निंदा किया करते हैं, जिससे लोगों को स्वभावतः उससे घृणा उत्पन्न होती है और वे उसे पढ़ने की परवा नहीं करते।

(३) सामयिक हिंदी-पत्रों के संपादक उन लोगों की कविताएँ अपने पत्रों में नहीं छापते, जो व्रजभाषा आदि में कविता करते हैं। इससे जन-समुदाय प्राचीन पद्य-काव्य की भाषा से

---

* हर्ष की बात है कि अब इस त्रुटि को दूर करने का उद्योग हो रहा है।

बिलकुल अनजान बना रहता है और उस भाषा में कविता करने-वाले भी हतोत्साह होते जाते हैं *।

व्रजभाषा प्रांतिक भाषा होते हुए भी कई सौ वर्ष तक हिंदी-पद्य-काव्य की एकमात्र भाषा रही है। उन स्थानों के लोगों ने भी, जहाँ वह बोली नहीं जाती थी, उसमें कविता की है। व्रजभाषा में मीलित वर्ण बहुत कम व्यवहृत होते हैं। उसी प्रकार दीर्घांत शब्दों का प्रयोग भी अधिक नहीं है। रौद्र, वीर आदि को छोड़कर अन्य रसों के साथ कर्ण-कटु टवर्ग आदि का भी प्रयोग बचाया जाता है। इस कारण व्रजभाषा, भाषा-शास्त्र के स्वाभाविक नियमानुसार, बड़ी ही श्रुति-मधुर भाषा है। उसके शब्दों में थोड़े में बहुत कुछ व्यक्त कर सकने की शक्ति मौजूद है। वह अब भी प्रांतिक भाषा है और कई लाख लोगों द्वारा बोली जाती है। यह सत्य है कि उसमें शृंगार-रस-पूर्ण कविता बहुत हुई है, परंतु इसे समय का प्रभाव मानना चाहिए। यदि उस मध्ययुग में ऐसी कविता भी न होती, तो कविता का दीपक ही बुझ जाता; माना कि आलोक धुँधला था, पर रोशनी तो बनी रही। फिर धर्म की धारा भी तो उसने खूब बहाई है। उसमें की गई कविता हिंदी के पूर्व पद्य-काव्य-इतिहास को वर्तमान काल के साहित्य-इतिहास से बड़ी ही उपादेयता के साथ जोड़ती है।

राष्ट्रीयता के विचार से खड़ी बोली में कविता होनी चाहिए, परंतु चासर का भ्रामक उदाहरण देकर अब भी बोली जानेवाली व्रजभाषा की कविता का अंत करना ठीक नहीं है; क्योंकि चासर ने जिस अँगरेज़ी में कविता की थी, वह अब कहीं भी नहीं बोली जाती। व्रजभाषा अपनी कविता में वर्तमान समय के विचार प्रकट

---

* इस ओर भी हिंदी-पत्र-संपादकों ने उदारता का भाव ग्रहण किया है जिसके लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं।

कर सकेगी, इसमें भी कुछ संदेह नहीं है। समग्र योरप के लाभ के लिये स्पिरांटो-भाषा का साहित्य बढ़ाना चाहिए, परंतु अँगरेज़ी, फ़रासीसी, आइरिश आदि देशी एवं प्रादेशिक भाषाओं की भी उन्नति होती रहनी चाहिए। इसी प्रकार समग्र राष्ट्र के विचार से खड़ी बोली में कविता होनी चाहिए, परंतु परिचित हिंदी-भाषी जनता एवं प्रादेशिक लोगों के हित का लक्ष्य रखकर व्रजभाषा में की जाने-वाली कविता का गला घोटना ठीक नहीं। व्रजभाषा में कविता होने से खड़ी बोली की कविता को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँच सकती। दोनों को मिल-जुलकर काम करना चाहिए। हमारी राय में खड़ी बोली व्रजभाषा में प्रचलित कविता-संबंधी नियमों का अनुकरण करे और व्रजभाषा खड़ी बोली में व्यक्त होनेवाले सामयिक विचारों से अपने कलेवर को विभूषित करे।

ऊपर हमने व्रजभाषा-दुर्बोधता बढ़ानेवाले तीन कारणों का उल्लेख किया है। उनके क्रम में ढिलाई होने * से ही यह दुर्बोधता जा सकती है। कहने का अभिप्राय यह है कि यदि पाठ्य पुस्तकों में व्रजभाषा की अच्छी कविताएँ रक्खी जायँ, लोग उसका प्राचीन पद्य-काव्य पढ़ें—उससे घृणा न करें एवं पत्र-संपादक व्रजभाषा में की गई कविता को भी अपने पत्रों में सादर स्थान दें, तो इस दुर्बोधता-वृद्धि का भय न रहे। लेकिन कौन सुनता है!

प्राचीन पद्य-काव्य पढ़ने की ओर लोगों की रुचि झुकाने के लिये एक मुख्य और अच्छा-सा साधन यह भी हो सकता है कि प्राचीन अच्छे-अच्छे ग्रंथों के ऐसे सटीक सुंदर संस्करण प्रकाशित किए जायँ, जिनसे लोग कविता की खूबियाँ समझ सकें और इस प्रकार प्राचीन काव्य पढ़ने की ओर उनका चित्त आकर्षित हो।

---

* संतोष के साथ लिखना पड़ता है कि तीनों ही कारणों में ढिलाई हुई है और आज व्रजभाषा पर लोगों का अनुराग बढ़ रहा है।

हर्ष का विषय है कि व्रजभाषा के कवियों पर अब इस प्रकार की टीकाएँ लिखी जाने लगी हैं। कविवर भूषणजी की ग्रंथावली का उत्तम रूप से संपादन हो चुका है। अब कविवर विहारीलाल की बारी आई है। सो श्रीयुत पद्मसिंहजी शर्मा ने उक्त कविवर की सतसई पर संजीवन-भाष्य लिखा है। इस भाष्य का प्रथम भाग काशी से प्रकाशित हुआ है। यह बड़ा ही उपादेय ग्रंथ है। श्रीरत्नाकरजी ने भी अपना भाष्य लिखकर बड़ा उपकार किया है।

संजीवन-भाष्य की सबसे बड़ी विशेषता तुलना-मूलक समालोचना है। हिंदी में कदाचित् संजीवन-भाष्यकार ने ही पहले-पहल शृंखला-बद्ध तुलना-मूलक समालोचना लिखी है। इसके लिये वे हिंदी-भाषी जनता के प्रशंसापात्र हैं। खड़ी बोली में होनेवाली कविता के संबंध में उनकी राय अभिनंदनीय नहीं है—हमारी राय में खड़ी बोली में भी उत्तम कविता हो सकती है। हाँ, व्रजभाषा-माधुर्य के विषय में संजीवन-भाष्यकार का मत माननीय है। भाषा की मधुरता का कविता पर प्रभाव पड़ता ही है। अतएव इस विषय पर कुछ लिखने की हमारी भी इच्छा है।

भाषा की मधुरता का कविता पर प्रभाव

कविता, चित्र एवं संगीत का घनिष्ठ संबंध है। कविता इन सबमें प्रबल है। दृश्य काव्य में हम इन सबका एक ही स्थान पर समावेश पाते हैं।

चित्रकार अपने खींचे हुए चित्र से दृश्य विशेष का यथावत् बोध करा देता है। चित्र-कौशल से चित्रित वस्तु दूर होते हुए भी दर्शक को सुलभ हो जाती है। योरपियन प्रकांड रण के आदि कारण, 'कैसर' यहाँ कहाँ हैं; पर चित्रकार के कौशल से उनके रोबदार चेहरे को हम लोग भारतवर्ष में बैठे-बैठे देख लेते हैं।

उनके चेहरे की गठन हमें उनकी प्रकृति का पूरा पता दे देती है। अस्तु। चित्रकार अपने इस कार्य को चित्र द्वारा संपादित करता है।

कवि का काम भी वही है। उसके पास रंग की प्याली और कूची नहीं है, पर उसे भी कैसर का स्वरूप खींचना है। इस कार्य को पूरा करने के लिये उसके पास शब्द हैं। कवि को ये शब्द ही सर्वस्व हैं। इन्हीं को वह ऐसे अच्छे ढंग से सजाता है कि शब्द-सजावट देखनेवाले के मानस-पट पर भी वही चित्र खिंच जाता है, जिसे चित्रकार काग़ज़ पर, भौतिक आँखों के लिये, खींचता है। हमारे सामने काग़ज़ नहीं है। हमारी आँखें बंद हैं। हम केवल कवि के शब्द सुन रहे हैं। फिर भी हमें ऐसा जान पड़ता है कि कैसर हमारे सामने ही खड़े हैं। उनका रंग-रूप, क्रोध से लाल चेहरा, डरावनी दृष्टि, ग़ज़ब गिरानेवाली आवाज़ सब कुछ तो सामने ही मौजूद है। विक्रम संवत् की इस २०वीं शताब्दी में, जब कि जादू-टोने का अंत हो चुका है, यह खिलवाड़ किसकी बदौलत हो रहा है? उत्तर है कि यह सब कवि की शब्द-सजावट का ही खेल है। उसने पहले अपने मानस-पट पर कैसर का चित्र खींचा। फिर उसी को शब्द-रूपी रंग से रँगकर कर्ण-सुलभ कर दिया। कानों ने उसे श्रोता के मानस-पट तक पहुँचा दिया और वहाँ चित्र तैयार होकर काम देने लगा। कवि का कार्य इतना ही था। उसने अपना कार्य पूरा कर दिया। श्रव्य काव्य बन गया। इस श्रव्य काव्य को आप अक्षरों का स्वरूप देकर नेत्रों के भोग-योग्य भी बना सकते हैं।

संगीतकार इस श्रव्य काव्य का टीकाकार है। यह टीकाकार आज कल पुस्तकों पर टीका लिखनेवालों के समान नहीं है। यह श्रव्य काव्य की टीका भी शब्दों ही में करेगा। इन शब्दों को वह विचारों की सुबिधा के अनुसार ही सजावेगा। पर एक बात वह और करेगा। वह शब्द के प्राकृतिक गुण, स्वर का भी क्रम ठीक

करेगा और इस स्वर-क्रम से वह हमारी कर्णेंद्रिय को अपने क़ाबू में करके श्रव्य काव्य द्वारा मानस-पट पर खींचे जानेवाले चित्र को ऐसा प्रस्फुटित करेगा कि वह चित्र देखते ही बन आवेगा। वह हमारी 'हिये' की आँखों को मानस-पट पर खिंचे हुए चित्र के ऊपर इशारेमात्र से ही गड़ा देगा।

नेत्रेंद्रिय के सहारे से चित्रकार ने चित्र दिखलाकर अपना काम पूरा किया। कवि ने वही कार्य कर्णेंद्रिय का सहारा लेकर पूरा किया। संगीतकार ने उस पर और भी चोखा रंग चढ़ाया। कवि, चित्रकार और गायक महोदयों ने जब मिलकर कार्य किया, तो और भी सफलता हुई और जो कमी उनमें अलग-अलग रह जाती थी, वह भी जाती रही। अब कैसर का जीवित चित्र मौजूद है। वह बातें करता है, इशारे करता है और कैसर के सब कार्य करता है। किसी नाट्यशाला में जाकर यह सब देख लीजिए। यही दृश्य काव्य है। चित्र, संगीत एवं काव्य का संबंध कुछ इसी प्रकार का है। विषयांतर हो जाने के कारण इस पर अधिक नहीं लिखा जा सकता।

ऊपर के विवरण से प्रकट है कि काव्य के लिये शब्द बहुत ही आवश्यक हैं। शब्द नाना प्रकार के हैं और भिन्न-भिन्न देश के लोगों ने इन सबको भिन्न-भिन्न रीति से अपने किसी विचार, भाव, वस्तु या किसी क्रिया आदि का बोध कराने के लिये चुन रक्खा है।

झाँझ-मृदंग से भी शब्द ही निकलता है और मनुष्य-पशु आदि जो कुछ बोलते हैं, वह भी शब्द ही है। मनुष्यों के शब्दों में भी विभिन्नता है। सब देशों के मनुष्य एक ही प्रकार के शब्दों द्वारा अपने भाव-प्रकट नहीं करते। भाषा शब्दों से बनी है। अतएव संसार में भाषाएँ भी अनेक प्रकार की हैं और उनके बोलनेवाले केवल अपनी ही भाषा बिना सीखे समझ सकते हैं, दूसरों की

नहीं। प्रत्येक भाषा-भाषी मनुष्य अपने-अपने भाषा-भंडार के कुछ शब्दों को कर्कश तथा कुछ को मधुर समझते हैं।

'मधुर'-शब्द लाक्षणिक है। मधुरता-गुण की पहचान जिह्वा से होती है। शक्कर का एक कण जीभ पर पहुँचा नहीं कि उसने बतला दिया, यह मीठा है। पर शब्द तो चक्खा जा नहीं सकता। फिर उसकी मिठाई से क्या मतलब? यहाँ पर मधुरता-गुण का आरोप शब्द में करने के कारण 'सारोपा लक्षणा' है। कहने का मतलब यह कि जिस प्रकार कोई वस्तु जीभ को एक विशेष आनंद पहुँचाने के कारण मीठी कहलाती है, उसी प्रकार कोई ऐसा शब्द, जो कान में पड़ने पर आनंदप्रद होता है, 'मधुर शब्द' कहा जायगा।

शब्द-मधुरता का एकमात्र साक्षी कान है। कान के बिना शब्द-मधुरता का निर्णय हो ही नहीं सकता। अतएव कौन शब्द मधुर है और कौन नहीं, यह जानने के लिये हमें कानों की शरण लेनी चाहिए। ईश्वर का यह अपूर्व नियम है कि इस इंद्रिय-ज्ञान और विवेचन में उसने सब मनुष्यों में एकता स्थापित कर रक्खी है। अपवादों की बात जाने दीजिए, तो यह मानना पड़ेगा कि मीठी वस्तु संसार के सभी मनुष्यों को अच्छी लगती है। उसी प्रकार सुगंध-दुर्गंध आदि का हाल है। कानों से सुने जानेवाले शब्दों का भी यही हाल है। अफ़्रीक़ा के एक हबशी को जिस प्रकार शहद मीठा लगेगा, उसी प्रकार आयर्लैंड के एक आइरिश को भी। ठीक यही दशा शब्दों की है। कैसा ही क्यों न हो, बालक का तोतला बोल मनुष्यमात्र के कानों को भला लगता है। पुरुष की अपेक्षा स्त्री का स्वर विशेष रमणीय है। कोयल का शब्द क्यों अच्छा है और कौवे का क्यों बुरा, इसका कारण तो कान ही बतला सकते हैं। जंगल में जो वायु पोले बाँसों में भरकर अद्भुत शब्द उत्पन्न

करती है, उसी वायु से प्रकंपायमान वृक्ष भी हहर-हहर शब्द करते हैं। फिर क्या कारण है, जो बाँसोंवाला स्वर कानों को सुखद है और दूसरे स्वर में वह बात नहीं है? हमें प्रकृति में ऐसे ही नाना भाँति के शब्द मिला करते हैं। इन प्रकृतिवाले शब्दों में से जो हमें मीठे लगते हैं, उनसे ही मिलते-जुलते शब्द भाषा के भी मधुर शब्द जान पड़ते हैं। बालक के मुँह से कठिन, मिले हुए शब्द आसानी से नहीं निकलते और जिस प्रकार के शब्द उसके मुँह से निकलते हैं, वे बहुत ही प्यारे लगते हैं। इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि प्रायः मीलित वर्णोंवाले शब्द कान को पसंद नहीं आते। इसके विपरीत सानुस्वार, अमीलित वर्णोंवाले शब्दों से कर्णेंद्रिय की तृप्ति-सी हो जाया करती है।

जिस प्रकार बहुत-से शब्द मधुर हैं, उसी प्रकार कुछ शब्द कर्कश भी हैं। इनको सुनने से कानों को एक प्रकार का क्लेश-सा होता है। जिस भाषा में मधुर शब्द जितने ही अधिक होंगे, वह भाषा उतनी ही मधुर कही जायगी; इसके विपरीतवाली कर्कशा। परंतु सदा अपनी ही भाषा बोलते रहने से, अभ्यास के कारण, उस भाषा का कर्कश शब्द भी कभी-कभी वैसा नहीं जान पड़ता और उसके प्रति अनुराग और हठ भी कभी-कभी इस प्रकार के कर्कशत्व के प्रकट कहे जाने में बाधा डालता है। अतएव यदि भाषा की मधुरता या कर्कशता का निर्णय करना हो, तो वह भाषा किसी ऐसे व्यक्ति को सुनाई जानी चाहिए, जो उसे समझता न हो। वह पुरुष तुरंत ही उचित बात कह देगा, क्योंकि उसके कानों का पक्षपात से अभी तक बिलकुल लगाव नहीं होने पाया है।

मिष्टभाषी का लोक पर क्या प्रभाव पड़ता है, इस बात को भी यहाँ बता देना अनुचित न होगा। जब कोई हमीं में से मधुर स्वर में बात करता है, तो हमको अपार आनंद आता है। एक सुंदर

स्वरूपवती स्त्री मिष्ट भाषण द्वारा अपने प्रिय पति को और भी वश में कर लेती है। मधुर स्वर न होना उसके लिये एक त्रुटि है। एक गुणी अनजान आदमी को कर्कश स्वर में बोलते देखकर लोग पहले उसको उजड्ड समझने लगते हैं। ठीक इसके विपरीत एक निर्गुणी को भी मधुर स्वर में भाषण करते देखकर यकायक वे उसे तिरस्कृत नहीं करते। सभा-समाज में वक्ता अपने मधुर स्वर से श्रोताओं का मन कुछ समय के लिये अपनी मुट्ठी में कर लेता है और यदि वह वक्ता पं० मदनमोहनजी मालवीय के समान पंडित भी हुआ, तो फिर कहना ही क्या ? सोने में सुगंधवाली कहावत चरितार्थ होने लगती है।

घोर कलह के समय भी एक मधुरभाषी का वचन अग्नि पर पानी के छींटे का काम करता देखा गया है। निदान समाज पर मधुर भाषा का खूब प्रभाव है। लोगों ने तो इस प्रभाव को यहाँ तक माना है कि उसकी वशीकरण मंत्र से तुलना की है। कोई कवि इसी अभिप्राय को लेकर कहता है—

कागा कासो लेत है ? कोयल काको देत ?
मीठे बचन सुनाय के, जग बस में कर लेत।

यहाँ तक तो हमने मधुर शब्दों का भाषा एवं समाज पर प्रभाव दिखलाया। पर हमारा मुख्य विषय तो इन मधुर शब्दों का कविता पर प्रभाव है। भाषा, समाज, चित्र, संगीत और कविता का बड़ा घनिष्ठ संबंध है; इसलिये इनके संबंध की मोटी-मोटी बातें यहाँ बहुत थोड़े में कह दी गई। अब आगे हम इस बात पर विचार करते हैं कि भाव-प्रधान काव्य पर भी शब्दों का कुछ प्रभाव हो सकता है या नहीं। यदि हो सकता है, तो उसका प्रभाव तुलना से और विषयों की अपेक्षा कितने महत्त्व का है।

यह बात ऊपर दिखलाई जा चुकी है कि कविता के माध्यम शब्द हैं। ये शाब्दिक प्रतिनिधि कवि के विचारों को ज्यों-का-त्यों प्रकट करते हैं। लोक का नियम यह है कि प्रतिनिधि की योग्यता के अनुसार ही कार्य सहज हो जाता है। शब्दों की योग्यता में विचार प्रकट करने का सामर्थ्य है। यह काम करने के लिये शब्द-समूह वाक्य का रूप पाता है। विचार प्रकट कर सकना कविता-वाक्य का प्रधान गुण होना चाहिए। इस गुण के बिना काम नहीं चल सकता। इस गुण के सहायक और भी कई गुण हैं। उन्हीं के अंतर्गत शब्द-माधुर्य भी है। अतएव यह बात स्पष्ट है कि शब्द-माधुर्य विचार प्रकट कर सकनेवाले गुण की सहायता करता है। एक उदाहरण हमारे इस कथन को विशेष रूप से स्पष्ट कर देगा।

कहावत है, एक राजा के यहाँ एक कवि और एक व्याकरण के पंडित साथ-ही-साथ पहुँचे। विवाद इस बात पर होने लगा कि दोनों में से कौन सुंदरतापूर्वक बात कर सकता है। राजा के महल के सामने एक सूखा वृक्ष लगा था। उसी को लक्ष्य करके उस पर एक-एक वाक्य बनाने के लिये उन्होंने कवि एवं व्याकरण के पंडित को आज्ञा दी। पंडित ने कहा—'शुष्कं वृक्षं तिष्ठत्यग्रे' और कविजी के मुख से निकला—'नीरसतरुरिह विलसति पुरतः।' दोनों के शब्द-प्रतिनिधि वही काम कर रहे हैं। दोनों ही वाक्यों में अपेक्षित विचार प्रकट करने का सामर्थ्य भी है। फिर भी मिलान करने पर एक वाक्य दूसरे वाक्य से इस बात में अधिक हो जाता है कि उसे कान अधिक पसंद करते हैं। इस पसंदगी का कारण खोजने के लिये दूर जाने की आवश्यकता नहीं। दूसरे वाक्य की शब्द-मधुरता की सिफ़ारिश ही इस पसंदगी का कारण है। व्याकरण के पंडित का प्रत्येक शब्द मिला हुआ है। टवर्ग का प्रयोग एवं संधि करने से वाक्य में एक अद्भुत विकटता विराजमान है। इसके विपरीत

दूसरे वाक्य में एक भी मीलित शब्द नहीं है। टवर्ग-जैसे अक्षरों का भी अभाव है। दीर्घांत शब्दों के बचाने की भी चेष्टा की गई है। कानों को जो बात अप्रिय है, वह पहले में और जो बात प्रिय है, वह दूसरे में मौजूद है। इस गुणाधिक्य के कारण कवि की जीत अवश्यंभावी है। राजा ने भी अपने निर्णय में कवि ही को जिताया था। निदान शब्द-माधुर्य का यह गुण स्पष्ट है।

अब इस बात पर भी विचार करना चाहिए कि संसार की जिन भाषाओं में कविता होती है, उनमें भी यह गुण माना जाता है या नहीं। संस्कृत-साहित्य में कविता का अंग खूब भरपूर है। कविता समझानेवाले ग्रंथ भी बहुत हैं। कहना नहीं होगा कि इन ग्रंथों में सर्वत्र ही माधुर्य-गुण का आदर है। संस्कृत के कवि अकेले पदों के लालित्य से भी विश्रुत हो गए हैं। दंडी* कवि का नाम लेते ही लोग पहले उनके पद-लालित्य का स्मरण करते हैं। गीत-गोविंद के रचयिता जयदेवजी का भी यही हाल है। कालिदास की प्रसाद-पूर्ण मधुर भाषा का सर्वत्र ही आदर है। संस्कृत के समान ही फ़ारसी में भी शब्द-मधुरता पर ज़ोर दिया गया है।

अँगरेज़ी में भी Language of music का कविता पर ख़ासा प्रभाव माना गया है†। भारतीय देशी भाषाओं में से उर्दू में शीरीं कलाम कहनेवाले की सर्वत्र प्रशंसा है। बँगला में यह गुण

---

* उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम् ;
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः।

† The *ear indeed predominates over the eye*, because it is more immediately affected and because the *language of music* blends more immediately with, and forms a more natural accompaniment to, the variable and indefinite associations of ideas conveyed by words.

(Lectures on the English poets—Hazlitt)

विशेषता से पाया जाता है। मराठी के प्रसिद्ध लेखक, चिपलूणकर की सम्मति* भी हमारे इस कथन के पक्ष में है। महामति पोप † अपने "समालोचना"-शीर्षक निबंध में यही बात कहते हैं। ऐसी दशा में यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि सदा से सब भाषाओं में शब्द-मधुरता काव्य की सहायता करनेवाली मानी गई है। अतएव जिस भाषा में सहज माधुरी हो, वह कविता के लिये विशेष उपयुक्त होगी, यह बात भी निर्विवाद सिद्ध हो गई।

* इसके सिवा जो और रह गई अर्थात् पद-लालित्य, मृदुता, मधुरता... ...... इत्यादि, सो सब प्रकार से गौण ही हैं। ये सब काव्य की शोभा निस्संदेह बढ़ाती हैं, पर ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि काव्य की शोभा इन्हीं पर है।

(निबधमालादर्श, पृष्ठ ३१ और ३२)

उक्त गुणों को अप्रधान कहने में हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि काव्य के लिये उनकी आवश्यकता ही नहीं है।.........सत्काव्य से यदि उनका संयोग हो जाय, तो उसकी रमणीयता को वे कहीं बढ़ा देते हैं।.........सर्वसाधारण के मनोरंजनार्थ रत्न को जैसे कुंदन में खचित करना पड़ता है, वैसे ही काव्य को उक्त गुणों से अवश्य अलंकृत करना चाहिए।

(निबंधमालादर्श, पृष्ठ ३५)

†सब देसन में निज प्रभाव नित प्रकृति बगारत ;
विश्व-विजेतनि को शब्दहिं सों जय करि डारत।
शब्द-माधुरी-शक्ति प्रबल मन मानत सब नर ,
जैसो है भवभूति गयो, तैसो पदमाकर।
श्रीजयदेव अजौं स्वच्छंद ललित सों भावैं ,
औ क्रम बिनहूँ पाठक को मति-पाठ पढावैं।

(समालोचनादर्श, पृष्ठ १६ और १७)

किसी भाषा में कम या अधिक मधुरता तुलना से बतलाई जा सकती है। अपनी भाषा में वही शब्द साधारण होने पर भी दूसरी भाषा में और दृष्टि से देखा जा सकता है। अरबी के शब्द उर्दू में व्यवहृत होते हैं। अपनी भाषा में उनका प्रभाव चाहे जो हो, पर उर्दू में वे दूसरी ही दृष्टि से देखे जायँगे। भारतवर्ष के जानवरों की पंक्ति में आस्ट्रेलिया का कंगारू जीव कैसा लगेगा, यह तभी जान पड़ेगा, जब उनमें वह बिठला दिया जायगा। संस्कृत के शब्दों का संस्कृत में व्यवहृत होना वैसी कोई असाधारण बात नहीं है, पर भिन्न देशी भाषाओं में उनका प्रयोग और ही प्रकार से देखा जायगा। संस्कृत में मीलित वर्णों का प्रचुरता से प्रयोग किया जाता है। प्राकृत में यह बात बचाने की चेष्टा की गई है। प्राकृत संस्कृत की अपेक्षा कर्ण-मधुर है। यद्यपि पांडित्य-प्रभाव से संस्कृत में प्राकृत की अपेक्षा कविता विशेष हुई है पर प्राकृत की कोमलता * उस समय भी स्वीकृत थी, जिस समय संस्कृत में कविता होती थी। इसी प्रकार तुलना की भित्ति पर ही अँगरेज़ी की अपेक्षा इटैलियन-भाषा रसीली और मधुर है। इसी मधुरता को मानकर अँगरेज़ी के प्रसिद्ध कवि मिल्टन ने इटली में भ्रमण करके इसी माधुरी का आस्वादन किया था। इटैलियन-जैसी विदेशी भाषा की शब्द-माधुरी ने ही निज देश-भाषा के कट्टर पक्ष-पाती मिल्टन को उस भाषा में भी कविता करने पर बाध्य किया था।

इसी माधुरी का फ़ारसी में अनुभव करके उर्दू के अनेक कवियों ने फ़ारसी में भी कविता की है और करते हैं। उत्तरीय भारत

---

* परुसा सक्क अबन्धा पाउ अबन्धो विहोइ सुउमारो,
पुरुस महिलाणं जेन्ति अमिह अन्तरं तेत्तिय मिमाणम्।
(कर्पूर-मंजरी)

की देशी भाषाओं में भी दो-एक ऐसी हैं, जिनकी मधुरता लोगों को हठात् उसमें कविता करने को विवश करती है।

यहाँ तक जो बातें लिखी गई हैं, वे प्रायः प्रत्येक भाषा के शब्द-माधुर्य के विषय में कही जा सकती हैं। अब यहाँ हिंदी-कविता की भाषा में जो मधुरता है, उस पर भी विचार किया जायगा।

हिंदी-कविता का आरंभ जिस भाषा में हुआ, वह चंद की कविता पढ़ने से जान पड़ती है। पृथ्वीराज-रासो का अध्ययन हमें प्राकृत को हिंदी से अलग होते दिखलाता है। इसके बाद व्रजभाषा का प्रभाव बढ़ा। प्राकृत की सुकुमारता और मधुरता व्रजभाषा के बाँटे पड़ी थी, वरन् इसमें उसका विकास उससे भी बढ़कर हुआ। ऐसी भाषा कविता के सर्वथा उपयुक्त होती है, यह ऊपर प्रतिपादित हो चुका है। निदान हिंदी-कविता का वैभव व्रजभाषा द्वारा बढ़ता ही गया। समय और आश्रयदाताओं का प्रभाव भी इस व्रजभाषा-कविता का कारण माना जा सकता है। पर सबसे बड़ा आकर्षण भाषा की मधुरता का था और है।

"साँकरी गली में माय काँकरी गड़तु हैं"-वाली कथा भले ही झूठी हो, पर यह बात प्रत्यक्ष ही है कि फ़ारसी के कवियों तक ने व्रजभाषा को सराहा और उसमें कविता करने में अपना अहोभाग्य माना। व्रजभाषा में मुसलमानों के कविता करने का क्या कारण था? अवश्य ही भाषा-माधुर्य ने उन्हें भी व्रजभाषा अपनाने पर विवश किया। सौ से ऊपर मुसलमान-कवियों ने इस भाषा में कविता की है। संस्कृत के भी बड़-बड़े पंडितों ने संस्कृत तक का आश्रय छोड़ा और हिंदी में, इसी गुण की बदौलत, कविता की। उधर बड़े-बड़े योरपवासियों ने भी इसी कारण व्रजभाषा को माना। उर्दू और व्रजभाषा में से किसमें अधिक मधुरता है, इसका निर्णय भली भाँति हो चुका है। नर्तकी के मुँह से बीसों उर्दू में कही हुई

चीज़ें सुनकर भी व्रजभाषा में कही हुई चीज़ को सुनने के लिये ख़ास उर्दू-प्रेमी कितना आग्रह करते हैं, यह बात किसी से छिपी नहीं। शृंगार-लोलुप श्रोता व्रजभाषा की कविता इस कारण नहीं सुनते हैं कि वह अश्लील होने के कारण उनको आनंद देगी, बरन् इस कारण कि उसमें एक सहज मिठास है, जिसको वे उर्दू की, शृंगार से सराबोर, कविता में ढूँढ़ने पर भी नहीं पाते।

एक उर्दू-कविता-प्रेमी महाशय से एक दिन हमसे बातचीत हो रही थी। ये महाशय हिंदी बिलकुल नहीं जानते हैं। जाति के ये भाटिए हैं। इनका मकान ख़ास दिल्ली में है, पर मथुरा में भाटियों का निवास होने से ये वहाँ भी जाया करते है। बातों-ही-बातों में हमने इनसे व्रज की बोली के विषय में पूछा। इसका जो कुछ उत्तर इन्होंने दिया, वह हम ज्यों-का-त्यों यहाँ दिए देते हैं—

"बिरज की बोली का मैं आपसे क्या हाल बतलाऊँ? उसमें तो मुझे एक ऐसा रस मिलता है, जैसा और किसी भी ज़बान में मिलना मुशकिल है। मथुरा में तो ख़ैर वह बात नहीं है; पर हाँ, दिहात में नंदगाँव, बरसाने वग़ैरह को जब हम लोग परकम्मा (परिक्रमा) में जाते हैं, तो वहाँ की लड़कियों की घंटों गुफ़्तगू ही सुना करते हैं। निहायत ही मीठी ज़बान है।"

भारत में सर्वत्र व्रजभाषा में कविता हुई है। महाकवि जयदेवजी की प्रांजल भाषा का अनुकरण करनेवाले बंगाली भाइयों की भाषा भी खूब मधुर है। यद्यपि किसी-किसी लेखक ने बेहद संस्कृत-शब्द ठूँस-ठूँसकर उसको कर्कश बना रक्खा है, तो भी व्रजभाषा को छोड़कर उत्तरीय भारत की और कोई भाषा मधुरता में बँगला का सामना नहीं कर सकती।

मातृभाषा के जैसे प्रेमी इस समय बंगाली हैं, वैसे भारत के अन्य कोई भी भाषाभाषी नहीं हैं। पर इन बंगालियों को भी व्रज-भाषा की मधुरता माननी पड़ी है। एक बार एक बंगाली बाबू—

जिन्होंने व्रजभाषा की कविता कभी नहीं सुनी थी, हाँ खड़ी बोली की कविता से कुछ-कुछ परिचित थे व्रजभाषा की कविता सुनकर चकित हो गए। उन्होंने हठात् यही कहा—"भला ऐसी भाषा में आप लोगों ने कविता करना बंद क्यों कर दिया? यह भाषा तो बड़ी ही मधुर है। आज कल समाचार-पत्रों में हम जिस भाषा में कविता देखते हैं, वह तो ऐसी नहीं है।" बंगालियों के व्रजभाषा-माधुर्य के क़ायल होने का सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि बँगला-साहित्य के मुकुट श्रीमान् रवींद्रनाथ ठाकुर महोदय ने इस बीसवीं शताब्दी तक में व्रजभाषा में कविता करना अनुचित नहीं समझा। उन्होंने अनेक पद शुद्ध व्रजभाषा में कहे हैं।

कुछ महानुभावों का कहना है कि व्रजभाषा और खड़ी बोली की नीव साथ-ही-साथ पड़ी थी और शुरू में भी खड़ी बोली जन-साधारण की भाषा थी। इस बात को इसी तरह मान लेने से दो मतलब की बातें सिद्ध हो जाती हैं—एक तो यह कि व्रजभाषा बोलचाल की भाषा होने के कारण कविता की भाषा नहीं बनाई गई, वरन् अपने माधुर्य-गुण के कारण; दूसरे खड़ी बोली का प्रचार कविता में, बोलचाल की भाषा होने पर भी, न हो सका। दूसरी बात बहुत ही आश्चर्यजनक है। भाषा के स्वाभाविक नियमों की दुहाई देनेवाले इसका कोई यथार्थ कारण नहीं समझा पाते हैं। पर हम तो डरते-डरते यही कहेंगे कि यह व्रजभाषा की प्रकृत माधुरी का ही प्रभाव था कि वही कविता के योग्य समझी गई। आज कल व्रजभाषा में कविता होते न देखकर डॉक्टर ग्रियर्सन हिंदी में कविता का होना ही स्वीकार नहीं करते। पं० सुधाकर द्विवेदी संस्कृत के प्रकांड पंडित होते हुए भी व्रजभाषा-कविता में संस्कृत-कविता से अधिक आनंद पाते थे। खड़ी बोली के आचार्य, पं० श्रीधर पाठक भी व्रजभाषा की माधुरी मानते हैं—

"व्रजभाषा-सरीखी रसीली वाणी को कविता-क्षेत्र से बहिष्कृत करने का विचार केवल उन हृदय-हीन अरसिकों के ऊषर हृदय में उठना संभव है, जो उस भाषा के स्वरूप-ज्ञान से शून्य और उसकी सुधा के आस्वादन से बिलकुल वंचित हैं।........ क्या उसकी प्रकृत माधुरी और सहज मनोहरता नष्ट हो गई है?"

यहाँ तक तो यह प्रतिपादित हो चुका कि शब्दों में भी मधुरता है, इस मधुरता के साक्षी कान है, जिस भाषा में अधिक मधुर शब्द हों उसे मधुर भाषा कहना चाहिए, कविता के लिये मधुर शब्द आवश्यक हैं एवं व्रजभाषा बहु-सम्मति से मधुर भाषा है और माधुरी के वश उसने "सत्पद्य-पीयूष के अक्षय स्रोत प्रवाहित किए हैं।" अब इस संबंध में हमें एक बात और कहनी है। कविता के लिये तन्मयता की बड़ी ज़रूरत है। प्रिय वस्तु के द्वारा अभीष्ट-साधन आसानी से होता है। मधुर शब्दावली सभी को प्रिय लगती है। इसलिये यह बात उचित ही जान पड़ती है कि मधुर वाक्यावली में बद्ध कवि-विचार अंगूर के समान सब प्रकार से अच्छे लगेंगे। अच्छे वस्त्रों में कुरूप भी अनेकानेक दोष छिपा लेता है, पर सुंदर की सुंदरता तो और भी बढ़ जाती है। इसी प्रकार अच्छे भाव किसी भाषा में हों, अच्छे लगेंगे; पर यदि वे मधुर भाषा में हों, तो और भी हृदय-ग्राही हो जायँगे। भाव की उत्कृष्टता जहाँ होती है, वहीं पर सत्काव्य होता है और भाषा की मधुरता इस भावोत्कृष्टता पर पालिश का काम देती है।

भाषा की चमचमाहट भाव को तुरंत हृदयंगम कराती है। व्रजभाषा की सरस, मधुर वर्णावली में यही गुण है। यहाँ पर इन्हीं गुणों का उल्लेख किया गया है। जो लोग इन सब बातों को जानते हुए भी भाषा के माधुर्य-गुण को नहीं मानते, उनको हमें दासजी का केवल यह छंद सुना देना है—

आक औ कनक-पात तुम जो चबात हौ,
तौ षटरस व्यंजन न केहूँ भाँति लटिगो।
भूषन, बसन कीन्हो व्याल, गज-खाल को, तौ
सुबरन साल को न पैन्हिबो उलटिगो।
दास के दयाल हौ, सुरीति ही उचित तुम्हैं;
लीन्ही जो कुरीति, तो तिहारो ठाट ठटिगो।
ह्वैकै जगदीश कीन्हो वाहन वृषभ को, तौ
कहा शिव साहब गयंदन को घटिगो?

अंत में हम ब्रजभाषा-कविता की मधुरता का निर्णय,सहृदय के हृदय पर छोड़ इसकी प्रकृत माधुरी के कुछ उदाहरण नीचे देते हैं—

पाँयनि-नूपुर मंजु बजै, कटि-किंकिनि मैं धुनि की मधुराई;
साँवरे अंग लसै पट पीत, हिये हुलसै बनमाल सुहाई;
माथे किरीट, बड़े दृग चचल, मद हँसी, मुसचद जुन्हाई;
जै जग-मंदिर-दीपक सुंदर, श्रीब्रज-दूलह, देव सहाई।

देव

ब्रज-नवतरुनि-कदंब-मुकुटमनि श्यामा आजु बनी,
तरल तिलक, ताटंक गंड पर, नासा जलज-मनी।
यों राजत कवरी-गूँथित कच, कनक-कंज-बदनी,
चिकुर-चंद्रकानि-बीच अरध बिधु मानहुँ ग्रसत फनी।

हित हरिवंश

भाषा की इस मधुरता से यदि पाठक द्रवीभूत न हों, तो इसे कवि का दुर्भाग्य ही समझना चाहिए। कैसे छोटे-छोटे कोमल शब्दों की योजना है? क्या मजाल कि कोई अक्षर भी व्यर्थ रक्खा गया हो? मीलित शब्द कितने कम हैं? सानुस्वार शब्द-माधुर्य को कैसा बढ़ा रहे हैं? संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों का अभाव कानों का कैसा उपकार कर रहा है? खड़ी बोली की कविता के पक्षपातियों

को इस बात की शिकायत रहती है कि उनकी कविता में संस्कृत-शब्द व्यवहृत होते ही वे कर्कश कहे जाने लगते हैं, हालाँकि जब तक ख़ास संस्कृत-भाषा में ही उनका व्यवहार होता है, तब तक उनमें कर्कशत्व आरोपित नहीं किया जाता। इसका निरूपण ऊपर कर दिया गया है। ब्रजभाषा संस्कृत से मधुर है। उसमें आते ही तुलना-वश ब्रजभाषावाले उनको कर्कश ज़रूर कहेंगे। महाकवि केशवदास ने संस्कृत के शब्द बहुत व्यवहृत किए थे। उसमें जो शब्द मीलित थे और तुलना से कानों को नागवार मालूम होते थे, वे ब्रजभाषा के कवियों द्वारा श्रुति-कटु माने गए हैं। महाकवि श्रीपतिजी ने अपने 'काव्य-सरोज' ग्रंथ में खुले शब्दों में केशवदास की भाषा में श्रुति-कटु दोष बतलाया है। उनकी कविता प्रेत-काव्य के नाम से प्रसिद्ध है, यह सब लोग जानते हैं। ऐसी दशा में खड़ी बोलीवालों को यह नहीं समझना चाहिए कि कोई उसमें ईर्षा-वश कर्कशत्व का दोष आरोपित करता है। जब हमारे समालोचकों ने केशवदास तक की रिआयत नहीं की, तो खड़ी बोलीवालों को ही शिकायत क्यों है? आशा है, खड़ी बोलीवाले उपयोगी ब्रजभाषा-माधुर्य का सन्निवेश करेंगे।

हमें सब प्रकार हिंदी की उन्नति करनी है। उपयोगी विषयों से हिंदी का भंडार भरना है। कविता में भी अभी उन्नति की ज़रूरत है। हिंदी-कविता आज कल खड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनों में ही होती है। कविता का मुख्य गुण भाव है और सहायक गुण शब्द-सौंदर्य। इस शब्द-सौंदर्य के अंतर्गत ही शब्द-माधुर्य है। हमें चाहिए कि सहायक गुण की सहायता से भाव-पूर्ण कविता करें।

ब्रजभाषा में यह गुण सहज सुलभ है। अतएव उसमें कविता करनेवालों को भावोत्कृष्टता की ओर झुकना चाहिए। खड़ी

बोली में सचमुच ही शब्द-माधुर्य की कमी है। सो उक्त भाषा में कविता करनेवालों को अपनी कविता में यह शब्द-माधुरी लानी चाहिए।

शब्द-मधुरता हिंदी-कविता की बपौती है। इसके तिरस्कार से कोई लाभ नहीं होना है। कविता-प्रेमियों को अपने इस सहज-प्राप्त गुण को लातों मारकर दूर न कर देना चाहिए। इससे कविता का कोई विशेष कल्याण नहीं होगा। माधुर्य और कविता का कुछ संबंध नहीं है, यह समझना भारी भूल है। मधुरता कविता की प्रधान सहायिका होने के कारण सर्वदैव आदरणीया है। ईश्वर करे, हमारे पूर्व कवियों की यह थाती आज कल के सुयोग्य भाषाभि-मानी कवियों द्वारा भली भाँति रक्षित रहे।

निदान संजीवन-भाष्य में व्रजभाषा-मधुरता के विषय में जो कुछ लिखा है, वह महत्त्व-पूर्ण है। ऐसी समालोचना-पुस्तकों से प्राचीन व्रजभाषा-काव्य का महान् उपकार हो सकता है। साहित्य की उचित उन्नति के लिये समालोचकों की बड़ी आवश्यकता है। अँगरेज़ी-भाषा के प्रसिद्ध समालोचक हैज़लिट ने अँगरेज़ी-कविता के समालोचकों के विषय में एक गवेषणा-पूर्ण निबंध लिखा है। उक्त निबंध की बहुत-सी बातें हिंदी-भाषा की वर्तमान समालोचना-प्रणाली के विषय में भी ज्यों-की-त्यों कही जा सकती हैं। अतएव उस निबंध के आधार पर हम यहाँ समालोचना के बारे में भी कुछ लिखना उचित समझते हैं।

समालोचना

निष्पक्षपात-भाव से किसी वस्तु के गुण-दूषणों की विवेचना करना समालोचना है। इस प्रथा के अवलंबन से उत्तम विचारों की पुष्टि तथा वृद्धि होती रहती है।

भारतवर्ष में समालोचना की प्रथा बहुत प्राचीन काल से चली आती है, यहाँ तक कि ("शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि") यह नीति-वाक्य भारतवासियों को साधारण-सा जँचता है। संस्कृत-पुस्तकों की अनेकानेक टीकाएं ऐसी हैं, जिन्हें यदि उन पुस्तकों की समालोचनाएँ कहें, तो कुछ अनुचित नहीं है। आज कल महाकवियों के काव्यों में छिद्रान्वेषण-संबंधी जो लेख निकलते हैं, वे प्रायः इन्हीं टीकाकारों के 'निरंकुशाः कवयः,' 'कवि-प्रमाद' आदि के आधार पर हैं। जिस समय भारतवर्ष में छापे का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था और न आज कल के ऐसे समाचार-पत्रों ही का प्रचार था, उस समय किसी पुस्तक का प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेना बहुत कठिन कार्य था। निदान यदि एक प्रांत में एक पुस्तक का प्रचार होता था, तो दूसरे में दूसरी का। ग्रंथ विशेष का पूर्णतया प्रचार हो, उसमें लोगों की श्रद्धा-भक्ति बढ़े, इस अभिप्राय से उस समय प्रचलित नाना ग्रंथों के माहात्म्य बन गए। रामायण-माहात्म्य, भागवत-माहात्म्य आदि पुस्तकों को पढ़कर भला रामायण और भागवत पढ़ने की किसे इच्छा न होती होगी? ऐसी अवस्था में यदि इन्हें हम प्रशंसात्मक समालोचनाएँ मानें, तो कुछ अनुचित नहीं जान पड़ता। संभव है, इसी प्रकार निंदा-विषयक भी अनेकानेक पुस्तकें बनी हों और जिन ग्रंथों का प्रचार रोकने का उनका आशय रहा हो, उनके नष्ट हो जाने पर वे, विशेष उपयोगी न रहने के कारण, प्रचलित न रही हों। जो हो, हमारे पूर्वजों के ग्रंथों में उनकी सत्यवादिता स्पष्ट झलकती है—ऐसा जान पड़ता है कि वे लोग समालोचना-संबंधी लाभों से भली भाँति परिचित थे। श्रीपतिजी ने केशव जैसे महाकवि के काव्य में निर्भीक होकर दोष दिखलाने में केवल अपना पांडित्य ही प्रदर्शित नहीं किया, वरन् अंधपरंपरानुसरण करनेवाले अनेक लोगों को वैसी ही

भूलों में पड़ने से बचा लिया; एतदर्थ हमें उनका कृतज्ञ होना चाहिए।

आज कल जिस प्रकार की समालोचना प्रचलित है, वह अँगरेज़ी चाल के आधार पर है। जैसी जिस समय लोगों की रुचि होती है, वैसी ही उस समय समालोचनाएँ भी निकला करती हैं; इस कारण समालोचना भी भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। आज कल संपादक लोग किसी पुस्तक के अनुकूल या प्रतिकूल अपनी सम्मति प्रकाश कर देने ही से अपने को उत्तम समालोचक समझने लगते हैं, मानो निज अनुमति-अनुमोदनार्थ कतिपय पंक्तियों का उद्धृत करना, उसी के आधार पर कुछ कारणों की सृष्टि कर देना तथा अपने माने हुए गुण-दूषणों की पूर्ण तालिका दे देना ही समालोचना है। जो समालोचक क्लिष्ट कल्पनाओं की सहायता से किसी स्पष्टार्थ वाक्य के अनेकार्थ कर दे, उसकी वाहवाही होने लगती है—लोग उसे सम्मान की दृष्टि से देखने लगते हैं।

आज कल के समालोचकों के कारण ग्रंथकर्ता की यथार्थ योग्यता का प्रायः प्रस्फुटन नहीं होने पाता—जो समालोचनाएँ निकलती हैं, उनमें ग्रंथकर्ता का अधिकतर अनादर ही देख पड़ता है। समालोचक अपना आधिपत्य तथा समालोच्य विषय में अपनी योग्यता को पहले ही से अत्युच्च आसन दे देता है, यहाँ तक कि फिर समालोच्य विषय का नामोल्लेखमात्र ही होता है। हाँ, समालोचक के सार्वदेशिक ज्ञान का पूर्णोल्लेख अवश्य हो जाता है। समालोचना-भर में समालोचक ही की प्रतिभा का विकास दिखलाई पड़ता है, ग्रंथ का नाम तो विवशता-वश कहीं पर आ जाता है। बहुत-सी समालोचनाएँ ऐसी भी निकलती हैं, जिनमें टाइटिल पेज का उल्लेख करके फिर पुस्तक के विषय

तक का पता नहीं रहता । इन समालोचनाओं में ऐसी बातें भी व्यर्थ ही लिख दी जाती हैं, जिनका कहीं पुस्तक में वर्णन तक नहीं होता । इस प्रकार के कार्यों से समालोचक ग़रीब ग्रंथकर्ताओं को निरुत्साहित करते रहते हैं ।

हिंदी में आज दिन दर्जनों पत्र निकलते हैं और प्रायः सभी में समालोचनाएँ भी प्रकाशित होती रहती हैं । परंतु किसी-किसी में तो ऐसी विवेचना की जाती है, मानो ब्रह्म-ज्ञान की समीक्षा हो । इनमें क्रम से ऐसी निंदा का उद्गार बहिर्गत होता है, मानो समालोचक कला-विज्ञान-संबंधी सभी विषयों से परिचित हों । ऐसी पांडित्य-पूर्ण समालोचना को पढ़कर जब चित्त में दोषों पर दृढ़ विश्वास हो जाता है, तब समालोचक-कथित दोषों के अतिरिक्त गुणों का कहीं आभास भी नहीं मिलता, जैसे नाट्य-शाला में एक उत्तम नट के कार्य संपादित कर चुकने पर एक साधारण नट की चातुरी से चित्त पर बहुत कम प्रभाव पड़ता है । परंतु इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार की समालोचनाओं की भी थोड़ी-बहुत आवश्यकता अवश्य है । कारण, अब पुस्तकें इतनी अधिकता से प्रकाशित होती हैं कि सब प्रकार के मनुष्यों द्वारा उन सबका पढ़ा जाना असंभव है और इसलिये कुछ ऐसे लोगों की आवश्यकता है, जो पुस्तक-रसास्वादन करके जन-समुदाय को भिन्न-भिन्न रसों का परिचय दे दिया करें । परंतु इनमें पूर्ण विवेक-बुद्धि होनी चाहिए । समालोचक की यही एक ज़िम्मेदारी ऐसी कठिन है कि इसका सदा पालन होना कठिन हो जाता है ।

आज कल लेखक और कवि तो बहुत हैं, परंतु उनमें सुलेखकों और सुकवियों की संख्या बहुत ही न्यून है । अतः सुयोग्य समालोचक की सहायता बिना उत्तम ग्रंथकारों को छाँट लेना दुःसाध्य है । अनुभवी समालोचक तो इन कुलेखकों की योग्यता और रसिकता

का पाठकों को बड़ी युक्ति से परिचय दे देते हैं, परंतु अनुभव-शून्य समालोचक इन बेचारों को गालियों से संतुष्ट करते हैं। इसी कारण आज कल ग्रंथकर्ता समालोचकों में कुछ भी श्रद्धा नहीं रखते। समालोचक कभी-कभी पुस्तक विशेष की प्रशंसा कर तो देते हैं, परंतु इसको वे बड़े पुण्य-कार्य से कदापि न्यून नहीं समझते। यदि बीच में कहीं निंदा करने का मौक़ा मिल गया, तो फिर कहना ही क्या? उनका सारा मसख़रापन और क्रोध इन्हीं बेचारे लेखकों पर शांत होता है। समालोचना करने के बहाने ये लोग निज प्रिय वस्तु का गुण-गान करने से नहीं चूकते। इस प्रकार स्वविचार प्रकट करने में निंदा का भय बहुत कम रहता है।

समालोचक जिस ग्रंथकर्ता के पक्ष में समालोचना करता है, उसका वह मानो महान् उपकार करता है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि हम पहले ही लिख आए हैं, वह उसको अपने से कम परिष्कृत विचारों का तो समझता ही है। इन समालोचनाओं में समालोचक की गुण-गरिमा स्पष्ट झलकती है—ऐसा जान पड़ता है, मानो सारे मसख़रापन, ज्ञान तथा विद्या का पट्टा इन्हीं समालोचकजी के नाम लिखा हो। इस प्रकार की समालोचना का प्रभाव साधारण जन-समुदाय पर विशेष रूप से पड़ता है, क्योंकि उन्हें इस विषय के समझने का बिलकुल मौक़ा नहीं मिलता कि स्वयं समालोचक समालोच्य विषय को समझने में समर्थ हुआ है या नहीं। और, यदि समालोचक सीधे-सीधे शब्दों में अपनी कठिनाइयों तथा ग्रंथकर्ता के भावों ही का समर्थन करने लगे, तो साधारण जन उसमें मूर्खता और बनावट का संदेह करने लगते हैं। निडर स्पष्ट शब्दों ही में किसी विषय की समालोचना होने से वाद-विवाद का डर नहीं रहता। अतः आत्मरक्षा के विचार से भी समालोचक को तीव्र, मर्म-भेदी, कठोर, गर्व-युक्त शब्दों की आवश्यकता पड़ती है।

यदि समालोचक अपने विचार प्रकट करने में कुछ डरता-सा दीख पड़ता है, तो साधारण जन-समुदाय भी बिना विवाद किए उस पर विश्वास करना पसंद नहीं करता। समालोचना को लोग आज कल बहुधा इसीलिये पढ़ते हैं कि वाद-विवाद-संबंधी कोई नई बात जानें। इस कारण समालोचना में ऐसी बात, जिसमें स्पष्ट रूप से अनुमति नहीं दी गई है, पसंद नहीं की जा सकती। आश्चर्यप्रद, चित्त फड़का देनेवाली बातों ही से चित्त पर विशेष प्रभाव पड़ता है—इन्हीं में बड़ा मज़ा आता है और इसी कारण समालोचना में ऐसी ही बातों का आधिक्य दिखलाई पड़ता है।

समालोचना की उन्नति विशेष करके इसी शताब्दी में हुई है। प्रत्येक वस्तु का आरंभ में क्रम से विकास होता है। तदनुसार हमारी समालोचनाओं में भी अभी अभीष्ट उन्नति नहीं हुई है। आज कल की कुछ समालोचनाओं में तो पुस्तक का संक्षेप में उल्लेखमात्र कर दिया जाता है—"ग्रंथ बहुत विद्वत्ता या गवेषणापूर्वक लिखा गया है", "यह पुस्तक शिक्षाप्रद है, इसमें इन-इन विषयों का वर्णन है" आदि। इसके अतिरिक्त कुछ वाक्य भी उद्धृत कर दिए जाते हैं।

परंतु अब सरसरी तौर से अनुकूल या विरुद्ध सम्मति दे देने से काम न चलेगा—अब हमको केवल इस बात ही के जानने की आवश्यकता नहीं है कि यह ग्रंथ उत्तम है या विद्वत्ता-पूर्ण। हमें तो अब उस ग्रंथ के विषय का पूर्ण विवरण चाहिए। इन सब बातों का सम्यक् उल्लेख होना चाहिए कि किन कारणों से वह ग्रंथ उत्तम कहा गया। ग्रंथकर्ता को लेखकों या कवियों में कौन-सा स्थान मिलना चाहिए। उस विषय के जो अन्य लेखक हों, उनके साथ मिलान करके दिखलाना चाहिए कि उनसे यह किस बात में उच्च या न्यून है और और ग्रंथों की अपेक्षा इस प्रकार के ग्रंथों का विशेष आदर होना चाहिए या नहीं। यदि होना चाहिए, तो किन

कारणों से ? लोगों की रुचि, हृदय-ग्राहकता, पात्रों के चरित्रादि कैसे दिखलाए गए हैं ? आज कल दार्शनिक रीति की जितनी समालोचनाएँ प्रकाशित होती हैं, उन सबमें विवाद को बहुत स्थान मिल सकता है। पहले इतने कम ग्रंथ प्रकाशित होते थे कि उन सबका पढ़ा जाना बहुत संभव था और ग्रंथ का नाम और मिलने का पता जान लेने पर लोग उसे पढ़ डालते थे। अतएव उस समय सूक्ष्म समालोचनाओं ही की आवश्यकता थी। परंतु आज कल के लोगों को पुस्तकें चुन-चुनकर पढ़नी हैं। इस कारण अब दूसरे ही प्रकार की समालोचनाओं की आवश्यकता है।

हमारी समझ में किसी ग्रंथ की समालोचना करते समय तद्गत विषय का प्रत्येक ओर से निरीक्षण होना चाहिए। ग्रंथ का गौण विषय क्या है तथा प्रयोजनीय क्या है, वास्तविक वर्णन क्या है तथा भराव क्या है, आदि बातों का जिस समालोचना में विचार किया जाता है, उससे पुस्तक का हाल वैसे ही विदित हो जाता है, जैसे किसी मकान के मानचित्रादि से उस गृह का विवरण ज्ञात हो जाता है। अब तक जो समालोचनाएँ अच्छी मानी गई हैं, उनमें कथानकमात्र का उल्लेख कर दिया गया है। काल-भंग, दुष्क्रम आदि दूषणों के निरूपण में, पात्रों के शील-संबंधादि के विषय में या वर्णन-शैली की नीरसता पर कुछ टिप्पणी कर दी गई है। इस प्रकार की समालोचनाओं से पुस्तक के मुख्य भाव, रस-निरूपण, कवि-कौशल, वर्णन-शैली तथा लेखक की मनोवृत्तियों के विषय में कुछ भी विदित नहीं होता। गज़ट या वंशावली से जो हाल मिलता है, वही ऐसी समालोचनाओं से। ग्रंथ की ओजस्विनी भाषा हृदय की कली-कली को किस भाँति खिला देती है, करुणोत्पादक वर्णन दुःख-सागर में कैसे मग्न कर देते हैं, लेख-शैली से लेखक की योग्यता के संबंध में कैसे विचार उत्पन्न होते हैं आदि बातों का

आभास इनमें कुछ भी नहीं मिलता। ग्रंथ में काव्य के सूक्ष्माति-सूक्ष्म नियमों का उल्लंघन कहाँ-कहाँ हुआ है, इसके दिखलाने में समालोचक यथासाध्य प्रयत्न करता है; परंतु वह भिन्न-भिन्न लोगों की रुचि के अनुसार है या नहीं, इसका समालोचना में कहीं कुछ पता नहीं लगता। सारांश यह कि ऐसी समालोचनाओं द्वारा ग्रंथ के विषय में सब हाल जानते हुए भी यदि यह कहें कि कुछ नहीं जानते, तो अत्युक्ति न होगी।

ग्रंथ लिखने से ग्रंथकर्ता का क्या अभिप्राय है, यह लिखने का समालोचक बहुत कम कष्ट स्वीकार करता है। कुछ समालोचनाओं की भाषा ऐसी निर्जीव-सी होती है कि उनमें अनेकानेक गुणों का उल्लेख होते हुए भी समालोच्य पुस्तकें पढ़ने की इच्छा ही नहीं होती और कुछ समालोचनाएँ ऐसे ज़ोरदार शब्दों में होती हैं कि पुस्तक मँगाकर पढ़े बिना कल ही नहीं पड़ती। कुछ समालोचक ऐसे होते हैं, जिन्हें दोषों के अतिरिक्त और कुछ नहीं देख पड़ता। इसके विपरीत कुछ ऐसे भी हैं, जो गुण-गानमात्र ही किया करते हैं। गुण-गायक समालोचकों की समालोचनाएँ वैसी ही हैं, जैसे नदी का बहता हुआ जल। चाहे जो वस्तु गिर पड़े, नदी सब कुछ बहा ले जाती है; ऐसे ही चाहे जैसा ग्रंथ हो, वह उनकी दृष्टि में प्रशंसनीय बन जाता है। दोषदर्शक समालोचकों के कारण हमारी किसी भी ग्रंथ पर श्रद्धा नहीं होने पाती। पुस्तक की अनुचित प्रशंसा प्रायः मित्र-भाव के कारण होती है और निंदा दलबंदी के अनुसार। प्रत्येक भिन्न दलवाला अपने प्रतिद्वंद्वी दल की लिखी हुई पुस्तकों की इतनी निंदा करता है, मानो उनके कर्ता पूर्णतया मूर्ख ही हों। ग्रंथ की अशुद्धियाँ बढ़ाकर लिखने की कौन कहे, कभी तो अनुमान से ऐसी-ऐसी विचित्र बातें गढ़ ली जाती हैं, जिनका कहीं सिर-पैर ही नहीं होता।

कभी-कभी समालोचक किसी कारण विशेष से विवश होकर

किसी प्रसिद्ध लेखक या कवि को आदर्श-स्वरूप मान लेता है और अपने उसी आदर्श से समालोचना करता है। ऐसी दशा में यदि आदर्श कवि या लेखक के विपरीत कुछ भी भाव हुए, तो नवीन लेखक के ऊपर उसे क्रोध आ जाता है और फिर लेखक की वास्तविक योग्यता का विचार होने से रह जाता है। भूषण को वीर-रस के तथा बिहारी या देव को शृंगार-रस के वर्णन में आदर्श-स्वरूप मानकर समालोचना होते समय किसी नवीन लेखक को न्याय की कभी आशा नहीं रखनी चाहिए। इसी प्रकार प्राचीन काल के प्रसिद्ध कवियों में से किसी के कवि-कौशल विशेष का लक्ष्य करके समालोचना करने से वास्तविक निर्णय नहीं हो सकता। जैसे इतिहास-संबंधी सच्ची घटनाओं के वर्णन, जातीय जागृति कराने के उद्योग, वीर रस-संचार करने की शक्ति आदि बातों का लक्ष्य रखने से समालोचक को भूषण, चंद आदि के आगे और सब फीके देख पड़ेंगे, वैसे ही धार्मिक विचारों की प्रौढ़ता, निष्कपट भक्ति-मार्ग-प्रदर्शन, अपूर्व शांति-सागर के हिलोरों आदि का लक्ष्य रखने से तुलसी, सूर आदि ही, उसकी राय में, सर्वोच्च पदों पर जा विराजेंगे। पुनः यौवनोचितोपभोगादिक, मूर्ति-चित्रण-चातुरी, निष्कपट तथा शुद्ध प्रेमोद्घाटन, शृंगार-रसाप्लावित काव्य का लक्ष्य रखने से केशव, देव आदि ही बड़े-बड़े आसनों को सुशोभित करने में समर्थ होंगे। भिन्न-भिन्न रस-निरूपण करने में एक-दूसरा किसी से कम नहीं है। यदि तुलसी और सूर शांत में अग्रगण्य हैं, तो देव और बिहारी शृंगार-शिरोमणि हैं; वैसे ही वीरोचित प्रबंधोपकथन में भूषण और चंद ही प्रधान हैं। शांत में आनंद पानेवाला तुलसी को, शृंगार-वाला देव को और वीरवाला भूषण को श्रेष्ठ मानेगा। इस प्रकार भिन्न-भिन्न रुचि के अनुकूल भिन्न-भिन्न कवि श्रेष्ठ हैं। इसका निर्णय करना कि इनमें क्रमानुसार कौन श्रेष्ठ है, बहुत ही कठिन है। ऐसे

अवसर पर विद्वानों में मत-भेद हुआ ही करता है और ऐकमत्य स्थापित होना एक प्रकार से असंभव ही हो जाता है।

भाषा का विचार भी समालोचना पर बहुत प्रभाव डालता है। बहुत लोगों को सरल भाषा पसंद आती है और बहुतों को क्लिष्ट ही में आनंद मिलता है। समालोचना में देखना यह चाहिए कि जिस पथ का कवि या लेखक ने अवलंबन लिया है, उससे वह कहाँ तक भ्रष्ट हुआ है अथवा उसका उसने कहाँ तक पालन किया है। बहुत-से समालोचक गूढ़ बातें निकालने ही की उधेड़बुन में लगे रहते हैं। जिन गुणों से सब परिचित हों, उनके प्रति क्षुद्र दृष्टिपात करते हुए ये लोग नए-नए गुणों ही के ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न करते हैं। आज कल की समालोचनाओं में वर्णन-शैली पर आक्षेपों की भरमार रहती है। अपनी विवेकवती बुद्धि के प्रभाव से ये समालोचक सोने को सूबर और सूबर को सोना सिद्ध करने में कुछ भी कसर नहीं उठा रखते। यदि किसी ग्रंथकार के ग्रंथों को कोई भी नहीं पढ़ता, तो ये समालोचक उनकी ऐसी प्रशंसा करेंगे मानो काव्य के सभी अंगों से वे ग्रंथ पूर्ण हैं। उनको महाकवि देव की अपेक्षा आधुनिक किसी खड़ी बोलीवाले की भद्दी कविता उत्तम जँचेगी ; केशवदास की राम चंद्रिका की अपेक्षा किसी विद्यार्थी की तुकबंदी में उन्हें विशेष काव्य-सामग्री प्राप्त होगी ; आधुनिक समस्या-पूर्तियों के सामने विहारीलाल के दोहे उन्हें फीके जान पड़ेंगे। निदान इस प्रकार के समालोचकों के कारण हमारी भाषा में वास्तविक समालोचना का नाम बदनाम हो रहा है। यह कितनी लज्जा का विषय है कि हमारी भाषा में इस समय समालोचना-संबंधी कोई भी पत्र* प्रकाशित नहीं होता है ?

* हर्ष की बात है कि अब 'समालोचक' नाम का एक त्रैमासिक पत्र निकलने लगा है।

तुलनात्मक समालोचना

आइए पाठक, अब आप तुलनात्मक समालोचना के बारे में भी हमारा वक्तव्य सुन लीजिए। इस ग्रंथ में हमने देव और विहारी पर तुलनात्मक समालोचना लिखी है। इसीलिये इस विषय पर भी कुछ लिखना हम आवश्यक समझते हैं।

कविता विशेष के गुण समझने के लिये उसमें आए हुए काव्योत्कर्ष की परीक्षा करनी पड़ती है। यह परीक्षा कई प्रकार से की जा सकती है—जाँच के अनेक ढंग हैं। कभी उसी कविता को सब ओर से उलट-पलटकर देख लेने में ही पर्याप्त आनंद मिल जाता है—कविता के यथार्थ जौहर खुल जाते हैं; पर कभी इतना श्रम पर्याप्त नहीं होता। ऐसी दशा में अन्य कवियों की उसी प्रकार की, उन्हीं भावों को अभिव्यक्त करनेवाली सूक्तियों से पद्य विशेष का मुक़ाबला करना पड़ता है। इस मुक़ाबले में विशेषता और हीनता स्पष्ट झलक जाती है। यही क्यों, ऐसी अनेक नई बातें भी मालूम होती हैं, जो अकेले एक पद्य के देखने से ध्यान में भी नहीं आतीं। ज़रा-सा फ़र्क़ कवि की मर्मज्ञता की गवाही देने लगता है। उदाहरण के लिये महाकवि विहारीलाल का निम्न-लिखित दोहा लीजिए—

> लाज-लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं;
> ये मुँहजोर तुरंग-लौं ऐंचतहू चलि जाहिं।

मतिरामजी ने इस दोहे को इसी रूप में * अपनाया है। केवल ज़रा-सा हेर-फेर कर दिया है। देखिए—

> मानत लाज-लगाम नहि, नैक न गहत मरोर;
> होत लाल लखि, बाल के दग-तुरंग मुँहजोर।

विहारीलाल के दोहे में 'लौं' (समान) वाचक-पद आया है।

* किंतु अब यह निश्चित नहीं है कि मतिराम का दोहा पहले बना या विहारी का।

यह शब्द मतिराम को बहुत खटका। उन्होंने इसी के कारण दोहे में पूर्ण निर्वाह हो सकनेवाले रूपक को भंग होते देखा। अतएव 'लौं' के निर्वासन्न पर उन्होंने कमर कसी। इस प्रयत्न में वे सफल भी हुए। उनका दोहा अविकलांग रूपक से अलंकृत है। मतिराम की इस मार्मिकता का रहस्य इस मुक़ाबले से ही खुलता है—इस तुलना से बिहारी के दोहे की सुकुमारता और व्याकुलता और साथ ही मतिराम के दोहे में अलंकार-निर्वाह का दर्शन हो जाता है। कविता की जो परीक्षा इस प्रकार एक या अनेक कवियों की उक्तियों की तुलना करके की जाती है, उसी को 'तुलनात्मक समालोचना' कहते हैं। प्रायः समालोचना-रहित कुछ पद्य, जिनमें तुलना का अच्छा अवसर है, नीचे उद्धृत किए जाते हैं। इससे, आशा है, पाठकों को 'तुलनात्मक समालोचना' का अर्थ हृदयंगम करने में आसानी होगी—

[क]

विरह-जन्य कृशता का अतिशयोक्ति-पूर्ण वर्णन हिंदी के कवियों ने बहुत विलक्षण ढंग से किया है। दो-चार उदाहरण लीजिए—

(१) हनुमान्‌जी ने अशोक-वाटिका-स्थित सीताजी को श्रीरामचंद्र की मुद्रिका दी। उसे पाकर सीताजी तन्मय हो गईं। वे मुद्रिका को जीवित प्राणी-सा मानकर उससे श्रीराम-लक्ष्मण का कुशल-संवाद पूछने लगीं; पर जड़ मुद्रिका से उत्तर कैसे मिलता? अंत में कातर होकर सीताजी ने मुद्रिका के मौनावलंब का कारण हनुमान्‌जी से पूछा। उन्होंने जो चमत्कार-पूर्ण उत्तर दिया, वह इस प्रकार है—

तुम पूँछत कहि मुद्रिके, मौन होत यहि नाम;
कंकन की पदवी दई, तुम बिन या कहँ राम।

केशव

हे सीताजी, तुम इसे मुद्रिका नाम से संबोधन करके इससे उत्तर माँगती हो, परंतु अब तो इसका यह नाम रहा ही नहीं। तुम्हारे विरह से रामचंद्र ऐसे कृश-शरीर हो गए हैं कि इस वास्तविक मुद्रिका का व्यवहार कंकरण के स्थान पर करते हैं। सो संप्रति इसको कंकरण की पदवी मिल गई है। पर तुमने तो इसे वही पुराने 'मुद्रिका' नाम से संबोधित किया। ऐसी दशा में यह उत्तर कैसे दे ? पति के निस्सीम प्रेम एवं घोर शारीरिक कृशता का निदर्शन कवि ने बड़े ही कौशल से किया है।

(२) मृत्यु विरह-विह्वला नायिका को ढूँढ़ने निकली। वह चाहती है कि नायिका को अपने साथ ले जाय। परंतु विरह-वश नायिका ऐसी कृश-शरीरा हो रही है कि देखने ही में नहीं आती। पर इससे निराश होकर भी मृत्यु अपने अन्वेषण-मार्ग से विरत नहीं होती। अत्यंत छोटी वस्तु ढूँढ़ने के लिये विकृत नेत्रों को ऐनक से बड़ी सहायता मिलती है। सो मृत्यु चश्मे का व्यवहार करती है ; परंतु तो भी उसे नितांत कृशांगी नायिका के दर्शन नहीं होते। कृशता की पराकाष्ठा है—

करी विरह ऐसी, तऊ गैल न छाँड़ति नीच ;
दीनें हूँ चसमा चखन चाँहै, लहै न मीच।

विहारी

(३) यद्यपि कृशता-वश नेत्र द्वारा नायिका दृष्टि-जगत् के बाहर हो रही है, तो भी शय्या के चारों ओर दूर-दूर तक आँच फैली हुई है। यह नायिका के विरह-ताप-वश अंगों की गर्मी है। इससे उसके जीवित रहने का प्रमाण मिलता है—

दीखे परै नहिं दूबरी ; सुनिए स्याम सुजान !
जानि परै परजंक मैं अंग-आँच-अनुमान।

मतिराम

(४) श्रीरामचंद्रजी विरह-कृशता-वश 'मुद्रिका' का कंकणवत् व्यवहार करने लगें, यह बहुत बड़ी बात है। इसकी संभवनीयता केवल कवि-जगत् में है। बिहारी और मतिराम की उक्तियाँ भी वैसी ही हैं। पार्थिव जगत् में ऐसा कार्य्य असंभव है। फिर भी ऐसी असंभवनीयता कवि के काव्य को दोषावह नहीं बना सकती। स्वाभाविकता-प्रिय देवजी विरह-वश कृशतनू नायिका के हाथ की चूड़ियाँ गिर जाने देते हैं। जो चूड़ियाँ कोमल हाथ को दबा-दबाकर बड़े यत्न से पहनाई गई थीं, उनका हाथ के कृश हो जाने पर गिर जाना कोई बड़ी बात नहीं है। ऐसी शारीरिक कृशता इस जगत् में भी सुलभ है; कवि-जगत् का तो कहना ही क्या? केशव, बिहारी एवं मतिराम ने कृशता की जो अवस्था दिखलाई है, उस तक देवजी नहीं पहुँचे हैं; पर उनके वर्णन में स्वभावोक्ति की झलक है—

"देवजू" आजु मिलाप की औधि,
सु बीतत देखि बिसेखि बिसूरी;
हाथ उठायो उड़ायबे को,
उड़ि काग-गरे परीं चारिक चूरी।
देव

[ख]

एक-दूसरे को चित्त से चाहनेवालों का शारीरिक वियोग भले ही हो जाय, पर मन और हृदय में दोनों का सदा संयोग रहता है— वहाँ से संसार की कोई भी शक्ति उनको अलग नहीं कर पाती।

(१) सूरदास का हाथ छुड़ाकर उनके सर्वस्व कृष्णचंद्र भाग गए। बेचारे निर्बल सूर कुछ भी न कर सके। पर उन्होंने अपने बाल-गोपाल को हृदय-मंदिर में ऐसा 'क़ैद' किया कि बेचारे को वहाँ से कभी छुटकारा ही नहीं मिला—

बाँह छोड़ाए जात हौ निबल जानिकै मोहिं ;
हिरदै सों जब जाइहौ, मर्द सराहौं तोहिं ।

सूरदास

(२) प्रेम-तत्त्व का ज्ञान मन को होता है । मन वियोगशील नहीं है । प्रणयि-युग्म को मानसिक संयोग सदा सुलभ है । श्रीरामचंद्रजी का कथन है—

तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा, जानत प्रिया एक मन मोरा ;
सो मन सदा रहत तोहि पाहीं, जानु प्रीति बस इतनेहिं माहीं ।

तुलसीदास

(३) पतंग कितना ही ऊपर क्यों न उड़ जाय, पर वह सदा उड़ानेवाले के वश में ही रहती है; जब चाहा, अपने पास खींच लिया । शरीर से भले ही विछोह हो जाय, पर मन तो सदा साथ रहता है—

कहा भयो, जो बोछुरे ? तो मन, मो मन साथ ;
उड़ी जाहु कितहू गुड़ी, तऊ उड़ायक-हाथ ।

विहारी

(४) शारीरिक विछोह विछोह नहीं है—एक साधारण-सी बात है । हाँ, यदि मन का भी वियोग हो जाय, तो निस्संदेह आश्चर्य-घटना है ।

ऊधो इहा हरि सों कहियो तुम, ह्वै न इहाँ यह हौं नहिं मानौं;
या तन तें बिछुरे ते कहा ? मन तें अनतैं जु बसौ, तब जानौं ।

देव

[ग]

पावस के घन विरहिणी को जैसे दुःखद होते हैं, वह हिंदी-कविता पढ़नेवालों को भली भाँति मालूम है । भिन्न-भिन्न कवि इस दुःख का चित्रण जिस चतुरता से करते हैं, उसके कतिपय उदाहरण लीजिए—

(१) देखियत चहुँ दिसि ते घन घोरे ।
मानहुँ मत्त मदन के हस्ती बल करि बंधन तोरे ;
स्याम सुभग तन, चुवत गल्ल मद बरषत थोरे-थोरे ।
× × × × ×
× × × × ×
तब उहि समय आनि ऐरावत व्रजपति सों कर जोरे ;
अब सुनि सूरस्याम के हरि बिनु गरत जात जिमि ओरे ।

सूरदास

(२) घन घमंड, नभ गरजत घोरा, प्रिया-हीन डरपत मन मोरा ।

तुलसी

(३) प्रिया समीप न थी, तो क्या; हंसों को देखकर उसकी गति, चंद्रमा को देखकर उसके मुख, खंजन-पक्षी को देखकर उसके नेत्रों और प्रफुल्ल कमल को देखकर उसके पैरों के अनुरूपक तो मिल जाया करते थे। इतना ही अवलंब क्या कम था ? पर इस वर्षा में तो इन सबके दर्शन भी दुर्लभ हो गए। न अब हंस ही हैं और न मेघावृत अंबर में चंद्रदेव ही के दर्शन होते हैं। खंजन का भी अभाव है और कमल क्षीण पड़ गए हैं। नहीं जान पड़ता, किसका अवलंब लेकर प्राणों की रक्षा हो सकेगी—

कल हंस, कलानिधि, खंजन कंज
कछू दिन "केशव" देखि जिये ;
गति, आनन, लोचन, पायन के
अनुरूपक-से मन मानि हिये ।
यहि काल कराल ते सोधि सबै,
हठ कै बरषा-मिस दूरि किये;
अब धौं बिन प्रान प्रिया रहिहै,
कहि कौन हितू अवलंबहि ये ?

केशव

(४) कौन सुनै ? कासों कहौं ? सुरति बिसारी नाह ;
बदा-बदी जिय लेत हैं ये बदरा बदराह ?
बिहारी

(५) दूरि जदुराई, "सेनापति" सुखदाई देखो,
आई ऋतु-पावस, न पाई प्रेम पतियाँ ;
धीर जलधर की सुनत धुनि धरकी,
सु-दरकी सुहागिन की छोह-भरी छतियाँ ।
आई सुधि बर की, हिये में आनि खरकी
सुमिरि प्रानप्यारी वह प्रीतम की बतियाँ ;
बीती औधि आवन की लाल मन-भावन की,
डग भई बावन की सावन की रतियाँ ।
सेनापति

(६) इभ-से भिरत चहुँघाई से घिरत घन,
आवत झिरत झीने झर सों झपकि-झपकि;
सोरन मचावैं, नचैं मोरन की पाँति, चहूँ
ओरनते कौंधि जाति चपला लपकि-लपकि ।
बिन प्रान-प्यारे प्रान न्यारे होत "देव" कहै,
नैन-बरुनीन रहे अँसुआ टपकि-टपकि;
रतिया अँधेरी, धीर न तिया धरति, मुख
बतियाँ कढ़ति उठै छतियाँ तपकि-तपकि ।
देव

[घ]

विरह की अधिकता में तज्जन्य ताप से जो उत्पात होते हैं, उनके एवं अश्रुपात-अधिकता-संबंधी वर्णन भी बड़े ही सुहावने ढंग से किए गए हैं। कहना न होगा कि दोनों ही प्रकार के वर्णन अतिशयोक्तिमय हैं। कुछ उदाहरण तुलना के लिये पर्याप्त होंगे—

(१) (क) विरह-कथन करते समय तत्संबंधी अक्षरों में भी इतनी उष्णता भरी रहने का भय है कि सखी को विरह-वर्णन करने की हिम्मत नहीं पड़ती। उसको डर लगता है कि मुँह से ऐसे तत्ते अक्षर निकलने से मेरी जिह्वा कहीं जल न जाय, जो मैं फिर बोलने के काम की भी न रहूँ !

लेखे न तिहारे, देखि ऊबत परेखे मन,
उनकी जो देह-दशा थोरीहुँ-सी कहिए ;
आखर गरम बरैं लागैं स्वास-बायु कहूँ,
जीभ जरि जाय, फेरि बोलिबे ते रहिए।

रघुनाथ

(ख) नायिका अपनी विरहावस्था लिखना चाहती है, पर बेचारी लिखे कैसे ? देखिए—

बिरह-बिथा की बात लिख्यो जब चाहै, तब
ऐसी दसा होति आँच आखर मो भरि जाय ;
हरि जाय चेत चित, सूखि स्याही झरि जाय,
बरि जाय कागद, कलम-डंक जरि जाय।

रघुनाथ

(२) नेत्रांबु प्रवाह से सर्वत्र जल व्याप्त हो रहा है। अतिशयोक्ति की पराकाष्ठा है—

कैसे पनिघट जाउँ सखीरी ? डोलौं सरिता-तीर ;
भरि-भरि जमुना उमड़ि चली है इन नैनन के नीर।
इन नैनन के नीर सखीरी, सेज भई घर नाउँ ;
चाहति हौं याही पै चढ़ि कै स्याम मिलन को जाउँ।

सूर

गोपिन को अँसुवान को नीर-
पनारे बहे, बहिकै भए नारे ;

नारेन हूँ सों भईं नदियाँ,
नदियाँ नद ह्वै गए काटि कगारे।
बेगि चलौ, तौ चलौ ब्रज को
"कबि तोष" कहै—ब्रजराज-दुलारे,
वै नद चाहत सिंधु भए, अब
नाहीं तौ ह्वै हैं जलाहल भारे।
तोष

[ङ]

भक्ति से प्रेरित अनेक सुकवियों ने गंगा-प्रभाव से मुक्ति-प्राप्ति में जो सरलता होती है, उसका तथैव विरोधियों की जो दुर्दशा होती है, उसका भी विशद वर्णन किया है। पद्माकरजी कहते हैं—

लाय भूमि-लोक मैं जसूस जबरई आय,
जाहिर जबर करी पापिन के मित्र की;
कहै "पदुमाकर" बिलोकि यम कहो—कै
बिचारौ तौ करम-गति ऐसे अपवित्र की!
जौलौं लगे कागद बिचारन कछुक तौलौं,
ताके कान परी धुनि गंगा के चरित्र की;
वाके सीस ही तैं ऐसी गंग-धार बही, जामें
बही-बही फिरी बही चित्र औ गुपित्र की।

इसी भाव पर हमारे पूज्य पितामह स्वर्गवासी लेखराजजी ने यों कहा है—

कोऊ एक पापी, धूत मरो, ताहि जमदूत
लाए बाँधि, मजबूत फाँसी ताके गल मैं;
तैसे ही उड़ाय, गंग न्हाय, कढ़ो काग, आय
परन सों ताके रेनु-कन गिरी तल मैं

परसत रेनु ताके सीस गंग-धार कढ़ी,
"लेखराज" ऐसी बही पुरी जलाहल मैं ;
बिकल ह्वै जम भागे, जमदूत आगे भागे,
पाछे चित्रगुप्त भागे कागद बगल मैं।

श्रीयुत रामदास गौड़ की राय में लेखराज का छंद पद्माकर के छंद से कहीं अच्छा बना है। (देखो सम्मेलन-पत्रिका, भाग १, अंक २-३, पृष्ठ ४९)

[च]

नायिका के विविध अंगों की द्युति से आभूषण, हार आदि के रंगों में नाना प्रकार के परिवर्तन उपस्थित हुआ करते हैं। हिंदी के कवियों ने इनका भी बड़े मार्के का वर्णन किया है उदाहरणार्थ कुछ संकलित छंद नीचे लिखे जाते हैं—

(१) अधर धरत हरि के परत ओंठ-दीठि-पट-जोति ;
हरित बाँस की बाँसुरी इंद्रधनुष-द्युति होति।
बिहारी

(२) तरुनि अरुन एँड़ीन के किरिन-समूह उदोत ;
बेनी-मडन-मुकुत के पुंज गुंज-रुचि होत।
मतिराम

(३) सेत कमल, कर लेत ही, अरुन कमल-छबि देत ;
नील कमल निरखत भयो, हँसत सेत को सेत।
बैरीसाल

(४) कर छुए गुलाब दिखाता है,
जो चौसर गूँथा बेली का ;
गल-बीच चपई रंग हुआ,
मुसकान कुंद रद केली का।

दृग-स्याह-मरीचि लपेटे ही
रँग हुआ सोसनी-सेली का ;
जानी, यह तद्गुण-भूषण है
पँचरंगा हार चमेली का ।

सीतल

(५) काल्हि ही गूँधि बबा कि सौं मैं
गज-मोतिन की पहिरी अति आला ;
आई कहाँ ते इहाँ पुखराग की ?
संग यई यमुना तट बाला ।
न्हात उतारी हौं "बेनीप्रवीन",
हँसै सुनि बैनन नैन-रसाला ;
जानति ना अँग की बदली,
सब सो बदली-बदली कहै माला ।

बेनीप्रवीन

(६) नीचे को निहारत, नगीचे नैन, अधर
दुबीचे परी श्यामारुन आभा-अटकन को ;
नीलमनि भाग ह्वै पदुमराग ह्वै कै,
पुखराग ह्वै रहत बिंध्यो छ्वै निकटकन को ।
"देव" विहँसत द्युति दतन जुड़ात जोति,
विमल मुकुत हीरालाल गटकन को ;
थरकि, थिरकि, थिर, थाने पर थाने तोरि
बाने बदलत नट मोती लटकन को ।

देव

---

* कुछ लोगों की राय में खड़ी बोली में कविता नहीं हो सकती। हम यह बात नहीं मानते। प्रतिभावान् कवि किसी भी भाषा में कविता कर सकता है। सीतल कवि की भाषा व्रजभाषा न होते हुए भी उक्ति-चमत्कार के कारण रमणीय है।

इन सबके पृथक्-पृथक् गुणों पर विचार करने के लिये यहाँ पर आवश्यकता नहीं है। विदग्ध पाठक स्वयं प्रत्येक चमत्कृत उक्ति का आस्वादन कर सकते हैं।

[छ]

वंशी-ध्वनि एवं उसके प्रभाव का वर्णन सूरदास, बिहारीलाल, देव एवं और-और हिंदी-कवियों ने अनोखे ढंग से किया है। यह वर्णन नितांत विदग्धता-पूर्ण और मर्म-स्पर्शी है। बँगला के कवि माइकेल मधुसूदनदत्त ने भी वंशी-ध्वनि पर कविता की है और बँगला-साहित्य-जगत् में उसका बहुत ही ऊँचा स्थान है। 'मधुप' की कृपा से, हिंदी-पाठकों के लिये, खड़ी बोली में, उसका अनुवाद निकल गया है। इनकी और देव की कविता के कुछ उदाहरण तुलना के लिये उद्धृत किए जाते हैं—

(१) सुन सखि, फिर वह मनोमोहिनी माधव-मुरली बजती है;
कोकिल अपनी कंठ-कला का गर्व सर्वथा तजती है।
मलयानिल मेरे कानों में उस ध्वनि को पहुँचाती है;
सदा श्याम की दासी हूँ मैं, सुध-बुध भूली जाती है।

मधुसूदनदत्त

यद्यपि श्याम की दासी कहती है कि मैं सुध-बुध भूली जाती हूँ, पर क्या यथार्थ में उसमें वह तन्मयता आ गई है कि अपने ऊपर उसका वश न रहा हो? देखिए, हिंदी के प्रतिभावान् कवि, देव की गोपिका इसी वंशी-ध्वनि को सुनकर ऐसी तन्मय हो जाती है कि वंशी-ध्वनि की ओर ही भागी जाती है। यह वर्णन और ही प्रकार का है—

राखी गहि गातनि ते, गातनि न रही,
अधरातन निहारै अधरा-तन उसासुरी;
पिक-सी पुकारी एक निकसी बननि "देव",
बिकसी कुमोदिनी-सी बदन बिकासुरी।

मोहीं अबलाजन मरत, अब लाज औ
इलाज ना लगत, बधु, साजन उदासुरी ;
जागि जपि जी है बिरहागि उपजी है, अब
जी है कौन, बैरिनि बजी है बन बाँसुरी ?

देव

(२) मधु कहता है—व्रजबाले, उन पद-पद्मों का करके ध्यान
जाओ, जहाँ पुकार रहे हैं श्रीमधुसूदन मोद-निधान।
करो प्रेम-मधु-पान शीघ्र ही यथासमय कर यत्न-विधान ;
यौवन के सुरसाल योग में काल-रोग है अति बलवान।

मधुसूदनदत्त

क्या वंशी-ध्वनि सुनाकर भी कवि के लिये यह आवश्यकता रह गई कि वह व्रज-बालाओं को श्याम के पास जाने की सलाह दे ? क्या अकेली वंशी-ध्वनि आकृष्ट करने के लिये पर्याप्त न थी ? देवजी की भी वंशी-ध्वनि सुन लीजिए और गोपिकाओं पर उसका प्रभाव विचारिए—

घोर तरु नीजन विपिन, तरुनीजन है
निकसीं निसंक निसि आतुर, अतंक मैं ;
गनै न कलंक मृदु-लंकनि, मयंक-मुखी,
पंकज-पगन धाईं भागि निसि-पंक मैं।
भूषननि भूलि पैन्हे उलटे दुकूल "देव",
खुले भुजमूल प्रतिकूल बिधि बंक मैं ;
चूल्हे चढ़े छाँड़े उफनात दूध-भाँड़, उन
सुत छाँड़े अंक, पति छाँड़े परजंक मै।

देव

मुरली सुनत बाम कामज्वर-लीन भईं,
धाईं धुर लीक सुनि बिधी बिधुरनि सों ;

पावस न, दीसी यह पावस नदी-सी, फिरैं
उमड़ी असगत, तरगित उरनि सों।
लाज-काज, सुख-साज, बंधन-समाज नाँघि
निकसीं निसक, सकुचैं नहीं गुरनि सों ;
मीन-ज्यों अधीनी गुन कीनी खैचि लीनी "देव"
बसीवार बंसी डार बंसी के सुरनि सों।
देव

माइकेल मधुसूदनदत्त और देव की कविता में महान् अंतर है। मुरलिका पर अकेले सूरदास ने इतना लिखा है कि अन्यत्र उसकी तुलना मिल नहीं सकती; पर खेद है, ब्रजभाषा के सूर को वर्तमान हिंदी-प्रेमी नहीं पढ़ेंगे और मधुसूदनदत्त के काव्य का अनुवाद चाव से पढ़ेंगे !

विहारी के साथ अनुचित पक्षपात

संजीवन-भाष्यकार के दर्शन हमें टीकाकार और समालोचक की हैसियत से हुए हैं। पाठकों को स्मरण होगा कि हैज़लिट साहब की राय में समालोचक को सदा निष्पक्षपात रहना चाहिए। उसका यह कर्तव्य है कि जिस ग्रंथ की वह टीका लिख रहा हो या जिसकी वह समालोचना कर रहा हो, उसके गुण-दोष सभी स्पष्टतया दिखला दे। कवि विशेष पर असाधारण भक्ति के वशीभूत होकर ऐसा न करना चाहिए कि उसके दोषों को छिपाए। इस प्रणाली का अवलंब लेना मानो सर्वसाधारण को धोखा देना है। संस्कृत-ग्रंथों पर मल्लिनाथ-सदृश टीकाकारों की जो टीकाएँ हैं, वे पक्षपात-शून्य होने के कारण ही आदरणीय हैं। सत्यप्रिय अँगरेज़-टीकाकारों की भी यही दशा है। संजीवन-भाष्य भी हम इसी प्रकार का चाहते थे; पर खेद के साथ कहना पड़ता है कि उसका प्रथम भाग देख-

कर हमारी यह आशा सफल नहीं हुई—टीकाकार हमको स्थल-स्थल पर विहारीलाल के साथ अनुचित पक्षपात करता हुआ देख पड़ता है। विहारीलाल श्रृंगारी कवि थे। अतएव उनकी श्रृंगारमयी सुधा-सूक्तियों का हिंदी-भाषा के अन्य श्रृंगारी कवियों की तादृश उक्तियों से तुलना करना उचित ही था। पर इस प्रकार की जो तुलना हुई है, वह, खेद है, पक्षपात-पूर्ण हुई है।

इस पक्षपात का चूडांत उदाहरण पाठकों को इसी बात से मिल जायगा कि देव-सदृश उच्च कोटि के श्रृंगारी कवि की कविता से विहारी के दोहों की तुलना तो दूर रही, उस बेचारे का नाम तक संजीवन-भाष्य के प्रथम भाग में नहीं आने पाया है। यदि देव और विहारी की तुलना होती और यह दिखलाया जाता कि विहारी-लाल देव से श्रेष्ठ हैं, तो बात ही दूसरी थी। ऐसी दशा में सर्व-साधारण के सामने उभय कविवरों के पद्य विशेष रहते और उन्हें अपनी राय भी क़ायम करने का मौक़ा मिलता, चाहे वह राय विहारी के अनुकूल ही क्यों न होती; पर भाष्यकार महोदय ने ऐसा अवसर ही नहीं आने दिया, मानो दास, पद्माकर, तोष और सुंदर आदि कवियों से भी देवजी को हीन मानकर उनकी कविता से तुलना करना भाष्यकार ने व्यर्थ समझा। सूरदासजी का नाम तो लिया गया है, पर इनकी कविता भी तुलनारूप में नहीं दिखलाई गई है। सारांश यह कि तुलना करते समय नाना प्रकार की पक्षपात-पूर्ण बातें लिखी गई हैं। इस पक्षपात का दिग्दर्शन कराने के लिये नीचे कुछ बातें लिखकर अब हम भूमिका समाप्त करते हैं, क्योंकि इसका कलेवर बहुत बढ़ गया है—

[क]

जिनका नाम तो संजीवन-भाष्य में लिया गया है, पर जिनकी कविता तुलनारूप में नहीं दिखलाई गई है, उन्हीं बेचारे सूरदास

के भाव अपनाने में विहारीलाल ने किंचित् भी संकोच नहीं किया है। प्रमाण-स्वरूप यहाँ पर दोनों कवियों के बिंब-प्रतिबिंबरूप केवल दो भाव उद्धृत किए जाते हैं। पाठक स्वयं निश्चय कर लें कि हमारा कथन कहाँ तक सच है। पर इस पुस्तक में सूर-विहारी की तुलना के लिये पर्याप्त स्थान नहीं है, इस कारण पाठकों को इन दो ही उक्तियों पर संतोष करना होगा—

(१) तो रस-राच्यो आन-बस कह्यो कुटिल, मति-कूर ;
जीभ निंबौरी क्यों लगै बौरी, चाखि अँगूर ?

विहारी

भाष्यकार को विहारीलाल के इस दोहे पर बड़ा 'गर्व' है—उसने इसकी भरपेट प्रशंसा की है, यहाँ तक कि इसको विहारीलाल का अपनी कविता के प्रति संकेत बतलाया है। दोहा निस्संदेह अच्छा है। पर 'जीभ निंबौरी' वाली लोकोक्ति विहारीलाल के मस्तिष्क की उपज नहीं है। वह लोकोक्ति-कमल तो सूर-प्रभा से इसके पूर्व ही प्रफुल्लित हो चुका है। देखिए—

योग-ठगोरी ब्रज न बिकैहै ;
यह व्यापार तिहारो ऊधो ऐसे ही फिरि जैहै।
जापै लै आए हौ मधुकर, ताके उर न समैहै ;
दाख छाँड़िकै कटुक निंबौरी को अपने मुख खैहै ?
मूरी के पातन के कोयना को मुक्ताहल दैहै ?
"सूरदास" प्रभु गुनहि छाँड़िकै को निरगुन निरबैहै ?

सूरदास

(२) कहा लड़ैते दृग करे ? परे लाल बेहाल ;
कहुँ मुरली, कहुँ पीत पट, कहूँ लकुट बनमाल।

विहारी

यह दोहा भी परम प्रसिद्ध विहारीलाल की मनोरम उक्ति है।

इस दोहे से सतसई एवं बिहारीलाल का गौरव है। भाष्यकार ने भी इसकी प्रशंसा में सब कुछ कहा है; पर यह भाव भी सूर-प्रतिभा से बचकर नहीं निकल सका है। देखिए—

चितई चपल नयन की कोर ;
मनमथ-बान दुसह, अनियारे निकसे फूटि हिये वहि ओर,
अति व्याकुल धुकि, धरनि परे जिमि तरुन तमाल पवन के जोर;
कहुँ मुरली, कहुँ लकुट मनोहर, कहुँ पट, कहूँ चंद्रिका-मोर।
छन बूड़त, छन ही छन उछरत बिरह-सिंधु के परे झकोर ;
प्रेम-सलिल भीज्यो पीरो पट फट्यो निचोरत अँचरा-छोर।
फुरै न बचन, नयन नहिं उघरत, मानहुँ कमल भए बिन भोर ;
"सूर" सु-अधर-सुधारस सींचहु, मेटहु मुरछा नंदकिसोर।

सूरदास

जिन्हें यह देखना हो कि सूरदास का शृंगारी कवियों में भी कौन-सा स्थान है वे कृपा करके एक बार मनोयोगपूर्वक सूरसागर पढ़ें। देखिए, सूरदास का निम्न-लिखित वर्णन कितना अनूठा है? क्या ऐसी कविता सतसई में सर्वत्र सहज सुलभ है। खंडिता के ऐसे अनूठे वचन हिंदी-साहित्य-सूर्य सूरदास के अतिरिक्त और कौन कह सकता है—

आए कहँ रमारमन ? ठाढ़ भवन काज कवन ?
करौ गवन वाके भवन, जामिनि जहँ जागे।
भृकुटी भई अधोभाग, पल-पल पर पलक लाग,
चाहत कछु नैन सैन मैन-प्रीति-पागे।
चंदन-बंदन ललाट, चूरि-चिह्न चारु ठाठ,
अंजन-रंजित कपोल, पीक-लीक लागे।
उर-उरोज-नख सासि लौं, कुंकुम कर-कमल भरे,
भुज तटंक-अंक उभय अमित दुति बिभागे।

नख-सिख लौं सिथिल गात, बोलत नहिं बनत बात,
चरन धरत परत अनत, आलस-अनुरागे।
अंजन-जावक कपोल, अधर सुघर, मधुर बोल,
अलक उलटि अरभि रही पाग-पेंच-आगे।
तव छल नाहिं छपत छैल, छूटे कटि-पीत-चैल,
उरया-बिन्त मुक्त-माल बिलसत बिन धागे।
"सूरस्याम" बने आजु, बरनत नहिं बनत साजु,
निरखि-निरखि कोटि-कोटि मनसिज-मन ठागे।

सूरदास का अद्भुत काव्य-कौशल दर्शनीय है, कथनीय नहीं। सूर की उपेक्षा करने में शर्माजी ने भारी भूल की है।

[ख]

केशवदास सूर और देव दोनों ही से अधिक भाग्यशाली हैं, क्योंकि भाष्यकार ने विहारी के कई दोहों की तुलना केशवदास के कवित्तों से की है तथा तुलना के पश्चात् विहारीलाल को बलात् श्रेष्ठ ठहराया है। केशव और विहारी दोनों में से कौन श्रेष्ठ है, इस पर हम अपनी स्वतंत्र सम्मति देने के पूर्व यह कह देना आवश्यक समझते हैं कि जिन कवित्तों से तुलना की गई है, केवल उन्हीं पर विचार करने से तो केशवदास किसी भी प्रकार हीन प्रमाणित नहीं होते हैं।

संजीवन-भाष्य के पृष्ठ १०१ पर केशव और विहारी के जिन छंदों की तुलना की गई है उनमें हमारी राय में "चौका चमकनि चौंध में परत चौंध-सी डीठि" से "हरे-हरे हँसि नैक चतुर चपल-नैन चित चकचौंधे मेरे मदनगोपाल को" किसी भी प्रकार कम नहीं है। विहारीलाल की नायिका के ज़रा हँसने से "दाँतों का चौका खुलता है, तो उसी के प्रकाश से देखनेवाले की आँखों में चकाचौंध छा जाती है कि मुँह मुश्किल से नज़र आता है।" यह

सब बहुत ठीक। पर केशवदास की चपलनयनी के हँसने से हमारे मदनगोपाल (इंद्रियों के स्वामी, शृंगार-मूर्ति, रास-लीला के समय सैकड़ों गोपियों का गर्व खर्व करनेवाले) के केवल नेत्र ही नहीं झिलमिला जाते हैं बरन् "चित चकचौंध" जाता है। नेत्रों पर प्रकाश पड़कर उस प्रभा का ऐसा प्रभाव पड़ता है कि चित्त में भी चकाचौंध पड़ जाती है। हमारी राय में केशव का कवित्त दोहे से ज़रा भी नहीं दबता है। परंतु जो पक्षपात का चश्मा लगाए हुए है, उससे कौन क्या कहे?

इसी प्रकार विहारीलाल के "जल न बुझै बड़वागि" से केशव के "चाटे ओस असु क्यों सिरात प्यास डाढ़े हैं" की तुलना करते समय भाष्यकार ने अपनी मनमानी सम्मति देने में आनाकानी नहीं की है। कहीं ओस चाटने से प्यासे की प्यास बुझती है, इस लोकोक्ति को केशवदास ने अपने छंद में खूब चमत्कृत ढंग से दिखलाया है। हमारी राय में "जल न बुझै बड़वागि" में वह बात नहीं है। अगर जल का अर्थ 'समुद्र-जल' है, जैसा कि भाष्यकार कहते हैं, तो दोहे का 'जल' पद असमर्थ है और विहारीलाल की कविता में असमर्थ पद-दूषण लगता है। कृपया उक्ति की सूक्ष्मता पर दृष्टि दीजिए। यह ख़याल छोड़ दीजिए कि उन्होंने 'बड़वानल' और 'समुद्र-जल' कहा है और ये केवल प्यासे और ओस-जल को ला सके हैं। ओस से प्यासे की प्यास न बुझने में जो चमत्कार है, वह दर्शनीय है। सहृदय इसके साक्षी हैं।

विहारी ने केशव के भाव लिए हैं। हमारे पास इसके अनेक उदाहरण मौजूद हैं। पर स्थल-संकोच हमें विवश करता है कि कुछ ही उदाहरण देकर हम संतोष करें—

(१) दान, दया, सुभसील सखा
बिझुकैं, गुन-भिक्षुक को बिझुकावै;

साधु, सुधी, सुरभी सब "केशव"
भाजि गई भ्रम भूरि भजावै।
सज्जन- संग- बछेरू डरैं
बिडरैं वृषभादि प्रवेश न पावैं;
द्वार बड़े अघ-बाघ बँधे, उर-
मंदिर बालगोबिंद न आवैं।

केशव

तौ लौं या मन-सदन मैं हरि आवैं केहि बाट,
विकट जड़े जौ लौं निपट खुलहि न कपट-कपाट?

विहारी

(२) (क) "केशौदास" मृगन-बछेरू चूमैं बाघिनीन,
चाटत सुरभि बाघ-बालक बदन हैं;
सिंहन की सटा ऐचैं कलभ-करनि करि,
सिंहन को आसन गयद को रदन है।
फणी के फणन पर नाचत मुदित मोर,
क्रोध न बिरोध जहाँ मदन मद न है;
बानर फिरत डोरे-डोरे अंध तापसनि,
शिव को समाज, कैधौं ऋषि को सदन है?

(ख) काहू के क्रोध-बिरोध न देखो;
राम को राज तपोमय लेखो।

केशव

कहलाने एकत बसत अहि, मयूर, मृग, बाघ;
जगत तपोमय सो कियो दीरघ दाघ-निदाघ।

विहारी

(३) (क) रूप अनूप रुचिर रस भीनि
पातुर नैनन की पुतरीनि।

नेहै नचावति हित रतिनाथ
मरकत कुटिल लिए जनु हाथ।

(ख) काछे सितासित काछनी "केशव"
पातुर ज्यों पुतरीन बिचारो ;
कोटि कटाछ नचै गति भेद,
नचावत नायक नेहनि न्यारो।
बाजतु है मृदु हास मृदंग-सो,
दीपति दीपन को उजियारो ;
देखतु हौ यह देखतु है हरि
होत है आँखिन ही मैं अखारो।

केशव

सब अँग करि राखी सुघर नायक नेह सिखाय ;
रस-युत लेत अनंत गति पुतरी पातुर राय।

विहारी

(४) सोहति है उर मै मणि यों जनु
जानकी को अनुराग रह्यो मनु।
सोहत जन-रत राम-उर ; देखत, जिनको भाग ;
आय गयो ऊपर मनो अंतर को अनुराग।

केशव

उर मानिक की उरबसी निरखि घटत दृग-दाग ;
छलकत बाहेर भरि मनौ तिय-हिय को अनुराग।

विहारी

(५) गति को भार महावरै, अग अंग को भार ;
केशव नख-शिख शोभिजै, शोभाई श्रृंगार।

केशव

भूषन-भार सँभारिहै क्यों यह तन सुकुमार ?
सूधे पायँ न धर परत शोभा ही के भार !

विहारी

[ग]

पक्षपात का एक उदाहरण और लीजिए। तोषजी के कवित्त का एक पद इस प्रकार है— "कूजि उठे चटकाली, चहूँ दिसि फैल गई नभ-ऊपर लाली।" इसमें "कूजि उठे चटकाली" के विषय में भाष्यकार का मंतव्य मनन करने योग्य है। वह इस प्रकार है— 'कूजि उठे चटकाली चहूँ दिसि' में महावरा बिगड़ गया। चिड़ियों के लिये 'चहकना' और भौंरों के लिये 'गुंजारना' बोलते हैं, 'कूजना' नहीं कहते।" आश्चर्य ! महान् आश्चर्य !! यह भूल तो विचित्र ही है। देखिए, तोषजी ने एक स्थान पर यही भूल और भी की है ; यथा— "कबूतर-सी कल कूजन लागी।" कविवर रघुनाथ भी भूलते हैं; उन्होंने भी कह डाला है—"देखु, मधुव्रत गूँजे चहूँ दिशि, कोयल बोली, कपोतहु कूजे।" यही क्यों, यदि मै भूलता नहीं हूँ, तो "विमल सलिल, सरसिज बहु रंगा, जल-खग कूजत, गुंजत भृंगा।" में महात्मा तुलसीदास से भी भूल हो गई है। बेचारे सूर तो उपेक्षणीय हैं ही ; पर वे भी इस भूल से बचे नहीं हैं ; यथा— "कंबु-कंठ नाना मनि-भूषन, उर मुक्ता की माल ; कनक-किंकिनी, नूपुर-कलरव, कूजत बाल-मराल।" प्यारे हरिश्चंद्र, तुम तो ऐसी भूल न करते ; पर हा ! "कोकिल-कूजित कुंज-कुटीर" कहकर तुमने तो गीतगोविंद की याद दिला दी, जिसमें जयदेव से भी यही भूल हो गई है। नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित और बाबू श्यामसुंदरदास बी० ए० द्वारा संपादित 'हिंदी-शब्दसागर' के पृष्ठ ६१४ पर भी यह भूल न-जाने कैसे भ्रम-वश आ गई ! धन्य ! इसे भूल कहें या हठ या शुद्ध प्रयोग ?

[घ]

विहारी के समान हिंदी के अनेकानेक और कवियों ने चमत्कारपूर्ण दोहे लिखे हैं। भाष्यकार का यह कथन हम मानते हैं कि "जैसे अनुपम दोहे सतसई में पाए जाते हैं, वैसे अन्यत्र प्रायः कम पाए जाते हैं।" तो भी यह बात असत्य है कि "विहारी के अनुकरण में किसी को कहीं भी सफलता नहीं हुई। सफलता तो एक ओर, कहीं-कहीं तो किसी-किसी ने बे-तरह ठोकर खाई है, अर्थ का अनर्थ हो गया है (पृष्ठ १२६)।" जिस नीति का अवलंबन भाष्यकार ने अपनी समग्र पुस्तक में लिया है, उसी का अनुगमन करते हुए उन्होंने रसनिधि, विक्रम एवं रामसहाय के दोहों से विहारी के दोहों की तुलना की है और इस प्रकार विहारी श्रेष्ठ ठहराए गए हैं। मतिराम, बैरीसाल, तुलसीदास, रहीम एवं रसलीन के शत-शत अनुपम दोहे उपस्थित रहते हुए भी उनका कहीं उल्लेख नहीं किया गया है। विषयांतर होने से इस विषय पर भी हम यहाँ विशेष कुछ लिखना नहीं चाहते। केवल उदाहरण-स्वरूप कुछ दोहे उद्धृत करते हैं, जिसमें पाठक-गण हमारे कथन की सत्यता का निश्चय कर सकें। कविवर मतिराम के अनेकानेक दोहे निश्चयपूर्वक सतसई के दोहों की टक्कर के हैं। रसनिधि और विक्रम के दोहे विहारीलाल के दोहों के सामने वैसे ही निष्प्रभ हैं, जैसे उनकी उक्ति के सामने सुंदर और तोष की उक्तियाँ हैं। इनके साथ तुलना करना विहारी के साथ अन्याय करना है—

(१) कहा दवागिनि के पिए ? कहा धरे गिरि धीर ?
बिरहानल मैं जरत ब्रज, बूड़त लोचन-नीर।
मतिराम

(२) जेहि सिरीष कोमल कुसुम लियो सुरस सुख-मूल,
क्यों अलि-मन तूसे रहे चूसे रूसे-फूल।
भूपति

(३) जारत, बोरत, देत पुनि गाढ़ी चोट बिछोह ;
किये समर मो जीव को आयसकर को लोह।
बैरीसाल

(४) नाम पाहरू, दिवस-निसि ध्यान तुम्हार कपाट,
लोचन निज पद-यन्त्रिका, प्रान जाहिं केहि बाट ?
तुलसी

(५) तरुनि अरुन एँड़ीन के किरन-समूह उदोत ;
बेनी-मंडन-मुकुत के पुंज गुंज-रुचि होत।
मतिराम

(६) अमी-हलाहल-मद-भरे स्वेत, स्याम, रतनार ;
जियत, मरत, झुकि-झुकि परत जेहि चितवत यँक-बार।
रसलीन

(७) पिय-वियोग तिय-दृग जलधि जल-तरंग अधिकाय ;
बरुनि-मूल बेला परसि, बहुर्यो जात बिलाय।
मतिराम

(८) बिन देखे दुख के चलैं, देखे सुख के जाहिं ;
कहौ लाल, इन दृगन के अँसुआ क्यों ठहराहिं ?
मतिराम

(९) पीतम को मन भावती मिलति बाँह दै कंठ ;
बाहीं छुटै न कंठ ते, नाहीं छुटै न कंठ।
मतिराम

१, ३, ४, ६, ७, ८ और ९वें दोहों में जो विदग्धता भरी है, उस पर कृपा करके पाठक ध्यान दें।

[ङ]

हिंदी-कवियों के विरह-वर्णन का परिचय देते हुए भाष्यकार ने अनेक कवियों के छंद उद्धृत किए हैं; पर अपनी उस नीति पर दृढ़

रहे हैं, जिसके कारण देव और सूर की उक्तियाँ विहारी के दोहों के पास नहीं फटकने पाई हैं। ग्वाल, सुंदर, गंग, पद्माकर एवं जीवित कवियों में शंकर तक की उक्तियाँ उद्धृत की गई हैं, पर सूर, देव, बेनी-प्रवीन, रघुनाथ, सोमनाथ, देवकीनंदन, मौन, केशव और तुलसी का विरह-वर्णन पढ़ने को अप्राप्त है। हमने इन कवियों के नाम यों ही नहीं गिना दिए हैं। वास्तव में इन कवियों ने विरह का अपूर्व वर्णन किया है। यदि हिंदी-कवियों के विरह-वर्णन पर स्वतंत्र निबंध लिखने का हमें अवसर प्राप्त होगा, तो हम दिखलावेंगे कि इन सबका विरह-वर्णन कैसा है।

[च]

मिश्रबंधु-विनोद और नवरत्न के रचयिताओं पर भी भाष्यकार ने नाना भाँति के आक्षेप किए हैं। कहीं 'मेसर्स मिश्र-बंधुओं का फुल बेंच' बनाया गया है, तो कहीं पर "सख़ुन-फ़हमी मिश्र-बंधुवाँ मालूम शुद" लिखकर उनकी हँसी उड़ाने की चेष्टा की गई है। विहारी-लाल के चरित्र को अच्छा न बतलाने के कारण उन पर कविवर के चरित्र को जान-बूझकर सदोष दिखलाने की 'गर्हणीय दुश्चेष्टा' का अभियोग भी लगाया गया है। कहीं-कहीं पर भाष्यकार ने उनको गुरुवत् उपदेश-सा दिया है ; यथा 'ऐसा न लिखा कीजिए ; ऐसा लिखिए।' धमकी की भी कमी नहीं है। संजीवन-भाष्य के भविष्य में प्रकाशित होनेवाले भागों में उनके प्रति और भी ऐसी ही 'सत्स-मालोचना' का वचन दिया गया है। साधु और विद्वान् समालोचकों द्वारा यदि ऐसी संयत भाषा में समालोचना न होगी, तो कदाचित् हिंदी की उन्नति में कमी रह जायगी ! इसीलिये भाष्यकार समालो-चना के सतसई-संहारवाले आदर्श पर "सौ जान से फ़िदा हैं।"

नवरत्न के रचयिताओं पर जितने आक्षेप भाष्यकार ने किए हैं, उनमें से एक भी ऐसा नहीं है, जो मत-भेद से ख़ाली हो। यदि

कुछ प्राचीन और नवीन विद्वान् भाष्यकार के मत के समर्थक होंगे, तो कुछ ऐसे ही विद्वान् नवरत्नकार का मत माननेवाले भी अवश्य निकलेंगे। ऐसी दशा में अपनी सम्मति को ज़बर्दस्ती सर्वश्रेष्ठ मानकर प्रतिपक्षी को मूर्ख सिद्ध करने की चेष्टा कितनी समीचीन है, सो भाष्यकार ही बतला सकते हैं। यहाँ पर हम केवल एक आक्षेप के संबंध में विचार करते हैं। बिहारीलाल का एक दोहा है—

पावस-घन-अँधियार महँ रह्यो भेद नहिं आन ;
राति, द्योस जान्यो परत लखि चकई-चकवान।

इसके संबंध में हिंदी-नवरत्न के पृष्ठ २३२* पर यह लिखा है—"इनके नेचर-निरीक्षण में केवल एक स्थान पर ग़लती समझ पड़ती है" और इसी दोहे के प्रति लक्ष्य करके आगे कहा गया है—"परंतु वर्षा-ऋतु में चक्रवाक नहीं होते। बहुत-से लोग कष्ट कल्पना करके यह दोष भी निकालना चाहते हैं, परंतु हम उस अर्थ को अग्राह्य मानते हैं।"

यह कथन अक्षरशः ठीक है, परंतु भाष्यकार ने इसी समालोचना के संबंध में नवरत्न-कारों को बहुत-सी अनर्गल बातें सुनाई हैं। आपने साग्रह पूछा है कि आख़िर वर्षा-ऋतु में चक्रवाक होते क्या हैं, क्या मर जाते हैं इत्यादि। इसके बाद 'सुभाषित रत्न-भांडागार' से ढूँढ़-खोजकर आपने वर्षा में चक्रवाक-स्थिति-समर्थक श्लोक भी उद्धृत किए हैं। पर प्रश्न केवल दो हैं—(१) क्या चक्रवाक और हंस एक जाति के पक्षी हैं ?, (२) क्या हंसों के समान ही चक्रवाक भी वर्षा-ऋतु में भारतवर्ष के बाहर चले जाते हैं ? इन दोनों ही प्रश्नों पर हम यहाँ पर संक्षेप से विचार करते हैं। दोनों पक्षी एक जाति के हैं या नहीं, इस संबंध में यह निवेदन करना है कि

* द्वितीय संस्करण के पृष्ठांक २९७

दोनों का आकार एक ही प्रकार का होता है। उनके शरीर की गठन, डैनों का विस्तार, चोंच की सूरत, पैरों के बीच का जाल, गर्दन, मुख, आँखें तथा पक्ष-समूह सभी में साम्य है। केवल परों के रंग में भेद है। चक्रवाक का रंग लाल-कत्थई होता है। इस एक भेद को छोड़कर आकार और रूप में चक्रवाक और हंस समान ही होते हैं। यदि सफ़ेद रंग का हंस उसी रंग में रँग दिया जाय, जो चक्रवाक का होता है, तो फिर दोनों में कोई भेद नहीं रह जाता। तब यह जानना कठिन होगा कि कौन चक्रवाक है और कौन हंस। देखिए, 'कर्पूर-मंजरी'-सट्टक में राजा हंसी को कुंकुम से रँगकर बेचारे हंस को कैसा धोका देता है। हंस अपनी हंसी को कुंकुम से रँगी पाकर उसे चक्रवाकी समझता है, और उसके निकट नहीं जाता—

"हसि कुङ्कुमपङ्कपिञ्जरतणु काऊण जं वञ्चिदो,
तब्भत्ता किल चक्कवाअघरिणी एसात्ति मण्णन्तओ ;
एद तं मह दुक्किदं परिणद दुक्खाण सिक्खावण,
एक्कत्थो विणजासि जेणविसअ दिट्ठोतिहाअस्सावि।"
(कर्पूर-मंजरी, जवनिकान्तरम् २, श्लोक ८)

तात्पर्य यह कि रूप और आकार में दोनों पक्षी एक ही-से हैं। इनकी खाद्य-सामग्री और उड़ने का ढंग भी एक ही-सा है। जाड़े की ऋतु में दोनों ही पक्षी भारतवर्ष में बहुत बड़ी संख्या में पाए जाते हैं। कवियों और वैज्ञानिकों का इस बात में एकमत है कि जाड़ा इन्हें बहुत प्रिय है, और शरद्-ऋतु में ये जलाशयों की शोभा बढ़ाते हैं। विहंग-विद्याविशारदों ने नैटेटोरीज़-विभाग के अंतर्गत एक उपभेद हंसों का रक्खा है और एक उपभेद चक्रवाकों का। सितेतर हंसों को धार्तराष्ट्र कहते हैं। महाभारत के आदि-पर्व का ६६वाँ अध्याय देखने से मालूम होता है कि हंस, कलहंस और चक्रवाक की उत्पत्ति धृतराष्ट्री (सितेतर हंसी) से है—

धृतराष्ट्री तु हंसांश्च कलहंसांश्च सर्वशः।
चक्रवाकांश्च भद्रा तु जनयामास सैव तु॥ ५८ ॥*

इस प्रकार पक्षिशास्त्रवेत्ताओं के मतानुसार चक्रवाक और हंस चचेरे भाई हैं और महाभारत के अनुसार सगे भाई। प्रत्यक्ष में देखने से उनके रूप, आकृति और स्वभाव भी यही सूचित करते हैं। ऐसी दशा में हंसों और चक्रवाकों के समान-जातीय होने की ही अधिक संभावना समझ पड़ती है।

दोनों पक्षियों के समान-जातीय होने की बात पर विचार कर चुकने के बाद इस प्रश्न का उत्तर रह जाता है कि क्या चक्रवाक वर्षा के अवसर पर भारतवर्ष में पाए जाते हैं? सौभाग्य से प्रावृट्-काल भारत में प्रतिवर्ष उपस्थित होता है। अपने नेत्रों की सहायता से यदि हम चक्रवाकों को इस समय आकाश में विचरते अथवा जल-परिपूर्ण जलाशयों में कलोल करते देखें, तो मानना ही होगा कि वर्षा-काल में चक्रवाक भारत में अवश्य पाए जाते हैं। पर यदि यथेष्ट उद्योग करने पर भी हमें उनके दर्शन दुर्लभ ही रहें, तो इसके विपरीत निर्णय को मानने में भी हमें किसी प्रकार का संकोच न होना चाहिए। प्रकृति-निरीक्षण के मामले में तो प्रत्यक्ष प्रमाण ही सर्वोपरि है। इस संबंध में हमने अपने नेत्रों की सहायता ली, अपने मित्रों के नेत्रों की सहायता ली, चक्रवाक का मांस खाने को लालायित, बंदूक़ बाँधे शिकारियों के नेत्रों की सहायता ली और पक्षियों का व्यापार करनेवाले चिड़ीमारों के नेत्रों की सहायता ली। इस संयुक्त सहायता से हमें तो यही अनुभव प्राप्त हुआ कि वर्षा-काल में, भारतवर्ष में, चक्रवाक नहीं पाए जाते। अपने समान-जातीय हंसों के साथ ही इस समय वे भारत के उत्तर में

* वाल्मीकीय रामायण के आरण्य-कांड में भी यह श्लोक, इसी रूप में, कुछ साधारण शाब्दिक परिवर्तन के साथ है।

मानस की ओर चले जाते और उन्हीं के साथ, शरद्-ऋतु का प्रारंभ होते ही, फिर आ जाते हैं। लाखों रुपए ख़र्च करके, घोर परिश्रम तथा अध्यवसाय के साथ, विहंग-विद्याविशारदों ने जो भारतीय पक्षिशास्त्र तैयार किया है, उसमें भी यही बात लिखी हुई है। हमारा विश्वास है और प्रत्यक्ष में हम देखते भी हैं कि वर्षा-काल में चक्रवाक दिखलाई नहीं पड़ते। इसी बात को हम सही मानते हैं। चक्रवाक, हंसों के समान ही, न तो भारत में घोंसले बनाते हैं, न अंडे देते हैं और न यहाँ उनके बच्चे उत्पन्न होते हैं।

संस्कृत के एकआध कवि ने वर्षा-काल में चक्रवाकों का वर्णन किया है। इस बात को लेकर एक पक्ष कहता है कि जब हमारे प्राचीन कवियों ने पावस में इन पक्षियों का वर्णन किया है, तब वे इस समय भारत में अवश्य होते हैं। चाहे प्रावृट्-काल में चक्रवाक प्रत्यक्ष न भी दिखलाई पड़ें, चाहे विहंग-विद्याविशारद तथा अन्य ज्ञाता लोग भी उनके न होने का ही समर्थन करें, पर इन लोगों के ये प्रमाण तुच्छ हैं। इन प्रमाणों की अवहेलना करके ये लोग कुछ प्राचीन संस्कृत-कवियों के प्रमाण को ही ठीक मानने के लिये तैयार हैं। अपने प्राचीन कवियो के कथनों को, प्रत्यक्ष के विरुद्ध होते हुए भी, ठीक मानना गंभीर आदर का परिचायक अवश्य है। हम इस भाव की सराहना करते हैं। पर खेद यही है कि वह ज्ञान-वृद्धि का बाधक है, साधक नहीं। प्रकृति-निरीक्षण एवं कवि-संप्रदाय इन दोनों ही प्रकारों से यह बात सर्व-सम्मत है कि हंस वर्षा-काल में भारत के बाहर चले जाते हैं। पर हमें कुछ ऐसे भी प्राचीन संस्कृत श्लोक मिले हैं, जिनमें वर्षा में हंसों का वर्णन है। हमें भय है कि प्राचीन कवियों के कथनों को सर्वश्रेष्ठ प्रमाण माननेवाला दल उन श्लोकों को देखकर वर्षा में हंसों की सत्ता के संबंध में भी आग्रह न करने लगे। कवि-जगत् की सम्मति में, कवि-समय ख्याति के अनुसार,

हंस प्रावृट्-काल में भारत में नहीं रहते। चक्रवाकों के संबंध में न तो यही समय-ख्याति है कि वे रहते हैं और न यही कि वे चले जाते हैं। बस, हंसों और चक्रवाकों की वर्षा-कालीन स्थिति में यही भेद है। चक्रवाकों के संबंध में यह एक और समय-ख्याति है कि उनका जोड़ा रात में बिछुड़ा रहता और दिन में मिल जाता है। यह समय-ख्याति प्रकृति-निरीक्षण के विरुद्ध है। यथार्थ में चक्रवाकी और चक्रवाक रात में भी साथ-ही-साथ रहते हैं, बिछुड़ते नहीं। इसीलिये उनका नाम भी द्वंद्वचर पड़ा है। फिर भी कवि-जगत् में इस कोक-कोकी-वियोग की बात, असत्-निबंधन (असतोऽपि क्रियार्थस्य निबन्धनम्, यथा—चक्रवाकमिथुनस्य भिन्नतटाश्रयणं, चकोराणां चन्द्रिकापानं च) होते हुए भी, माननीय है। जो कविगण समय-ख्याति के फेर में पड़कर, प्रकृति-निरीक्षण के विरुद्ध, कोक-कोकी-वियोग का वर्णन करने में बिलकुल नहीं हिचकते, उन्हीं में के दो-एक ने यदि वर्षा में भी चक्रवाक का वर्णन कर दिया, तो क्या हुआ? प्रकृति-निरीक्षण के विचार से रात्रि में कोक-कोकी-वियोग का वर्णन भूल है। वर्षा में वही वर्णन दुहरी भूल है। पहली भूल समय-ख्याति के कारण कवि-जगत् में क्षम्य है, पर प्रकृति-जगत् में नहीं। हमारे एक मित्र की राय है कि वर्षा में जहाँ कहीं संस्कृत के कवियों ने चक्रवाक का उल्लेख किया है, वहाँ पर उसका अर्थ बत्तख़ (Duck) है। आपटे ने अपने प्रसिद्ध कोष में यह अर्थ दिया भी है। अस्तु हमारी राय में हंस और चक्रवाक समान जाति के पक्षी हैं और वे वर्षा में भारतवर्ष के बाहर चले जाते हैं। प्रकृति-निरीक्षण के मामले में प्रत्यक्ष प्रमाण ही सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है। बड़े-से-बड़े कवि के यदि ऐसे वर्णन मिलें, जो प्रत्यक्ष प्रमाण के विरुद्ध हों, तो वे भी माननीय नहीं हो सकते।

विहारीलाल ने पावस-काल में इस देश में चक्रवाक-चक्रवाकी

का वर्णन किया है। यह नेचर-निरीक्षण में सोलहों आने भूल है। जो वस्तु जिस समय होती ही नहीं, उसका उस समय वर्णन कैसा? यदि कवि ऐसा वर्णन करता है, तो यह उसकी निरंकुशता है। नवरत्नकारों ने केवल "नेचर-निरीक्षण" में भूल बतलाई है। इस कारण कवि-संप्रदाय से यदि संस्कृत कवियों के कुछ ऐसे वर्णन मिलें भी, जिनसे चक्रवाक का वर्षा में होना पाया जाय, तो भी नेचर-निरीक्षण की भूल से विहारीलाल नहीं बचते। कवि-जगत् भले ही उनका दोष क्षमा कर दे, पर उनकी प्रकृति-निरीक्षण-संबंधिनी भूल ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। फिर संस्कृत-साहित्य में भी तो यह कवि-संप्रदाय सर्व-सम्मत नहीं है। अपवाद-स्वरूप फुटकर उदाहरणों से व्यापक नियम स्थापित नहीं किया जा सकता। एक बात और है। चक्रवाक हंस-जाति का पक्षी है। सो इसके वर्षा-काल में न पाए जाने का प्रमाण संस्कृत-साहित्य से भी दिया जा सकता है। हनुमन्नाटक में हंसों का वर्षा में न होना स्वयं रामचंद्रजी कहते हैं—

"येऽपि त्वद्गमनानुकारिगतयस्ते राजहंसा गताः"

कविवर केशवदास ने कविप्रिया में वर्षा में वर्णन करनेवाली वस्तुओं की एक सूची दी है। उसमें भी चक्रवाक का वर्णन नहीं है; यथा—

बरषा बरनहुँ सघन बक, चातक, दादुर, मोर,
केतकि, कंज, कदंब, जल, सौदामिनि घन घोर।

भाषा के कवियों ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि वर्षा-काल में चक्रवाक नहीं होते। कविकुल-मुकुट श्रीमहात्मा तुलसीदासजी किष्किंधा-कांड में वर्षा-वर्णन करते समय कहते हैं—

'देखिय चक्रवाक-खग नाहीं, कलिहि पाय जिमि धर्म पराहीं।

× × ×

निदान जैसा कुछ हो सका, यह क्षुद्र प्रयत्न प्रेमी पाठकों की सेवा में उपस्थित किया जाता है। साहित्य-मार्ग बड़ा गहन है—उसमें पद-पद पर भूलें होती हैं। हम तो एक प्रकार से इस मार्ग में कोरे ही हैं। अतएव विज्ञ पाठकों से प्रार्थना है कि हमारी भूलों को क्षमा करें।

गंधौली (सीतापुर)
मार्गशीर्ष, सं० १९७७ वै०

विनीत—
कृष्णविहारी मिश्र

विषय-सूची

देव-विहारी श्रीव्रजराज-
नेह निबाहैं धनि रसराज !
कृष्णविहारी युग कर जोर,
वंदत संतत युगलकिशोर।

कृष्णविहारी मिश्र

देव और विहारी

——:-※-:——

रस-राज

कविता का उद्देश, हमारी राय में, आनंद-प्रदान है। कविता-शास्त्र के प्रधान आचार्यों ने * देववाणी संस्कृत में भी कविता का मुख्य उद्देश यही माना है। कविता लोकोत्तर आनंद-दायिनी है। †

---

*......सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्......यत्काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म.

मम्मट

† The joy which is without form, must create, must translate itself into forms. The joy of the singer is expressed in the form of a song, that of a poet in the form of a poem, and they come out of his abounding joy.

रवींद्रनाथ

The end of poetry is to produce excitement in co-existence with an over-balance of pleasure.

वर्ड्सवर्थ

'A poem is a species of composition opposed to Science as having intellectual pleasure for its object or end' and its perfection is 'to communicate the greatest immediate pleasure from the parts compatible with the largest sum of pleasure on the whole.'

कालरिज

जस, संपति, आनंद अति, दुरितन डारै खोय ;
होत कबित मैं चतुरई, जगत रामबस होय।

कुलपति

राजभाषा अँगरेज़ी के प्रसिद्ध कविता-समालोचकों की सम्मति भी यही है। तत्काल आनंद (immediate pleasure)मय कर देना कविता का कर्तव्य है।

यह आनंद-प्रदान रस के परिपाक से सिद्ध होता है। यों तो नीरस कविता भी मानी गई है और चित्र-काव्य का भी कविता के अंतर्गत वर्णन किया गया है, पर वास्तव में रसात्मक काव्य ही काव्य है। रस मनोविकारों के संपूर्ण विकास का रूप है। किसी कारण विशेष से एक मनोविकार उत्थित होता है, फिर परिपुष्ट होकर वह सफल होता है; इसी को रस-परिपाक कहते हैं। मनोविकार के कारण को विभाव, स्वयं मनोविकार को स्थायी भाव, उसके अन्य पोषक भावों को व्यभिचारी भाव एवं तज्जन्य कार्य को अनुभाव कहते हैं। सो "विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव की सहायता से जब स्थायी भाव उत्कट अवस्था को प्राप्त हो मनुष्य के मन में अनिर्वचनीय आनंद को उपजाता है, तब उसे रस कहते हैं" (रस-वाटिका, पृष्ठ ७)। हमारे प्राचीन साहित्य-शास्त्र-प्रणेताओं ने विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों की सहायता से स्थायी भावों के पूर्ण विकास का खूब मनन किया है। इसी के फल-स्वरूप उन्होंने नव रस निर्धारित किए हैं और इन नव रसों में भी शृंगार, वीर और शांत को प्रधानता दी है। फिर इन तीनों में भी, उनकी राय के अनुसार, शृंगार ही सर्वश्रेष्ठ है।

शृंगार-रस में ही सब अनुभाव, विभाव, व्यभिचारी भाव पूर्ण प्रकाश प्राप्त कर पाते हैं; अन्य रसों में वे विकलांग रहते हैं। शृंगार-रस का स्थायी भाव 'रति' और सभी रसों के स्थायियों से अच्छा है। रति (प्रेम) में जो व्यापकता, सुकुमारता, स्वाभाविकता, संग्राहकत्व, सृजन-शक्ति और आत्मत्याग के भाव हैं वे अन्य स्थायियों में नहीं हैं। नर-नारी की प्रीति में प्रकृति और पुरुष

की प्रणय-लीला का प्रतिबिंब झलकता है। रति स्थायी के आलंबन विभावों में परस्पर समान आकर्षण रहता है। अन्य स्थायियों में परस्पर आकर्षण की बात आवश्यक नहीं है। शृंगार-रस के उद्दीपन विभाव भी परम मेध्य, सुंदर और प्राकृतिक सुषमा से मंडित हैं। इस रस के जो मित्र रस हैं, उनके साथ-साथ और सब रस भी शृंगार की छत्रच्छाया में आ सकते हैं। सो शृंगार सब रसों का राजा ठहरता है। अँगरेज़ी भाषा के धुरंधर समालोचक आरनल्ड की राय है * कि काव्य का संबंध मनुष्य के स्थायी मनोविकारों से है। यदि काव्य इन मनोविकारों का अनुरंजन कर सका, तो अन्य छोटे-छोटे स्वत्वों के विषय में कुछ कहने की नौबत ही न आवेगी। सो स्थायी मनोविकारों का अनुधावन करते समय स्त्री-पुरुष की प्रीति—सृष्टि-सृजन का आदि कारण भी उसी के अंतर्गत दिखलाई पड़ता है। इसका स्थायित्व इतना दृढ़ है कि सृष्टि-पर्यंत इन स्थायी मनोविकारों (Permanent passions) का कभी नाश नहीं हो सकता। इसीलिये कवि लोग नायक-नायिका के आलंबन को लेकर स्त्री-पुरुष की प्रीति का वर्णन करने लगे, करते रहे और करते रहेंगे। देवजी ने शृंगार को रस-राज माना है †।

* Poetical works belong to the domain of our permanent passions· let them interest these and the voice of all subordinate claims upon them is at once silenced.

† तीनि मुख्य नौहू रसनि, द्वै-द्वै प्रथमनि लीन ;
प्रथम मुख्य तिन तिहूँ मैं, दोऊ तिहि आधीन।
हास्य रु भय सिंगार-सँग, रुद्र-करुन सँग-बीर ;
अद्‌भुत अरु बीभत्स-सँग बरनत सांत सुधीर।
ते दोऊ तिन [illegible]हुन-जुत बीर-सांत [illegible]
संग होत सिंगार के, ताते सो रसराय।

प्रत्येक वस्तु का सदुपयोग भी होता आया है और दुरुपयोग भी। अतएव स्त्री-पुरुष की पवित्र प्रीति पर भी दुराचारियों ने कलंक-कालिमा पोती है ; परंतु इससे उस प्रीति की महत्ता तथा स्थायित्व नष्ट नहीं हो सकता।

शृंगार-रस की कविता नायक-नायिका की इस प्रीति-सरिता में खूब ही नहाई है। संसार के सभी नामी कवियों ने इसका आदर किया है। देववाणी संस्कृत में शृंगार-कविता का बड़ा बल रहा है। हिंदी-भाषा का प्राचीन साहित्य इसी कविता की अधिकता के कारण बदनाम भी किया जाता है।

अँगरेज़ विद्वान् महामति शेली की सम्मति है कि नारी-जाति की स्वतंत्रता ही प्रेम-कविता का मूल है। वे तो इस हद तक जाने को तैयार हैं कि पुरुष और स्त्री में जो कुछ परस्पर बराबरी का भाव है, वह इसी प्रेम-कविता के कारण हुआ है। पुरुष स्त्रियों को अपने से हीन समझते थे, परंतु प्रेम के प्रभाव से—प्रेम-कविता से जाग्रत् हो—वे नारी-जाति की बराबरी का अनुभव करने लगे। स्वयं शेली महोदय का कथन उद्धृत करना हम उचित समझते हैं—

"Freedom of women produced the poetry of sexual love. Love became a religion, the idols of whose worship were ever present......... The Provincial Trouveurs or inventors preceded Petrarch, whose verses are as spells which unseal the inmost enchanted fountains of the delight which is in the grief of

---

बिमल सुद्ध सिंगार-रसु "देव" अकास अनंत ;
उड़ि-उड़ि खग-ज्यों और रस बिबस न पावत अंत।
भूलि कहत नव रस सुकबि, सकल मूल सिंगार ;
जो संपति दपतिन की, जाको जग बिस्तार।

शब्द-रसायन

love. It is impossible to feel them without becoming a portion of that beauty which we contemplate: it were superfluous to explain how the gentleness and elevation of mind connected with these sacred emotions can render men more amiable, more generous and wise and lift them out of the dull vapours of the little world of Self. Love, which found a worthy poet in plato alone of all the ancients, has been celebrated by a chorus of the greatest writers of the renovated world ; and its music has penetrated the caverns of society and the echoes still drown the dissonance of arms and superstition. At successive intervals Ariosto, Tasso, Shakespeare, Spenser, Calderon, Rousseau have celebrated the dominion of love, planting as it were trophies in the human mind of that Sublimest victory over ensuality and force... .....and if the error, which confounded diversity with inequality of the powers of the two sexes, has been partially recognised in the opinions and institutions of modern Europe, we owe this great benefit to the worship of which chivalry was the law, and the poets the prophets." (Shelly's defence of poetry)

अँगरेज़ी के एक बहुत बड़े लेखक की राय है कि जीवन के सभी प्रगतिशील रूप नर-नारी के परस्पर आकर्षण पर अवलंबित हैं। महामना स्कीलर की राय है कि जीवन की इमारत प्रेम और क्षुधा की नींव पर उठी है; यदि ये दोनों न हों, तो फिर जीवन में कुछ नहीं रह जाता। एक बहुत अच्छे समालोचक की राय है कि नर-नारी के बीच जिस समता के भाव का विकास हुआ है, उसके मूल में प्रेम ही

प्रधान है। एक अमेरिकन लेखक की राय है कि विवाह के बाद पुरुष की जीवन-यात्रा केवल अपने लिये न रहकर अपनी स्त्री और बच्चों के लिये भी हो जाती है। वह भविष्य में भी अपना स्मारक बनाए रखने के लिये उत्सुक होता है। वह अपने बच्चों को अपनी आत्मीयता का प्रतिनिधि बनाकर भविष्य की भेंट करता है। स्वार्थपरता पर प्रेम की विजय होती है। इस लेखक की राय है कि संसार में जितनी उच्च और आनंददायक अवस्थाएँ हैं, उनमें वैवाहिक अवस्था ही सबसे बढ़कर है। मनुष्यता का जिन उच्च-से-उच्च और पवित्र-से-पवित्र प्रेरणाओं से संबंध है, वे सब इस वैवाहिक बंधन द्वारा और भी दृढ़ हो जाती हैं। (सृजन-संबंधिनी प्रेरणाओं से जाग्रत् होकर ही मैदानों में घास लहलहाने लगती है; फूलों में सौंदर्य और सुगंध का विकास होता है; पक्षी चित्र-विचित्र रंगों से रंजित होकर मधुर कलरव करने लगते हैं। झिल्ली की झंकार, कोयल की कूक तथा पपीहा की पुकार में इस प्रेमाह्वान की प्रतिध्वनि के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। ये सब-के-सब प्रेम के असंख्य गीत हैं) कवियों ने इस प्रेम का भली भाँति सत्कार किया है। नर-नारी के प्रेम को लेकर विश्व-साहित्य का कलेवर बहुत अधिक सजाया गया है। बाइ-बिल में इस प्रेम का वर्णन है। Books of Moses, Stories of Amnon and Tamar, Lot and his daughters, Potiphar's wife and Joseph आदि इस कथन के सबूत में पेश किए जा सकते हैं। बाइबिल को कुछ लोग कवितामय मानते हैं, और वह भी ऐसी, जो सभी समय समान रूप से उपयोगी रहेगी। उसी में नर-नारी की प्रीति का ऐसा वर्णन है, जिसको पढ़कर आज कल के अनेक पवित्रतावादी (Purist) नाक-भौं सिकोड़ सकते हैं। ग्रीस और रोम की प्राचीन कविता में भी प्रेम की वैसी ही झलकें मौजूद हैं। शेक्सपियर का क्या कहना! वहाँ तो नारी-प्रेम का,

सभी रूपों में, खूब स्पष्ट वर्णन है। हमारे कालिदास ने भी नर-नारी-प्रेम को बड़े कौशल के साथ चित्रित किया है। अतः यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि प्रेम का वर्णन अब तक संसार के कविता-क्षेत्र में खूब प्रधान रहा है। यहाँ तक कि संस्कृत और हिंदी-साहित्य में शृंगार-रस में प्रेम के स्थायी भाव रहने के कारण ही वह सब रसों का राजा माना गया है। नर-नारी-प्रीति को संसार के बहुत बड़े विद्वानों ने मनुष्यता के विकास के लिये उपयोगी भी बतलाया है। पर आज नर-नारी-प्रीति से संबंध रखनेवाली कविता के विरुद्ध कुछ लोगों ने आवाज़ उठाई है। हम साफ़-साफ़ कह देना चाहते हैं कि दांपत्य-प्रेम से संबंध रखनेवाली कविता के विरुद्ध हमें कोई भी मुनासिब दलील नहीं दिखाई पड़ती। स्वकीयाओं ने अपने पवित्र प्रेम से संसार को पवित्र किया है, कर रही हैं और करती रहेंगी। महात्मा गांधी ने भी दांपत्य-प्रेम की प्रशंसा की है—

"दंपति-प्रेम जब बिलकुल निर्मल हो जाता है तब प्रेम परा-काष्ठा को पहुँचता है—तब उसमें विषय के लिये गुंजायश नहीं रहती—स्वार्थ की तो उसमें गंध तक नहीं रह जाती। इसी से कवियों ने दंपति-प्रेम का वर्णन करके आत्मा की परमात्मा के प्रति लगन को पहचाना है और उसका परिचय कराया है। ऐसा प्रेम विरल ही हो सकता है। विवाह का बीज आसक्ति में होता है। तीव्र आसक्ति जब अनासक्ति के रूप में परिणत हो जाय और शरीर-स्पर्श का ख़याल तक न लाकर, न करके जब एक आत्मा दूसरी आत्मा में तल्लीन हो जाती है तब उसके प्रेम में परमात्मा की कुछ झलक हो सकती है। यह वर्णन भी बहुत स्थूल है। जिस प्रेम की कल्पना मैं पाठकों को कराना चाहता हूँ, वह निर्विकार होता है। मैं खुद अभी इतना विकार-शून्य नहीं हुआ, जिससे मैं उसका यथावत् वर्णन कर सकूँ। इससे मैं जानता हूँ कि जिस भाषा के द्वारा मुझे

उस प्रेम का वर्णन करना चाहिए, वह मेरी क़लम से नहीं निकल रही है। तथापि शुद्ध हृदयवाले पाठक उस भाषा को अपने-आप सोच लेंगे।

"जहाँ दंपति में मैं इतने निर्मल प्रेम को संभवनीय मानता हूँ, वहाँ सत्याग्रह क्या नहीं कर सकता। यह सत्याग्रह वह वस्तु नहीं है, जो आज कल सत्याग्रह के नाम से पुकारी जाती है। पार्वती ने शंकर के मुक़ाबले में सत्याग्रह किया था अर्थात् हज़ारों वर्ष तक तपस्या की। रामचंद्र ने भरत की बात न मानी, तो वे नंदिग्राम में जाकर बैठ गए। राम भी सत्य-पथ पर थे और भरत भी सत्य-पथ पर थे। दोनों ने अपना-अपना प्रण रक्खा। भरत पादुका लेकर उसकी पूजा करते हुए योगारूढ़ हुए। राम की तपश्चर्या में विहार के आनंद की संभावना थी। भरत की तपश्चर्या अलौकिक थी। राम को भरत को भूल जाने का अवसर था। भरत तो पल-पल राम-नाम उच्चारण करता था। इससे ईश्वर-दासानुदास हुआ।"

कविता में 'आदर्श-वाद' का जो विवाद उठाया गया है, वह भी स्वकीया के प्रेम के आगे फीका है। इस विषय पर हम कुछ अधिक विस्तार के साथ लिखना चाहते हैं, पर और कभी लिखेंगे। यहाँ पर इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि स्वकीयाओं के प्रेम में शरा-बोर जो कविताएँ उपलब्ध हैं, वे 'कवित्व' के लिये अपेक्षित सभी गुणों से परिपूर्ण हैं। कदाचित श्रृंगारी कविता पर आधुनिक आदर्श-वादियों का एक यह भी अभियोग है कि वे दुश्चरित्रता की जननी होती हैं। इस अभियोग में सत्यता का कुछ अंश अवश्य है; पर इसके साथ ही अनेक ऐसे वर्णन भी इस श्रेणी में गिन लिए गए हैं, जो इस अभियोग से सर्वथा मुक्त हैं। बात यह है कि श्रृंगार-रस से परिपूर्ण किसी भी ऐसे वर्णन को, जिसमें बात कुछ खुलकर कही गई हो, ये लोग दुश्चरित्रता-जनक मान बैठे हैं। ऐसे लोगों

को ही लक्ष्य करके एक प्रसिद्ध अँगरेज़-लेखक ने लिखा है— "We must, indeed, always protest against the absurd confusion whereby nakedness of speech is regarded as equivalent to immorality, and not the less because it is often adopted in what are regarded as intellectual quarters" अर्थात् जो लोग नग्न वर्णन को ही दुश्चरित्रता मान बैठे हैं, उनके ऐसे विचारों का तीव्र प्रतिवाद होना चाहिए, विशेष करके जब ऐसी धारणा उन लोगों की है, जो शिक्षित कहे जाते हैं।

सारांश यह कि दांपत्य-प्रेम से परिपूर्ण कविताओं को हम, आदर्श-वाद के विद्रोह की उपस्थिति में भी, बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं, जिन प्राचीन तथा नवीन कवियों ने ऐसे उच्च और विशुद्ध वर्णन किए हैं, उनकी भरि-भरि सराहना करते हैं और मनुष्यता के विकास में उनका भी हाथ मानते हैं। इस संबंध में देवजी कहते हैं—

"देव" सबै सुखदायक सपति, संपति सोई जु दंपति-जोरी ;
दंपति दीपति प्रेम-प्रतीति, प्रतीति की प्रीति सनेह-निचोरी।
प्रीति तहाँ गुन-रीति-बिचार, बिचार की बानी सुधा-रस-बोरी ;
बानी को सार बखानो सिंगार, सिंगार को सार किसोर-किसोरी।

दांपत्य-प्रेम का एक और विशुद्ध चित्र देखिए—

सनमुख राखै, भरि आँखै रूप चाखै, सुचि
रूप अभिलाखै मुख भाखै किधौं मौन सो ;
"देव" दया-दासी करै सेवकिनि केती हमैं,
सेवकिनि जानै भूलि है न सेज-भौन सो।
पतिनी कै मानै पति नीके तौ भलीयै, जो न
मानै अति नीके तौ, बँधी है प्रान-पौन सो ;
बिपति-हरन, सुख-संपति-करन, प्रान-
पति परमेसुर सों साझो कहौ कौन सो ?

सो शृंगार-रस को रस-राज कहने में भाषा-कवियों को दोष न देना चाहिए। मनोविकारों के स्थायित्व और विकास की दृष्टि से शृंगार-रस सचमुच सब रसों का राजा है। हम कुरुचि-प्रवर्तक कविता के समर्थक नहीं हैं; परंतु शृंगार-कविता के विरुद्ध जो आज कल धर्मयुद्ध-सा जारी कर रक्खा गया है, उसकी घोर निंदा करने से भी नहीं हिचकते हैं। कविता और नीति किसी भी प्रकार एक नहीं है। जैसे चित्रकार जाह्नवी का पवित्र चित्र खींचता है, वैसे ही वह श्मशान का भीषण दृश्य भी दिखलाता है। वेश्या और स्वकीया के चित्र खींचने में चित्रकार को समान स्वतंत्रता है। ठीक इसी प्रकार कवि प्रत्येक भाव का, चाहे वह कितना ही घृणित अथवा पवित्र क्यों न हो, वर्णन करने के लिये स्वतंत्र है। कवि लोकोत्तर आनंद-प्रदान करते हुए नीति भी कहता है, उपदेश भी देता है। पर उपदेश-हीन कविता कविता ही न हो, यह बात नितांत भ्रम-पूर्ण है। कविता के लिये केवल रस-परिपाक चाहिए। उपयोगितावाद के चक्कर में डालकर ललित कला का सौंदर्य नष्ट करना ठीक नहीं।

प्राचीन हिंदी-कवियों ने इसी रस-राज का आश्रय आवश्यकता से भी अधिक लिया है। अतएव हिंदी-कविता में शृंगार-रस-प्रधान ग्रंथों की प्रचुरता है। शृंगारी कवियों में सर्वश्रेष्ठ कौन है, इस विषय में मतभेद है—अभी तक कोई बात स्थिर नहीं हो सकी है। महात्मा तुलसीदासजी शृंगारी कवि नहीं कहे जा सकते, यद्यपि स्थल विशेष पर आवश्यकतानुसार इन्होंने पवित्र शृंगार-रस के सोते बहाने में कोई कसर नहीं उठा रक्खी है। पर 'सुरति' और 'विपरीत' के भी स्पष्ट सांगोपांग वर्णन करनेवाले महात्मा सूरदासजी को शृंगारी कवियों की पंक्ति में न बैठने देना अनुचित प्रतीत होता है। तो भी सूरदासजी तुलसीदासजी-सदृश भक्त कवियों की पंक्ति से भी अलग नहीं किए जा सकते और इसलिये एकमात्र

शृंगारी कवि नहीं कहे जा सकते। 'रामचंद्रिका' और 'विज्ञान-गीता' के रचयिता कविवर केशवदासजी वास्तव में 'कविप्रिया' एवं 'रसिक-प्रिया'-प्रकृति के पुरुष थे। शृंगारी कवियों की श्रेणी में इनका सम्माननीय स्थान है। इन्होंने 'शृंगार' अधिक किया, पर 'शांत' भी रहे। बिलकुल शृंगारी कवि इन्हें भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'रामचंद्रिका' और 'कविप्रिया' दोनों ही समान रूप से इनकी यशोरक्षा में प्रवृत्त हैं।

कविवर बिहारीलालजी की सुप्रसिद्ध 'सतसई' हिंदी-कविता का भूषण है। दस-बीस दोहे अन्य रसों के होते हुए भी वह शृंगार-रस से परिपूर्ण है। सतसई के अतिरिक्त बिहारीलालजी का कोई दूसरा ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। कहा जाता है, कविवर का काव्य-कौशल इस ग्रंथ के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं प्रस्फुटित नहीं हुआ है। सो बिहारीलाल वास्तव में शृंगारी कवि हैं।

'देव-माया-प्रपंच', 'देव-चरित्र' एवं 'वैराग्य-शतक' के रचयिता होते हुए भी कविवर देवजी ने अपने शेष उपलब्ध ग्रंथों में, जिनकी संख्या २३ या २४ से कम नहीं है, शृंगार-रस को ही अपनाया है। 'सुख-सागर-तरंगों' में बिमल-बिमलकर परिप्लावित होते हुए जो 'विलास' इन्होंने किए हैं एवं तज्जन्य 'विनोद' में जो 'काव्य-रसायन' इन्होंने प्रस्तुत की है, उसका आस्वादन करके कविता-सुंदरी का शृंगार-सौंदर्य हिंदी में सदा के लिये स्थिर हो गया है। ऐसी दशा में देवजी भी सर्वथा शृंगारी कवि हैं।

अन्य बड़े कवियों में कविवर मतिराम और पद्माकर शृंगारी कवि हैं। इनके अतिरिक्त शृंगारी कवियों की एक बड़ी संख्या उपस्थित की जा सकती है। देव और बिहारी इन शृंगारी कवियों के नेता-से हैं।

भाव-सादृश्य

प्रायः देखा जाता है कि कवि लोग अपने पूर्ववर्ती कवियों के भावों का समावेश अपने काव्य में करते हैं। संसार के बड़े-से-बड़े कवियों ने भी अपने पूर्ववर्ती कवियों के भावों को निस्संकोच अपनाया है। कवि-कुल-मुकुट कालिदास ने संस्कृत में, महामति शेक्सपियर ने अँगरेज़ी में, तथा भक्त-शिरोमणि गो० तुलसीदासजी ने हिंदी-भाषा में अपना जो अनोखा काव्य रचा है, उसमें अपने पूर्ववर्ती कवियों के भाव अवश्य लिए हैं। अध्यात्मरामायण, हनुमन्नाटक, प्रसन्नराघव नाटक, वाल्मीकीय रामायण, श्रीमद्भागवत तथा ऐसे ही अन्य और कई ग्रंथों के साथ श्रीतुलसीदास की रामायण पढ़िए, तो शंका होने लगती है कि इन सुकवि-शिरोमणि ने कुछ अपने दिमाग़ से भी लिखा है या नहीं? एक अँगरेज़-समालोचक ने, महामति शेक्सपियर के कई नाटकों की पंक्तियाँ गिन डाली हैं कि कितनी मौलिक हैं, कितनी यथातथ्य, उसी रूप में, पूर्ववर्ती कवियों की हैं तथा कितनी कुछ परिवर्तित रूप में पूर्व में होने-वाले कवियों की कविता से ली गई हैं। शेक्सपियर का "हेनरी षष्ठ" बहुत प्रसिद्ध नाटक है। इसमें कुल ६०४३ पंक्तियाँ हैं। इनमें से १८९९ पंक्तियाँ ऐसी हैं, जो शेक्सपियर की रचना हैं। पर शेष या तो सर्वथा दूसरों की रचना हैं या शेक्सपियर ने उनमें कुछ काट-छाँट कर दी है। हिंदी के किसी समालोचक ने ठीक ही कहा है कि "अपने से पूर्व होनेवाले कवियों के भाव अपनाने का यदि विचार किया जाय, तो हिंदी का कोई भी कवि इस दोष से अछूता न छूटेगा। कविता-आकाश के सूर्य और चंद्रमा को गहन लग

जायगा। तारे भी निष्प्रभ हो खद्योत की भाँति टिमटिमाते देख पड़ेंगे।"

कहने का तात्पर्य यह कि कविता-संसार में अपने पूर्ववर्ती कवियों की कृति से लाभान्वित होना एक साधारण-सी बात हो गई है। पर एक बात का विचार आवश्यक है। वह यह कि पूर्ववर्ती कवि की कृति को अपनानेवाला यथार्थ गुणी होना चाहिए। अपने से पहले के साहित्य-भवन से जो ईंट उसे निकालनी चाहिए, उसे नूतन भवन में कम-से-कम वैसे ही कौशल से लगानी चाहिए। यदि वह ईंट को अच्छी तरह न बिठाल सका, तो उसका साहस, व्यर्थ—प्रयास होगा। उसकी सराहना न होगी, वरन् वह साहित्य का चोर कहा जायगा। पर यदि वह ईंट को पूर्ववर्ती कवि से भी अधिक सफ़ाई के साथ बिठालता है, तो वह ईंट भले ही उसकी न हो, पर वह निंदा का पात्र नहीं हो सकता। उसे चोर नहीं कह सकते। यह मत हमारा ही नहीं है—संस्कृत और अँगरेज़ी के विद्वान् समालोचकों की भी यही राय है।

कविता के भाव-सादृश्य के संबंध में ध्वन्यालोककार कहते हैं कि जिस कविता में सहृदय भावुक को यह सूझ पड़े कि इसमें कुछ नूतन चमत्कार है, फिर चाहे उसमें पूर्व कवियों की छाया ही क्यों न दिखलाई पड़े—भाव अपनाने में कोई हानि नहीं है—उस कविता का निर्माता सुकवि, अपनी बंधच्छाया से पुराने भाव को नूतन रूप देने के कारण, निंदनीय नहीं समझा जा सकता।

यह तो संस्कृत के आदर्श समालोचक की बात हुई, अब अँगरेज़ी

---

* यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किञ्चित्
स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते ;
अनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक्
सुकविरुपनिबध्नन् निन्द्यतां नोपयाति ।

के परम प्रतिभावान् समालोचक महामति इमर्सन की राय भी सुनिए। वह कहते हैं—

"साहित्य में यह एक नियम-सा हो गया है कि यदि एक कवि यह दिखला सके कि उसमें मौलिक रचना करने की प्रतिभा है, तो उसे अधिकार है कि वह औरों की रचनाओं को इच्छानुसार अपने व्यवहार में लावे। विचार उसी की संपत्ति है, जो उनका आदर-सत्कार कर सके—ठीक तौर से उसकी स्थापना कर सके। अन्य के लिए हुए विचारों का व्यवहार कुछ भद्दा-सा होता है; परंतु यदि हम यह भद्दापन दूर कर दें, तो फिर वे विचार हमारे हो जाते हैं।"

उपर्युक्त दो सम्मतियाँ इस बात को प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त हैं कि भाव-सादृश्य के विषय में विद्वान् समालोचकों की क्या राय रही है। वर्तमान समय में हिंदी-कविता की समालोचना की ओर लोगों की प्रवृत्ति हुई है। भिन्न-भिन्न कवियों की कविता में आए हुए सदृश भावों पर भी विवेचन प्रारंभ हुआ है। जिस समालोचक का अनुराग जिस कवि विशेष पर होता है, वह स्वभावतः उसका पक्षपात कभी-कभी अनजान में कर डालता है। पर कभी-कभी विद्वान् समालोचक, हठ-वश, अपनी सारी योग्यता एक कवि को बड़ा तथा दूसरे को छोटा दिखलाने में लगा देते हैं। यह बात अनजान में न होकर समालोचक की पूरी-पूरी जानकारी में होती है। इससे यथार्थ बात छिपाई जाती है, जिससे समालोचना का मुख्य उद्देश्य नष्ट हो जाता है। ऐसी समालोचनाओं को तो 'पक्षपात-परिचय' कहना चाहिए। इस 'पक्षपात-परिचय' में जब समालोचक आलोच्य कवि को खरी-खोटी भी सुनाने लगता है, तो वह पक्षपात-परिचय भी न रहकर "कलुषित उद्गार"-मात्र रह जाता है। ऐसी समालोचनाओं में यदि कोई महत्त्व-पूर्ण

बात रहती भी है, तो वह छिप जाती है। समालोचक का सारा परिश्रम व्यर्थ जाता है। दुःख है कि वर्तमान हिंदी-साहित्य में कभी-कभी ऐसी समालोचनाएँ निकल जाती हैं।

यदि किसी कवि की कविता में भाव-सादृश्य आ जाय, तो समालोचना करते समय एकाएक उसे 'तुक्कड़' या 'चोर' न कह बैठना चाहिए, वरन् इस प्रसंग पर इमर्सन और ध्वन्यालोककार की सम्मति देखकर कुछ लिखना अधिक उपयुक्त होगा। कितने ही समालोचक ऐसे हैं, जो कवि की कविता में भाव-सादृश्य पाते ही क़लम-कुल्हाड़ा लेकर उसके पीछे पड़ जाते हैं और समालोच्य कवि को गालियाँ भी दे बैठते हैं। अतएव काव्य में चोरी क्या है, इस बात को हिंदी-समालोचकों को अच्छी तरह हृदयंगम कर लेनी चाहिए। सिद्धांत रूप से हम इस विषय पर ऊपर थोड़ा-सा विचार कर आए हैं, अब आगे उदाहरण देकर उन्हीं बातों को और स्पष्ट कर देना चाहते हैं। इस बात को सिद्ध करने के लिये हम केवल पाँच उदाहरण उपस्थित करते हैं। पहले तीन ऐसे हैं, जिनमें भाव-सादृश्य रहते हुए भी चोरी का अभियोग लगाना व्यर्थ है। यही क्यों, हम तो परवर्ती कवि को सौंदर्य-सुधारक की उपाधि देने को तैयार हैं। अंतिम दो में सौंदर्य-सुधार की कौन कहे, पूर्ववर्ती की रचना की सौंदर्य-रक्षा भी नहीं हो पाई है, अतः उनमें चोरी का अभियोग लगाना अनुचित न होगा—

(१)

करत नहीं अपरधवा सपनेहुँ पीय,
मान करन की बिरियाँ रहिगो हीय।

(२)

सपनेहूँ मनभावतो करत नहीं अपराध;
मेरे मन ही मैं रही, सखी, मान की साध।

(३)

राति द्यौस हाँसै रहै, मान न ठिक ठहराय ;
जेतो औगुन ढूँढ़ियै, गुनै हाथ परि जाय ।

ऊपर जो तीन उदाहरण दिए गए हैं, उनमें पहला उदाहरण जिस कवि की रचना है, वह दूसरे और तीसरे उदाहरण के रचयिताओं का पूर्ववर्ती है। दूसरे और तीसरे पहले के परवर्ती, पर परस्पर समसामयिक हैं। तीनों ही कविताओं का भाव बिलकुल स्पष्ट है और यह भी प्रकट है कि दूसरे और तीसरे कवि ने पहले कवि का भाव अपनाया है। भाषा की मधुरता और विचार की कोमलता में दूसरा सबसे बढ़कर है। "मान करन की बिरियाँ रहिगो हीय" से "मेरे मन ही में रही, सखी, मान की साध" अधिक सरस है। पहले कवि के मसाले को दूसरे ने लिया ज़रूर, पर भाव को अधिक चोखा कर दिया है, किसी प्रकार की कमी नहीं पड़ने पाई। जो लोग हमारी राय से सहमत न हों, वे भी, आशा है, दूसरे कवि के वर्णन को पहले से घटकर कभी न मानेंगे। तीसरे कवि ने पहले कवि के भाव को बढ़ाकर दिखा दिया है। उसे अवगुण ढूँढ़ने पर गुण मिलते हैं। अपराध की खोज में रहकर भी अपराध न पाना साधारण बात है, पर अवगुण की खोज में गुण का अन्वेषण मार्के का है।

क्या इन कवियों को "भाव-चोर" कहना ठीक होगा ? कभी नहीं। पूर्ववर्ती कवि के भाव का कहाँ और किस प्रकार उपयोग करना होगा, इस विषय में दोनों ही परवर्ती कवि कुशल प्रतीत होते हैं ; इसलिये पूर्ववर्ती कवि के भाव को अपनाने का उन्हें पूरा अधिकार है।

कम-से-कम दूसरे कवि ने पहले कवि के भाव की सौंदर्य-रक्षा अवश्य ही की है। तीसरा तो उस सौंदर्य को स्पष्ट ही सुधार

रहा है। अतएव दूसरा पूर्ववर्ती कवि के भाव का सौंदर्य-रक्षक और तीसरा सौंदर्य-सुधारक है। इन दोनों को ही "भाव-चोर" के दोष में अभियुक्त नहीं किया जा सकता।

(१)

जहँ बिलोकि मृग-सावक-नैनी,
जनु तहँ बरष कमल-सित-सैनी।

(२)

तीखी दिन चारिक ते सीखी चितवनि प्यारी,
"देव" कहै भरि दृग देखत जितै-जितै,
आछी उनमील, नील, सुभग सरोजन की,
तरल तनाइयत तोरन तितै-तितै।

उपर्युक्त दोनों कविताओं के रचयिताओं में पहले का कर्ता पूर्ववर्ती तथा दूसरे का परवर्ती है। एक विद्वान् समालोचक की राय है कि परवर्ती कवि ने पूर्ववर्ती कवि का भाव लेकर केवल उसका स्पष्टीकरण कर दिया है तथा ऐसा काम करने के कारण वह चोर है। आइए, पाठकगण, इस बात पर विचार करें कि समालोचक महोदय का यह कथन कहाँ तक माननीय है। क्या परवर्ती कवि का वर्णन पूर्ववर्ती कवि के वर्णन से शिथिल है? कहीं भी तो नहीं; यही क्यों, पूर्ववर्ती कवि की सित(असित)-संबंधी विसंधि भी दूसरे कवि के वर्णन में नहीं है। तो क्या वह पूर्ववर्ती कवि के वर्णन के बराबर है? इसका निर्णय हम सहृदय पाठकों पर ही छोड़ते हैं। हाँ, हमें जो बातें परवर्ती कवि के वर्णन में चमत्कारिणी समझ पड़ती हैं, उनका उल्लेख किए देते हैं। असित कमलों की वर्षा से विकसित, नील कमलों के तरल तोरण के तनने में विशेष चमत्कार है। सित को असित मानने में यों ही कुछ कष्ट है, फिर असित से 'नील' स्पष्ट और भावपूर्ण भी है। पंचशायक के पंचबाणों में

नीलोत्पल भी है। नीलोत्पल भी साधारण नहीं हैं—विकसित हैं और सुभग भी। इन्हीं का तोरण तनता है। यौवन के शुभागमन में तोरण का तनना कितना अच्छा है! स्वागत की कितनी मनोहारिणी सामग्री है! 'तरल' में द्रवता और चंचलता का कैसा शुभ समावेश है।

"तरल तनाइयत तोरन तितै-तितै" में उक्त समालोचक के 'तुक्कड़' कवि ने कैसा अनोखा अनुप्रास-चमत्कार दिखलाया है! तो क्या परवर्ती कवि पूर्ववर्ती कवि से आगे निकल गया है? हमारी राय में तो अवश्य आगे निकल गया है, वैसे तो अपनी-अपनी रुचि है। साहित्य-भवन-निर्माण करते समय यदि हम अन्यत्र का मसाला लाकर अपने भवन में लगावें और अपने भवन के अन्य मसाले में उसे बिलकुल मिला दें—ऐसा न हो कि अतलस के कुर्ते में मूँज की बखिया हो जाय—तो हमको अधिकार है कि अन्यत्र से लाया हुआ मसाला अपने भवन में लगा लें। वास्तव में, ऐसी दशा में, हमीं उस मसाले का उपयोग कर सकते हैं। यदि हम उस मसाले को अपनी जानकारी से और भी अच्छा कर सकें, तो कहना ही क्या! उपर्युक्त उदाहरण में परवर्ती कवि ने यदि पूर्ववर्ती कवि का भाव लिया भी हो, तो भी उसने उसे विशेष चमत्कृत अवश्य कर दिया है। अतः उच्च-साहित्य के न्यायालय में वह चोरी के अभियोग में दंडित नहीं हो सकता। कहने का तात्पर्य यह कि ऐसे भाव-सादृश्य में परवर्ती कवि पर चोरी का दोष न आरोपित करना चाहिए। परवर्ती कवि ने पूर्ववर्ती कवि के भाव का स्पष्टीकरण नहीं किया है बरन् उसके सौंदर्य को सुधारा है। वह चोर नहीं बल्कि सौंदर्य-सुधारक है। 'काव्य-निर्णय' के लिये उसे दूसरे का 'काव्य-सरोज' नहीं सूँघना पड़ा है; उसके पास स्वयं विकसित नीलोत्पल मौजूद है। तीसरा उदाहरण भी लीजिए—

(१)

कौड़ा आँसू-बूँद, कसि साँकर-बरुणी सजल;
कीन्हें बदन निमूँद, दृग मलग डारे रहत।

(२)

बरुनी-बघंबर मैं गूदरी पलक दोऊ,
कोए राते बसन भगौहैं भेष-रखियाँ;
बूड़ी जल ही मैं दिन-जामिन हूँ जागै, भौहै
धूम सिर छायो, बिरहानल-बिलखियाँ।
अँसुआ फटिकमाल, लाल डोरे सेल्ही पैन्हि,
भई है अकेली तजि चेली संग सखियाँ;
दीजिए दरस "देव", कीजिए सँजोगिनि, ये
जोगिनि ह्वै बैठी हैं बियोगिनि की अँखियाँ।

ऊपर जो दो कविताएँ दी हुई हैं, उनमें से पहली का रचयिता पूर्ववर्ती और दूसरी का परवर्ती है। हमारी राय में परवर्ती कवि ने पूर्ववर्ती का भाव न लेकर अपनी स्वतंत्र रचना की है; पर हिंदी-भाषा के एक मर्मज्ञ समालोचक की राय है— "ऊपरवाले सोरठे को पढ़कर परवर्ती कवि ने वह भाव चुराया है, जिस पर कुछ लेखकों को बड़ा घमंड है।" जो हो, देखना तो यह है कि परवर्ती कवि ने भावापहरण करके उसमें कोई चमत्कार भी उत्पन्न किया है या नहीं? संभव है, हमारी राय ठीक न हो, पर बहुत सोच-समझकर ही हम इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि सोरठे से घनाक्षरी छंद बहुत रमणीय बन गया है। कारण नीचे दिए जाते हैं—

(१) मन पर पुरुष की तपस्या की अपेक्षा स्त्री की तपस्या का अधिक प्रभाव पड़ता है। सहनशील पुरुष को तपश्चर्या में रत पाकर हमारी सहानुभूति उतनी अधिक नहीं आकर्षित होगी, जितनी

एक सुकुमार अबला को वैसी ही दशा में देखकर होगी। शंकर की तपस्या की अपेक्षा पार्वती की तपस्या में विशेष चमत्कार है। सो 'हग-मलंग' से 'जोगिनी अँखियाँ' विशेष सहानुभूति की पात्री हैं। उनका कष्ट-सहन देखकर हृदय-तल को विशेष आघात पहुँचता है।

(२) योग की सामग्री सोरठे से घनाक्षरी में अधिक है।

(३) घनाक्षरी सोरठे से पढ़ने में मधुर भी अधिक है। 'कोड़ा' शब्द का प्रयोग व्रजभाषा की कविता के माधुर्य का सहायक नहीं है, इससे 'फटिकमाल' अच्छा है।

(४) व्रजभाषा की कविता में हिंदू-कवि के मुँह से 'मलंग' की अपेक्षा 'योगिनी' का वर्णन अधिक मनोमोहक है।

(५) कथन-शैली और काव्यांगों की प्रचुरता में भी घनाक्षरी आगे है।

निदान यदि परवर्ती कवि ने पूर्ववर्ती के भाव को लिया भी हो, तो उसने उसको फिर से गलाकर एक ऐसी मूर्ति बना दी है, जो पहले से अधिक उज्ज्वल है, अधिक मनोहर है, अधिक सुंदर है। साहित्य-संसार में ऐसे कवि की प्रशंसा होनी चाहिए, न कि उसे चोर कहकर बदनाम किया जाय। सारांश कि ऐसे भावापहरण को सौंदर्य-सुधार का नाम देना चाहिए।

उपर्युक्त तीन उदाहरणों द्वारा हमने यह दिखलाया कि कविता में चोरी किसे नहीं कहते हैं? अब आगे हम दो उदाहरण ऐसे देते हैं, जिनमें परवर्ती कवि को हम पूर्ववर्ती कवि के भावों का चोर कहेंगे। चोर कहने का कारण यह है कि दूसरे का भाव अपनाने का उद्योग तो किया गया है, पर उसमें सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। सौंदर्य-सुधार की कौन कहे सौंदर्य-रक्षा का काम भी नहीं बन पड़ा। पर इससे कोई क्षणमात्र के लिये भी यह न

समझे कि हम परवर्ती कवि को 'सुकवि' नहीं मानते। हम जब 'चोर' शब्द का प्रयोग करते हैं, तो उसका संबंध केवल रचना विशेष से ही है। उदाहरण लीजिए—

(१)

जानति सौति अनीति है, जानति सखी सुनीति ;
गुरुजन जानत लाज हैं, प्रीतम जानत प्रीति।

(२)

प्रीतम प्रीतिमई उनमानै, परोसिनि जानै सुनीतिहि सोहई ;
लाज-सनी है बड़ी निमनी बरनारिन मै सिरताज मनी गई।
राधिका को ब्रज की युवती कहै, याही सोहाग-समूह दई दई ;
सौति हलाहल-सौती कहै औ सखी कहैं सुदरि सील सुधामई।

दोहे की रचना सवैया से पहले की है। स्वकीया नायिका का चित्र दोनों ही कविताओं में खींचा गया है। दोहे के भाव को सवैया में विस्तार के साथ दिखलाने का उद्योग किया गया है। किंतु पूर्ववर्ती कवि का वर्णन-क्रम चतुरता से भरा हुआ है।

सपत्नियाँ परस्पर एक दूसरे को शत्रु से कम नहीं समझतीं। एक ही प्रेम-राशि को दोनों ही अपने अधिकार में रखना चाहती हैं, फिर भला मेल कैसे हो ? तिस पर भी दोहे की स्वकीया को सौति अनीति ही समझती है—उसमें नीति का अभाव मानती है। अपने सर्वस्व प्रेम को बँटा लेनेवाली को वह अनीति तो कहेगी ही। अब क्रम-क्रम से आदर बढ़ता है। सखियाँ उसे सुनीति समझती हैं। गुरुजन—जिसमें सास, जेठानी आदि सम्मिलित हैं—उसे लज्जा की मूर्ति समझती हैं। आदर और भी बढ़ गया। उधर प्राणप्यारा तो उसे प्रीति की प्रतिमा ही समझता है। आदर पराकाष्ठा को पहुँच गया। कवि ने उसका कैसा सुंदर विकास दिखलाया ! आदर के क्रम के समान ही 'परिचय' की न्यूनता और अधिकता का विचार

भी दोहे में है। ईर्षावश सौतें उससे कम मिलती हैं, इसलिये वे उसे अनीति समझती हैं। सखियों का हेलमेल सौतों की अपेक्षा उससे अधिक है, अतः वे उसे सुनीति समझती हैं। सास आदि की सेवा में स्वयं लगी रहने के कारण उनसे परिचय और गहरा है; वे उसे लज्जा की मूर्ति समझती हैं। प्रियतम से परिचय अति घनिष्ठ है; वह उसे साक्षात् प्रीति ही मानता है। आदर और परिचय दोनों के विकास-क्रम का प्रकाश दोहे में अनूठा है। परवर्ती कवि ने उस क्रम को सवैया में बिलकुल तहस-नहस कर डाला है। वह पहले प्रीतम का कथन करता है। ख़याल होता है कि क्रमशः ऊपर से नीचे उतरेगा, अत्यंत प्रियपात्र, अत्यंत घनिष्ठ प्रियतम से लेकर क्रम से उससे कम घनिष्ठ तथा कम प्रीति-पात्र लोगों का कथन करेगा। प्रियतम के बाद परोसिनों का ज़िक्र होता है, घर के गुरुजन न-जाने क्यों प्रकट में नहीं वर्णित हैं। ख़ैर, फिर ब्रज की युवतियों की पारी आती है, तब सौतों का कथन होता है। यहाँ तक तो सीढ़ियाँ चाहे जैसी बेढंगी रही हों, पर उतार ठीक था। आशा थी कि सौतों के बाद हम फ़र्श पर पहुँचकर कोई नया कौतुक देखेंगे, पर वह कहाँ, यहाँ तो फिर एक ज़ीना ऊपर की ओर चढ़ना पड़ा—सखियाँ उसे 'सील सुधामई' कहने लगीं। कवि ने यहीं, बीच ही में, पाठकों को छोड़ दिया। मतलब यह कि सवैया में क्रम का कोई विचार नहीं है। दोहे के भावों को अव्यवस्थित रूप में, जहाँ पाया, भर दिया है। दोहे का दृढ़ संगठन, उचित क्रम तथा स्वकीयत्व-परिपोषक संपूर्ण शब्द-योजना सवैया में नहीं है। उसका संगठन शिथिल, क्रम-हीन तथा कई व्यर्थ पदों से युक्त है। अधिकता दोहे से कुछ भी नहीं है। परवर्ती कवि ने पूर्ववर्ती कवि का भाव लिया है। भाव लेकर न तो वह पूर्ववर्ती कवि की बराबरी कर सका है और न उससे आगे निकल सका है।

अतएव तब साहित्य-संसार में इस प्रकार के भावापहरणकारी को जिस अपराध का अपराधी माना जाता है, विवश होकर उसे भी वही मानना पड़ेगा। संकोच के साथ कहना पड़ता है कि परवर्ती कवि ने पूर्ववर्ती कवि के भाव की चोरी की। उसकी रचना से प्रकट है कि उसमें पूर्ववर्ती कवि की सफ़ाई नहीं है। ऐसी दशा में उसे पूर्ववर्ती कवि के भावों के अपनाने का उद्योग न करना चाहिए था।

(१)

अंगन मैं चंदन चढ़ाय घनसार सेत,
सारी छीरफेन-कैसी आभा उफनाति है ;
राजत रुचिर रुचि मोतिन के आभरन,
कुसुम-कलित केस सोभा सरसाति है।
कवि मतिराम प्रानप्यारे को मिलन चली,
करिकै मनोरथनि मृदु मुसुकाति है ;
होति न लखाई निसि चंद की उज्यारी, मुख-
चंद की उज्यारी तन-छाँहौ छपि जाति है।

(२)

किंसुक के फूलन के फूलन बिभूषित कै,
बाँधि लीनी बलया, बिगत कीनी बजनी ;
ता पर सँवारयो सेत अंबर को डंबर,
सिधारी स्याम-सन्निधि, निहारी काहू न जनी।
छीर की तरंग की प्रभा को गहि लीनी तिय,
कीन्ही छीरसिंधु छिति कातिक की रजनी ;
आनन-प्रभा ते तन-छाँहै हूँ छपाए जात,
भौरन की भीर संग लाए जात सजनी।

दो कवि शुक्लाभिसारिका नायिका का वर्णन करते हैं। इनमें से एक पूर्ववर्ती है तथा दूसरा परवर्ती। पूर्ववर्ती कवि शुक्लाभिसारिका

को चाँदनी में छिपाने के लिये उसके अंगों में घनसार-मिश्रित सफ़ेद चंदन का लेप करा देता है। सेतता की वृद्धि के साथ-साथ उद्दीपन का भी प्रबंध हो जाता है। गोरे शरीर पर इस श्वेत लेप के बाद दुग्ध-फेन के सदृश श्वेत साड़ी उढ़ा दी जाती है। पर क्या नायिका नायक के पास विना भूषणों के जायगी? नहीं। गहने मौजूद हैं, पर सभी स्वच्छ सफ़ेद मोतियों के, जिससे चाँदनी में वे भी छिप जायँगे। हाँ, नायिका के केश-कलाप को छिपाने के लिये उन्हें सफ़ेद फूलों से अवश्य ही सँवारना पड़ा है। इस प्रकार सजकर मंद-मंद मुसकराती हुई, उज्ज्वलता को और बढ़ाती हुई, अभिसारिका जा रही है। चाँदनी में बिलकुल मिल गई है। मुख-चंद्र के उजियाले में अपनी छाया भी उसने छिपा ली है। परवर्ती कवि भी अभिसार का प्रबंध करता है। अपनी सफ़ाई दिखलाने के लिये वर्णन में उलट-फेर भी कर देता है, पर मुख्य भाव पूर्ववर्ती कवि का ही रहता है। शब्द करनेवाले आभूषणों का या तो त्याग कर दिया जाता है या उनकी शब्द-गति रोकी जाती है। किंसुक के फूलों से भी कानों की सजावट की जाती है। श्वेत कपड़ों का व्यवहार तो किया ही जाता है। इस प्रकार सुसज्जित होकर जब अभिसारिका गमन करती है, तो उसकी मुख-प्रभा से शरीर की छाया भी छिप जाती है। पद्मिनी होने के कारण नायिका के पीछे भ्रमर भी लगे हुए हैं।

परवर्ती कवि ने पूर्ववर्ती कवि का भाव तो लिया, परंतु वर्णन की उत्तमता में किसी भी प्रकार पूर्ववर्ती से आगे नहीं निकल सका। आगे निकलना तो दूर की बात है, यदि बराबर रहता, तो भी ग़नीमत थी—पर यह भी न हो सका। कातिक की रजनी (शरद्-ऋतु) में उसने वसंत के किंसुक से नायिका का शृंगार करा दिया, मानो स्वयं काल-विरुद्ध-दूषण को अपना लिया। नायिका

के पद्मिनी-गुण को स्पष्ट करने के फेर में उसने अभिसारिका का परम अहित किया है। भौंरों को ऊपर मँडराते देखकर विचक्षण बुद्धि-वाले अवश्य मामला समझ जायँगे—इस प्रकार वलया का बाँधना और बजनी का विगत करना व्यर्थ हो गया। पूर्ववर्ती कवि ने नायिका के शरीर में चंदन और घनसार का लेप करवाकर पद्म-गंधि को कुछ समय के लिये दबा दिया है। कर्पूर की बास के सामने अन्य सुगंधि लुप्त हो जाती है, फिर पद्म-गंधि को दबा लेना कौन-सी बात है। आनन-प्रभा की अपेक्षा मुख-चंद से छाँह का छिपना भी विशेष रमणीय है। कहने का तात्पर्य यह कि पूर्ववर्ती कवि का भाव लेकर उसे वैसा ही बना रहने देना तो दूर, परवर्ती कवि ने उसे अपनी काट-छाँट से पहले-जैसा भी नहीं रहने दिया। वे उसे अपना नहीं सके। अशर्फ़ियों की ढेरी पर कोयले की छाप बैठ गई। भाव अपनाने में जहाँ परवर्ती कवि इस प्रकार की असमर्थता दिखलावे, वहीं पर वह चोरी के अभियोग में गिरफ़्तार हो जायगा। दूसरे के जिस माल का वह यथार्थ उप-योग करना नहीं जानता, उस पर हाथ फेरने का उसे कोई अधिकार नहीं।

सारांश—भाव-सादृश्य को हम तीन भागों में बाँटते हैं— (१) सौंदर्य-सुधार, (२) सौंदर्य-रक्षा, (३) सौंदर्य-संहार। प्रथम दो को साहित्य-मर्मज्ञ अच्छा मानते हैं। सौंदर्य-सुधार की तो भूरि-भूरि प्रशंसा की जाती है। हाँ, सौंदर्य-संहार को ही दूसरे शब्दों में साहि-त्यिक चोरी कहते हैं, इसलिये अगर कहीं भाव-सादृश्य देखा जाय, तो परवर्ती कवि को फ़ौरन् चोर नहीं कह देना चाहिए। यह देख लेना चाहिए कि उसने पूर्ववर्ती कवि के भाव को बिगाड़ा है या सुधारा? यदि भाव का बिगड़ना साबित हो जाय, तो परवर्ती कवि अवश्य चोर है।

परिचय

१—देव

महाकवि देव का पूरा नाम देवदत्त था। ये देवशर्मा—धौसरिहा (धौसरिया नहीं) ब्राह्मण थे और इटावे में रहते थे। इनका जन्म-संवत् १७३० और मरण-संवत् * १८२५ के लगभग है। इनके बनाए हुए निम्न-लिखित ग्रंथ हमारे पुस्तकालय में मौजूद हैं—

१ भाव-विलास—हस्त-लिखित, भारतजीवन-प्रेस का छपा हुआ और जयपुर का छपा हुआ भी

२. अष्टयाम—हस्त-लिखित और भारतजीवन-प्रेस का छपा

३. भवानी-विलास—हस्त-लिखित और छपा हुआ भी

४. सुंदरी-सिंदूर—मुद्रित

५. सुजान-विनोद—हस्त-लिखित और काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा का छपा

६. राग-रत्नाकर— ,,

७. प्रेम-चंद्रिका— ,,

८. प्रेम-तरंग— हस्त-लिखित

९. कुशल-विलास— ,,

१०. देव-चरित्र— ,,

११. जाति-विलास— ,,

१२. रस-विलास— ,, और छपा भी

१३. शब्द-रसायन ,,

---

* अकबर अलीखाँ (महमदी) तथा राजा जवाहरसिंह (भरतपुर) के समय को देखकर यह संवत् निश्चित किया गया है।

१४. देव-माया-प्रपंच नाटक—हस्त-लिखित

१५. सुख-सागर-तरंग—छपा और हस्त-लिखित शुद्ध प्रति

१६. जगद्दर्शन-पचीसी
१७. आत्मदर्शन-पचीसी
१८. तत्त्वदर्शन-पचीसी
१९. प्रेम-पचीसी
} वैराग्य-शतक—बालचंद्र-यंत्रालय, जयपुर का छपा

इनके अतिरिक्त देवजी के इतने ग्रंथों के नाम और विदित हैं पर वे सब प्राप्त नहीं हैं।

२०. वृक्ष-विलास
२१. पावस-विलास
२२. रसानंद-लहरी
२३. प्रेम-दीपिका
२४. सुमिल-विनोद
२५. राधिका-विलास
२६. नीति-शतक
२७. नख-शिख-प्रेम-दर्शन
२८. शृंगार-विलासिनी (नागरी-प्रचारिणी सभा काशी के पुस्तकालय में)
२९. वैद्यक ग्रंथ (भिनगा के पुस्तकालय में)

कहा जाता है, देवजी ने ५२ या ७२ ग्रंथों की रचना की थी। इनके ग्रंथों में सुख-सागर-तरंग, शब्द-रसायन, रस-विलास, प्रेम-चंद्रिका और राग-रत्नाकर मुख्य हैं। देवजी की कविता इनके समय में लोकप्रिय हुई थी अथवा नहीं, यह अविदित है; परंतु बिहारीलाल की कविता के समान वह वर्तमान काल में लोक-प्रचलित कम पाई जाती है। बहुत-से लोग देव को इसी कारण साधारण कवि समझते हैं, मानो लोक-प्रियता कविता-उत्तमता की कसौटी है। इस कसौटी पर कसने से तो ब्रजवासीदास के ब्रजविलास को बड़ा ही अनूठा काव्य मानना पड़ेगा। लोक-प्रचार से काव्य की उत्तमता का कोई सरोकार नहीं है। आज दिन तुकबंदी की जो अनेक पुस्तकें लोक-प्रिय हो रही हैं, वे उत्तम काव्य नहीं कही जा सकतीं। चासर और स्पेंसर भी तो लोक-प्रिय नहीं हो सके थे,

पर इससे क्या उनकी काव्य-गरिमा कम हो गई ? उत्तमता की जाँच में लोक-प्रचार का मूल्य बहुत कम है । यथार्थ कवि के लिये पंडित-प्रियता ही सराहनीय है ।

२—विहारीलाल

विहारीलाल चरचारी माथुर ब्राह्मण थे । इनका जन्म संभवतः सं० १६६० में ग्वालियर के निकट वसुआ गोविंदपुर में हुआ था । अनुमान किया जाता है कि इनकी मृत्यु १७२० में हुई । इनका एकमात्र ग्रंथ सतसई उपलब्ध है । सतसई में ७१९ दोहे हैं इसके अतिरिक्त इनके बनाए कुछ और दोहे भी मिलते हैं । कहते हैं, सतसई के प्रत्येक दोहे पर विहारीलाल को एक-एक अशर्फ़ी पुरस्कार-स्वरूप मिली थी । विहारीलाल, जयपुराधीश मिर्ज़ा राजा जयसिंह के राजकवि थे और सदा दरबार में उपस्थित रहते थे । कहते हैं, इनके पिता का नाम केशव था; परंतु ये कौन-से केशव थे, यह बात अविदित है । सतसई बड़ा ही लोक-प्रिय ग्रंथ है । इसके स्पष्टीकरण को अनेक ग्रंथ लिखे गए हैं, जिनमें से निम्न-लिखित मुख्य हैं—

१. लल्लूलाल-लिखित लाल-चंद्रिका २. सूरति मिश्र-कृत अमर-चंद्रिका ३. कृष्णकवि-कृत टीका ४. गद्य-संस्कृत टीका ५. प्रभुदयाल पांडे की टीका ६. अंबिकादत्त व्यास-विरचित विहारी-विहार ७. परमानंद-प्रणीत शृंगार-सप्तशती ८. एक टीका, जिसके केवल कुछ पृष्ठ हैं । टीकाकार का नाम अविदित है	ये टीकाएँ हमारे पुस्तकालय में मौजूद हैं

९. ईसवी-टीका
१०. हरिप्रकाश-टीका
११. अनवर-चंद्रिका
१२. प्रताप-चंद्रिका
१३. रस-चंद्रिका
१४. ज्वालाप्रसाद मिश्र की टीका
१५. गुजराती-अनुवाद
१६. अँगरेज़ी-अनुवाद
१७. उर्दू-अनुवाद
१८. पं० पद्मसिंह शर्मा-कृत संजीवन-भाष्य का प्रथम तथा द्वितीय भाग
१९. चंद्र पठान की कुंडलियाँ
२०. भारतेंदुजी के छंद
२१. सरदार कवि की टीका, जिसका नाम हमें अविदित है
२२. विहारी-बोधिनी (लाला भगवानदीन-कृत)
२३. बिहारी-रत्नाकर (बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर'-कृत)

एवं नव-दस और टीकाएँ या अनुवाद आदि।

कृष्ण कवि इनके पुत्र थे तथा बूँदी-दरबार के वर्तमान राजकवि अमरकृष्ण चौबे भी इन्हीं के वंशधरों में से हैं। कविवर देव के आश्रयदाता और बादशाह औरंगज़ेब के पुत्र, आज़मशाह ने सतसई को क्रम बद्ध-कराया था और तभी से सतसई का आज़मशाही-क्रम प्रसिद्ध हो रहा है। रत्नाकरजी का कहना है कि आज़मशाही-क्रम आज़मगढ़ बसानेवाले आज़मख़ाँ का करवाया हुआ है। सुनते हैं, सतसई की और भी कई बहुमूल्य एवं ऐतिहासिक महत्त्व से पूर्ण प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं एवं इसके कई सर्वांग-पूर्ण संस्करण निकलनेवाले

काव्य-कला-कुशलता

इस अध्याय में अब हम यह दिखलाना चाहते हैं कि उभय कवि-वर काव्य-कला में कैसे कुशल थे। पहले हम देवजी को ही लेते हैं और उनकी अनुपम काव्य-चातुरी के कुछ उदाहरण नीचे देते हैं—

१—देव

(१) पति निश्चयपूर्वक आने को कह गया था, पर संकेत-स्थान में उसे न पाकर नायिका संतप्त हो रही है। उसकी उत्कंठा बढ़ रही है। ग्रीष्म-ऋतु की दोपहरी का समय है। इसी काल नायक ने आने का वचन दिया था। कविवर देवजी ने उत्कंठिता नायिका की इस विकलता को स्वभावोक्ति-अलंकार पहनाकर सच-मुच ही अलौकिक आनंद-प्रदान करनेवाला बना दिया है। ग्रीष्म-ऋतु की दोपहरी में ठंडे स्थानों पर पड़े लोगों का ख़र्राटे लेना, वृक्षों की गंभीर छाया में पिकी का ठहर-ठहरकर बोल जाना और विकच पुष्प एवं फल-परिपूर्ण कुंजों में भ्रमर-गुंजार कितना समुचित है। विषमता का आश्रय लेकर देवजी अपने काव्य-चित्र में अपूर्व रंग भर देते हैं। कहाँ तो ग्रीष्म-मध्याह्न का ऊपर-कथित दृश्य और कहाँ भोली किशोरी का कुम्हलाया-सा वदन! बार-बार छत पर चढ़ना, हाथ की ओट लगाकर प्रियतम के आनेवाले मार्ग को निहा-रना और आते न देखकर फिर नीचे उतर आना, इस प्रकार धीरज से पृथ्वी पर चरण-कमलों का रखना कितना मर्म-स्पर्शी है। चिल-चिलाती दोपहरी में प्रखर मार्तंड की ज्योति के कारण नेत्रों की झिलमिलाहट बचाने के लिये अथवा लज्जा-संकोच से हथेली की ओट देखना कितना स्वाभाविक है। फिर निदाघ में मध्याह्न के

समय गर्मी से विकल 'घनश्याम' (काले मेघ अथवा श्यामसुंदर) का मार्ग देखना, उनके आगमन के लिये उत्कंठित होना कितना विदग्धता-पूर्ण कथन है। संभव है, विकल प्रकृति-सुंदरी ही घन-श्याम का स्वागत करने को उत्कंठित हो रही हो। कौन कहता है, हिंदी के प्राचीन कवि स्वाभाविक वर्णन करना नहीं जानते थे—

खरी दुपहरी, हरी-भरी, फरी कुंज मंजु,
गुंज अलि-पुंजन की "देव" हियो हरि जात;
सीरे नद-नीर, तरु सीतल गहीर छाँह,
सोवै परे पथिक, पुकारे पिकी करि जात।
ऐसे में किसोरी भोरी, कोरी, कुम्हिलाने मुख,
पंकज-से पायँ धरा धीरज सो धरि जात;
सौंहैं घनश्याम-मग हेरति हथेरी-ओट,
ऊँचे धाम बाम चढ़ि आवति, उतरि जात।

कोमल-कांत पदावली की कमनीयता के विषय में हमें कुछ भी नहीं कहना है—पाठक स्वयं उसका अनुभव करें, परंतु इतना हम दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि छंद में एक शब्द भी व्यर्थ नहीं है। व्यर्थ क्यों, हमारी तुच्छ सम्मति में तो प्रत्येक से विदग्धता-सरिता प्रवाहित होती है। स्वभाव और उपमा को मुख्य माननेवाले कविवर देवजी का उपर्युक्त छंद ग्रीष्म-मध्याह्न का स्वभावमय चित्रण है।

(२) लीजिए, ग्रीष्म-रात्रि का उपमा-निबद्ध वर्णन भी पढ़िए—

फटिक-सिलान सों सुधारयो सुधा-मंदिर,
उदधि-दधि को सो अधिकाई उमंगे अमंद;
बाहेर ते भीतर लौं भीति न दिखैये "देव",
दूध-कैसो फेनु फैलो आँगन-फरसबंद।
तारा-सी तरुनि तामैं ठाढ़ी झिलिमिलि होति,
मोतिन की जोति मिली मल्लिका को मकरंद;

आरसी-से अंबर मै आभा-सी उज्यारी लागै,
प्यारी राधिका को प्रतिबिंब-सो लगत चंद।

ग्रीष्म-निशा में चाँदनी की अनुपम बहार एवं वृषभानु-नंदिनी के शृंगार-चमत्कार का आश्रय लेकर कवि का सरस उद्गार बड़ा ही मनोरम है। "स्फटिक-शिला-निर्मित सौध, उसमें समुज्ज्वल फ़र्श, फ़र्श पर खड़ी तरुणियाँ, उनके अंगों की आभा और सबके बीच में श्रीराधिकाजी"—इधर धरा पर तो यह सब दृश्य है; उधर अंबर में ज्योत्स्ना का समुज्ज्वल विस्तार, तारका-मंडली की झिलमिलाहट और पूर्ण चंद्र-मंडल है। नीचे केवल राधिकाजी और उनकी सखियाँ दृष्टिगत होती हैं, तो ऊपर तारका-मंडली और चंद्र के सिवा और कुछ नहीं देख पड़ता है। अवनि से अंबर तक श्वेतता-ही-श्वेतता छाई है। कवि के प्रतिभा-पूर्ण नेत्र यह सौंदर्य-सुखमा अनुभव करते हैं—देवजी का मन इस सादृश्यमय दृश्य को देखकर लोट-पोट हो जाता है। वे विमल-विमलकर इस सादृश्य का मान लेने लगते हैं। उनकी समुज्ज्वल उपमा प्रस्फुटित होती है। विशाल अंबर आरसी का रूप पाता है। उसमें नीचे के मनोरम दृश्य का प्रतिबिंब पड़ता है। यह तारका-मंडली और कुछ नहीं, राधिकाजी को घेरनेवाली तरुणियों का प्रतिबिंब है और स्वयं चंद्रदेव राधिकाजी के प्रतिबिंब हैं। यह भाव जमते ही ऊपर दिए हुए छंद के रूप में, पाठकों के आनंद-प्रदान के लिये, अवतीर्ण होता है। इस अनुपम उपमा का देवजी ने जिस सुघराई के साथ प्रस्फुटन किया है, वह पाठक स्वयं देख लें।

जिस प्रकार उपर्युक्त छंद में देवजी ने अंबर को आरसी का रूप दिया है, उसी प्रकार उसे सुधा-सरोवर भी बनाया है और इस सुधा-सरोवर में मराल-रूप से चंद्र तैरता हुआ दिखलाया गया है। देखिए—

छीर की-सी लहरि छहरि गई छिति माँह,
जामिनी की जोति भामिनी को मान रोखो है,

× × × × ×
× × × × ×

सुधा को सरोवर-सो अंबर, उदित ससि
मुदित मराल मनु पैरिबे को पैठो है।

× × × × ×
× × × × ×

इसी प्रकार मुख-चंद्र के सम्मुखीन करने में देवजी को चंद्रमा का घोर पराभव समझ पड़ा है—उनका भय यहाँ तक बढ़ गया है कि उनके विचार से यदि चंद्रमा मुख को देख लेगा, तो उज्ज्वलता और सुंदरता में अपने को पराजित पाकर, मारे सोच के, साधारण छत्ते के समान निष्प्रभ और निर्जीववत् मर्यादा छोड़कर गिर पड़ेगा ; यथा—

घूँघट खुलत अबै उलट्ट ह्वै जैहै "देव",
उद्धत मनोज जग जुद्ध जूटि परैगो ;

× × × × ×
× × × × ×
× × × × ×
× × × × ×

तो चितै सकोचि, सोचि, मोचि मेड़, मूरछि कै,
छोर ते छपाकर छता-सो छूटि परैगो। *

---

* पूरणमासी के शरद- चंद को
लखै सुधा-रस- मत्ता-सा ;
मुख से नकाब को खोल दिया,
जगमगे प्रताप चकत्ता-सा।

(३) प्रौढ़ा धीरा नायिका का पति सामने आ रहा है। पत्नी को उसके सापराधी प्रमाणित करने का कोई उपाय नहीं है। फिर भी उसे पति के अपराधी होने का संदेह है। इस संदिग्ध अपराध को प्रहसन द्वारा जानने का नायिका बड़ा ही कौतूहल-पूर्ण प्रयत्न करती है। जिस अन्य स्त्री के साथ अपने नायक के संभोगशाली रहने का उसे संदेह है, उसका चित्र-रूप वर्णन करती हुई वह नायक से यकायक पूँछ उठती है—"अरे! वह अपने पीछे तुमने किसको छिपा रक्खा है, जो हँस रही है।" इस कथन से नायक जिस प्रकार चौंकता, उसी से सारा भेद खुल जाने की संभावना थी। वास्तव में न कोई पीछे छिपा है, न कोई हँस रहा है; परंतु मनुष्य-प्रकृति पारखी देव का कथन-कौशल भाविक अलंकार के साथ जगमगा रहा है—

रावरे पाँयन-ओट लसै पग-
    गूजरी-वार महावर ढारे,
सारी असावरी की झलकै,
    छलकै छबि घाँघरे घूम घुमारे।
आओ जू आओ, दुराओ न मोहूँ सों,
    "देवजू" चंद दुरै न अध्यारे;

मुसकान निकलकर छाय गई
    चित सुधा- लपेटा कत्ता-सा;
भर नज़र न देख सुधाकर को,
    छुट परै छपाकर छत्ता-सा।

सीतल

यह पद्य स्पष्ट ही ऊपर उद्धृत देवजी के छंद का छायानुवाद है। देखिए, व्रजभाषा में वही भाव कैसा मनोहर मालूम पड़ता है।

देखो हो, कौन-सी छैल छिपाई,
तिरीछे हँसै वह पीछे तिहारे।

प्रकाश-शृंगार का पूर्ण चमत्कार होने से चाहे आप इसे घृणित भले ही कह लें, पर कवि-कौशल की प्रशंसा आपको करनी ही पड़ेगी। द्वितीय पद में दृष्टांत और वचन-रचना होने के कारण समस्त छंद में पर्यायोक्ति अलंकार का उत्कर्ष है। प्रसाद-गुण स्पष्ट ही है। उपर्युक्त छंद में नायिका को सापराधी प्रमाणित करने के चिह्न अप्राप्त थे, अतः उसने प्रहसन-कौशल से काम लेने का निश्चय किया था; परंतु निम्न-लिखित छंद में उसको सापराधित्व का पूरा प्रमाण मिल गया है। तो भी, अपनी वस्तु का दूसरे के द्वारा इस प्रकार उपभोग होते देखकर भी, स्वार्थ-त्यागिनी पतिव्रता रमणी का स्वामी के प्रति कैसा हृदय-स्पर्शी, करुणा-पूर्ण, सुकुमार उद्गार है; देखिए—

माथे महावर पायँ को देखि
महा वर पाय सुढार ढुरीये;
ओठन पै ठन वै अँखियाँ,
पिय के हिय पैठन पीक घुरीये।
संग ही संग बसौ उनके,
अँग-अगन "देव" तिहारे लुरीये;
साथ मै राखिए नाथ, उन्हें,
हम हाथ मे चाहती चारि चुरी ये।

हे नाथ, हमें हाथ में चार चूड़ियों के अतिरिक्त और कुछ न चाहिए; आप प्रसन्नतापूर्वक उन्हें अपने साथ रखिए। आदर्श पतिव्रता स्वकीया को और क्या चाहिए? पति का बाल बाँका न हो तथा इसी से रमणी के सौभाग्य-चिह्न बने रहें, हिंदू-ललना का अब भी यही आदर्श है। अंतिम पद का भाव कितना संयत और पवित्र है एवं भाषा भी कैसी अनुप्रास-पूर्ण और हृदय-द्राविनी है;

मानो सोने की अँगूठी में हीरे का नग जड़ दिया गया हो अथवा पवित्र मंदाकिनी में निर्दोष नंदिनी स्नान कर रही हो।

(४) पून्यो प्रकास उकासि कै सारदी, आसहू पास बसाय अमावस,
दै गए चिंतन, सोच-विचार, सु लै गए नींद, छुधा, बल-बावस।
हैं उत "देव" बसंत, सदा इत हेउत है हिय-कंप महा बस।
लै सिसिरौ-निसि, दै दिन-ग्रीषम, आँखिन राखि गए ऋतु-पावस।

भावार्थ—"शारदी पूर्ण चंद्र की शुभ्र ज्योत्स्ना के स्थान पर चारों ओर अमावस्या का घोर अंधकार व्याप्त हो रहा है। सुखद निद्रा, स्वास्थ्य-सूचिका क्षुधा एवं यौवन-सुलभ बल के स्थान में संकल्प, विकल्प और चिंता रह गई है। हेमंत आया, पर प्रियतम परदेश में बसते हैं, वसंत भी वहीं है; यहाँ तो हृदय के घोर रूप से कंपायमान होने के कारण हेमंत ही है। संयोगियों की सुखमय शिशिर-निशा भी उन्हीं के साथ गई; यहाँ तो ग्रीष्म के विकलकारी दिन हैं या नेत्रों के अविरल अश्रु-प्रवाह से उनमें पावस-ऋतु देख पड़ती है।"

विरहिणी की इस कातरोक्ति में कवि ने ऋतुओं को यथाक्रम ऐसा बिठलाया है कि कहते नहीं बनता। शरद् से आरंभ करके हेमंत का उल्लेख किया है। हेमंत का दो बेर कथन कर (हैं उत देव बसंत सदा इत हेंउत है) बीच में वसंत का निर्देश मार्मिकता से ख़ाली नहीं है। ऋतु-गणना के दो क्रम हैं—एक वैद्यक के अनुसार और दूसरा ज्योतिष के अनुसार। वैद्यक-क्रम के अनुसार पौष और माघ का नाम हेमंत है। वसंत-ऋतु तो हेमंत के बाद होती है, परंतु वसंत-पंचमी माघ शुक्ला पंचमी को, ठीक हेमंत के बीच में, होती है। विरहिणी को वसंत-श्री दुःखद होगी, यही समझकर उपर्युक्त वियोग-वर्णन में, हेमंत के बीच वसंत का वसंत-पंचमी के प्रति लक्ष्यमात्र करके, शिशिर का उल्लेख किया गया

है। तत्पश्चात्, उल्लिखित हो जाने के कारण पुनः वसंत का नाम न ले, ग्रीष्म का कथन होता है और तत्पश्चात् वर्षा का वर्णन आता है। इस प्रकार देवजी षट् ऋतुओं का पांडित्य-पूर्ण सन्निवेश करते हैं। प्रियतम की परदेश में मंगलपूर्वक स्थिति विरहिणी को वसंत की ईषत् झलक दिखलाती है। यह झलक कहने-भर को है। वसंत-पंचमी में वसंत की झलक भी ऐसी ही, कहने-भर को, है; नहीं तो उस समय तो शीत ही होता है। सो विरहिणी की वसंत-झलक का वसंत-पंचमी में आरोप और उसे भी 'हैं उत देव बसंत सदा इत हेंउत' के बीच में रखना नितांत विदग्धता-पूर्ण है। शारदी पूर्णिमा और अमावस का पास-ही-पास कथन भी मनोहर है। देवजी ने दीपक के भेद, परिवृत्ति-अलंकार, के उदाहरण में उपर्युक्त छंद उद्धृत किया है।

(५) अरुन-उदोत सकरुन ह्वै अरुन नैन,
तरुनी-तरुन-तन तूमत फिरत हैं;
कुज-कुंज केलिकै नवेली, बाल बेलिन सों,
नायक पवन बन झूमत फिरत है।
अंब-कुल, बकुल समीड़ि, पीड़ि पाँड़रानि,
मल्लिकानि मीड़ि घने घूमत फिरत हैः
द्रुमन-द्रुमन दल दूमत मधुप "देव",
सुमन-सुमन-मुख चूमत फिरत है।

पवन की ललित लीला का नैसर्गिक चित्र कितना रमणीय बन पड़ा है, वह व्याख्या करके नष्ट-भ्रष्ट करना हमें अभीष्ट नहीं है। अतः पवन के शीतल, मंद, सुगंध तीनों गुणों को अन्य छंद में सुनिए तथा देखिए कि कवि की दृष्टि कितनी पैनी होती है—

सँजोगिन की तू हरै उर-पीर, वियोगिन के सु-धरै उर पीर,
कलीनु खिलाय करै मधु-पान, गलीन भरै मधुपान की भीर।

नचै मिलि बेलि-बधूनि, अँचै रसु, "देव" नचावत आधि अधीर;
तिहूँ गुन देखिए, दोष-भरे अरे ! सीतल, मंद, सुगंध समीर !

संयोगियों के उर-शल्य का तू हरण करता है ; क्या यह अच्छा काम है ? वियोगियों के हृदय में पीड़ा उपस्थित करता है ; क्या तुझे यह उचित है ? अपने शीतलता-गुण से तू दोनों ही को सताता है। कलियों को विकसित करके तू मद-पान करता है ; यह कैसा नीच कर्म है ? उधर मार्ग में भ्रमर इतने उड़ा देता है कि चलना कठिन हो जाता है। तेरी मंद चाल का यह फल भी दुःखद ही है। रस-आचमन के पश्चात् तू लताओं में नाचता फिरता है और धीरज छुटानेवाली पीड़ा उत्पन्न करता है। यह सब तेरी सुगंध के कारण होता है। तू बड़ा ही निर्लज्ज—नीच है। तेरे तीनों ही गुण दोषों से भरे हुए हैं।

(६) "अरी लज्जा, तू वास्तव में मेरा अकाज करनेवाली हो रही है। चुपके-चुपके ही तू मेरे और प्राण-से प्राणपति के बीच अंतर डाले रखना चाहती है। तेरी भौंह सर्वत्र ही चढ़ी रहती है। तुझे लज्जा भी नहीं लगती कि तू यह कैसा नीच कर्म कर रही है ? अरे ! घड़ी-भर के लिये तो तू दुख-सुख में मेरी शरीकदार (सरीकिन) हो जा। श्यामसुंदर को 'डीठि भरकर' देख तो लेने दे।" इस प्रकार का हृदय-तल को हिला देनेवाला कथन देव-सदृश कवियों के अतिरिक्त और कौन कर सकता है ? शुद्ध-स्वभावा स्वकीया लज्जा-वश अपने प्रियतम का मुख नहीं देख पाती है। लाख-लाख साहस करने पर भी लज्जा उसका बना-बनाया खेल बिगाड़ देती है। तब झुँझलाकर वह लज्जा ही को (मानो वह कोई चैतन्य जीव हो) भला-बुरा कहने लगती है—

प्रान-से प्रानपती सों निरंतर अंतर-अंतर पारत है री ;
"देव" कहा कहौ बाहेर हू घर बाहेर हू रहौ भौंह तरेरी।

लाज न लागति लाज अहे ! तुहिं जानी मैं आजु अकाजिनि मेरी ;
देखन दै हरि को भरि डीठि घरीकिनि एक सरीकिनि मेरी !

संपूर्ण छंद में वाचक-पात्र, 'प्रान-से प्रानपती' में लुप्तोपमा एवं स्थल-स्थल पर यमक और वृत्यानुप्रास का सुष्ठुन्यास दर्शनीय हो रहा है। इसी प्रकार देवजी ने प्रियतम की जानकारी को जीवित मूर्ति मान उसकी फटकार की है। नायिका को जानकारी के कारण ही दुःख मिल रहे हैं। सारी शरारत जानकारी ही की है। बस इसी आशय को लेकर नायिका कहती है—

होतो जो अजान, तो न जानतो इतीक बिथा ;
मेरे जिय जानि, तेरो जानिबो गरे परयो।

मन का अपनी इच्छा के अनुसार न लगना भी देवजी को सहन नहीं हो सका। जो मन अपने क़ाबू में नहीं है, वह अपना किस बात का, यह बात देवजी ने बड़े अच्छे ढंग से कही है—

'काहे को मेरे कहावत मेरो, जुपै
मन मेरो न मेरो कह्यो करै ?

देव-माया-प्रपंच नाटक में बिगड़े हुए दुलारे लड़के से मन की उपमा ख़ूब ही निभी है।

(७) "रस के प्रधान मनोविकार को साहित्य-शास्त्र में स्थायी भाव, उसके कारण को विभाव, कार्य को अनुभाव और सहकारी मनोविकार को संचारी वा व्यभिचारी भाव कहते हैं।" "रस को विशेष रूप से पुष्टकर जल-तरंग की नाईं जो स्थायी भाव में लीन हो जाते हैं, उन्हें व्यभिचारी भाव कहते हैं।" (रस-वाटिका) व्यभिचारी भावों की संख्या तेंतीस है। इन तेंतीसों व्यभिचारी भावों के उदाहरण साहित्य-संबंधी ग्रंथों में अलग-अलग उपलब्ध हैं, परंतु कविवर देवजी ने एक ही छंद में इन सबके उदाहरण दे दिए हैं और चमत्कार यह है कि संपूर्ण छंद में एक उत्तम भाव

भी अविकलांग रूप से प्रस्फुटित हो गया है। गर्व-स्वभावा प्रौढ़ा स्वकीया की पूर्वानुराग वियोग-दशा का चित्र देखिए और तेंतीसों संचारी भी एकत्र मनन कीजिए—

वैरागिनि किधौं, अनुरागिनि, सुहागिनि तू,
"देव" बड़भागिनि लजाति औ लरति क्यों ?
सोवति, जगति, अरसाति, हरषाति, अनखाति,
बिलखाति, दुख मानति, डरति क्यों ?
चौंकति, चकति, उचकति औ बकति,
विथकति औ थकति ध्यान, धीरज धरति क्यों ?
मोहति, मुरति, सतराति, इतराति, साह—
चरज सराहै, आहचरज मरति क्यों ?

उपर्युक्त छंद में समुच्चय-अलंकार मूर्तिमान् होकर तप रहा है। "किधौं" के पास बेचारे संदेहमान को भी थोड़ा स्थान मिल गया है। पर करामात है सारे संचारी भावों के सफल समागम में। देवजी ने इस अपूर्व सम्मिलन का सिलसिलेवार ब्योरा स्वयं ही दे दिया है, अतः पाठकों की जानकारी के लिये हम भी उसे ज्यों-का-त्यों, विना कुछ घटाए-बढ़ाए, लिखे देते हैं—

वैरागिनि निरवेद, उत्कठता है अनुरागिनि ;
गर्बु सुहागिनि जानि, भाग मद ते बड़भागिनि ।
लज्जा लजति, अमर्ष लरति, सोवति निद्रा लहि
बोध जगति, आलस्य अलस, हर्षति सु हर्ष गहि।
अनखाति असूया, ग्लानि श्रम विलख दुखित दुख दीनता ;
संकह डराति, चौंकति त्रसति, चकति अपस्मृति लीनता।
उचकि चपल, आवेग व्याधि सों विथकि सु पीरति,
जड़ता थकति, सु ध्यान चित्त सुमिरन धर धीरति ;

मोह मोहि, अवहित्थ मुरति, सतराति उग्र गति ;
इतरैबो उन्माद, साहचरजै सराह मति।
अरु आहचर्ज बहु तर्क करि, मरन-तुल्य मूरछि परति ;
कहि "देव" देव तेंतीसहू सचारिन तिय सचरति।

व्यभिचारी भावों का ज्ञान हुए बिना देवजी का पांडित्य पाठक नहीं समझ सकेंगे। सो जो महाशय इस विषय को न जानते हों, वे पहले इसे साहित्य-ग्रंथों में समझ लें। तब उन्हें इसका आनंद मिलेगा।

(८) श्रीकृष्णचंद्र की वंशी-ध्वनि का गोपियों पर जैसा प्रभाव पड़ता था, उसका वर्णन भी देवजी ने अपूर्व किया है—

मंद, महा मोहक, मधुर सुर सुनियत,
धुनियत सीस, बँधी बाँसी है री बाँसी है ;
गोकुल की कुलवधू को कुल सम्हारै ? नहीं
दो कुल निहारै, लाज नासी है री नासी है।
काहि धौं सिखावत ? सिखै धौ काहि सुधि होय ?
सुधि-बुधि कारे कान्ह डाँसी है री डाँसी है ;
"देव" ब्रजवासी वा बिसासी की चितौनि वह,
गाँसी है री, हाँसी वह फाँसी है री फाँसी है।

इतना ही क्यों—

"जागि, जपि जीहै, बिरहागि उपजी है अब ?
जी है कौन, बैरिनि बजी है बन बाँसुरी ?

अनुमान ठीक भी निकला, क्योंकि—

मीन-ज्यों अधीनी गुन कीनी, खैंचि लीनी,
"देव" बसीवार बसी डारि बसी के सुरनि सो।

यदि बंसी लगाकर पाठकों ने कभी मछली का शिकार किया है, तो वे उपर्युक्त भाव तुरंत समझ लेंगे। पर जो गोपियाँ

इस प्रकार मीनवत् अधीन हो रही हैं, उनका घर से विह्वल होकर भागना तो देखिए, कैसा सरस है—

घोर तरु नीजन विपति तरुनीजन है,
निकसीं निसंक निसि आतुर, अतंक मैं;
गनैं न कलंक मृदुलंकनि, मयंक-मुखी,
पंकज-पगन धाईं भागि निसि पंक मैं।
भूषननि भूलि पैन्हे उलटे दुकूल "देव",
खुले भुजमूल, प्रातिकूल बिधि बंक मैं;
चूल्हे चढ़े छाँड़े उफनात दूध भाँड़े,
उन सुत छाँड़े अंक, पति छाँड़े परजंक मैं।

लीजिए, रास-विलास का भी ईषत् आभास ले लीजिए; तब अन्यत्र सैर के लिये जाइए—

हौंहीं ब्रज, बृंदावन; मोही मैं बसत सदा
जमुना-तरंग श्याम-रंग-अवलीन की;
चहूँ ओर सुंदर, सघन बन देखियत,
कुंजनि मैं सुनियत गुंजनि अलीन की।
बंसीवट-तट नटनागर नटतु मो मैं,
रास के विलास की मधुर धुनि बीन की,
भरि रही भनक-बनक ताल-ताननि की
तनक-तनक तामैं झनक चुरीन की।

प्रेमी की उपर्युक्त उक्ति कितनी सार-गर्भित है, सो कहते नहीं बन पड़ता; मानो रास का चित्र नेत्रों के सम्मुख नाच रहा हो। शब्दों के बल से हृदय पर इसी प्रकार विजय प्राप्त की जाती है।

(६) प्रेमोन्मादिनी गोपिका की करुणामय कातरोक्ति का चित्रण देवजी ने बड़े ही अच्छे ढंग से किया है। एकांत-सेवन की इच्छुक चवाइनों से तंग आकर गोपी जो कुछ कहती है, उस पर

देवजी ने प्रेम-रंग का ऐसा गहरा छींटा दिया कि रंग फूट-फूट निकला है। अर्थ में वह आनंद कहाँ, जो मूल में है ? अतः वही पढ़िए—

बोरयो बंस-बिरद मैं, बौरी भई बरजत ,
मेरे बार-बार बीर, कोई पास पैठो जनि ;
सिगरी सयानी तुम, बिगरी अकेली हौं ही ;
गोहन मैं छाँड़ो, मोसों भौंहन अमेठौ जनि।
कुलटा, कलंकिनी हौं, कायर, कुमति, कूर ,
काहू के न काम की, निकाम याते ऐंठौ जनि ;
"देव" तहाँ बैठियत, जहाँ बुद्धि बढ़ै; हौं तो
बैठी हौं बिकल, कोई मोहि मिलि बैठो जनि।

(१०) प्रिय पाठक, आइए, अब आपको देवजी की भाषा-रचना और उसकी अनोखी योजना के फल-स्वरूप वर्षा में हिंडोले पर झूलते हुए प्रेमी-युगल का दर्शन करा दें। भाव ढूँढने के लिये मस्तिष्क को कष्ट न उठाना पड़ेगा; शब्द आप-से-आप, वायु की हरहराहट, बादलों की घरघराहट, झर-झर शब्द करनेवाली झड़ी, छोटी-छोटी बूँदियों का छिहरना, सुकुमार अंगों का हिंडोले पर थर्राना और कपड़ों का फरफराना और लहराना सामने लाकर उपस्थित कर देंगे। शब्दाडंबर नहीं है, पर शब्दों का निर्वाचन निस्संदेह ला-जवाब है—

सहर-सहर सोंधो, सीतल समीर डोलै ,
घहर-घहर घन घेरिकै घहरिया।
झहर-झहर झुकि झीनी झरि लायो "देव",
छहर-छहर छोटी बूँदनि छहरिया।
हहर-हहर हँसि-हँसिकै हिंडोरे चढ़ी ,
थहर-थहर तनु कोमल थहरिया ;

फहर-फहर होत पीतम को पीत पट,
लहर-लहर होत प्यारी की लहरिया।

× × ×

देवजी के जितने ही अधिक उत्तम छंद छाँटने का हम उद्योग करते हैं, हमारा परिश्रम उतना ही बढ़ता जाता है; क्योंकि देवजी का कोई शिथिल छंद हस्तगत ही नहीं होता। जिसमें देखिए, उसमें ही कोई-न-कोई अनूठा भाव लहरा रहा है। सो प्रेमी पाठक इतने ही पर संतोष करें। यदि समय मिला, तो देव की अनूठी रचनाओं का एक स्वतंत्र संग्रह हम पाठकों की भेंट करेंगे। तब तक इतने से ही मनोरंजन होना चाहिए।

२—विहारीलाल

(१) क्या आपने इंद्र-धनुष देखा है ? क्या नीले, पीले, लाल, हरे रंगों का चोखा चमत्कार नेत्रों को अनुपम आनंद प्रदान नहीं करता ? काले-काले बादलों पर इंद्र-धनुष का अनुपम दृश्य भुलाने से भी नहीं भूलता। इसी प्रकृति-सौंदर्य को विहारीलाल की सूक्ष्म दृष्टि घनश्याम की हरित बाँसुरी में खोज निकालती है। बाँसुरी तो हरित थी ही, अधर पर स्थापित होते ही ओंठों की लाली भी उस पर पड़ी। उधर नेत्रों की नीलिमा और पीतांबर की छाया रंगों की संख्या को और भी बढ़ा देती है। इंद्र-धनुष के सभी मुख्य रंग प्रकट दिखलाई देने लगते हैं। कैसा चमत्कारमय दोहा है। सब कवियों की सूझ इतनी विस्तृत कहाँ होती है ?

अधर धरत हरि के, परत ओंठ-दीठि-पट-जोति;
हरित बाँस की बाँसुरी इंद्र-धनुष-दुति होति। *

* यद्यपि विहारीलाल का इंद्र-धनुष अनुपम है और हिंदी के अन्य किसी कवि ने वैसा इंद्र-धनुष नहीं दिखलाया है, पर सीतल का पंच-रंग बाँधनू बँधा हुआ लहरिया जिस इंद्र-धनुष की याद दिलाता है, वह बुरा नहीं है—

(२) गोप-वधू दहेड़ी उतारने चली । दधि-पात्र छीके पर रक्खा था । छीका उतारने को ग्वालिन ने अपने दोनों हाथ उठाए और छीके का स्पर्श किया । गोप-वधू का इस अवसर का सौंदर्य-चित्र कविवर बिहारीलाल ने चटपट खींच लिया । कुछ समय तक उसी प्रकार खड़ी रहने की ग्वालिन के प्रति कवि की आज्ञा कितनी विद्ग्धता-पूर्ण है ? स्वभावोक्ति का सामंजस्य कितना सुखद है ?

अहे ! दहेड़ी जनि छुवै, जनि तू लेहि उतारि ;
नीके ही छीको छुयो, वैसे ही रहु नारि !

(३) कहते हैं, वैर, प्रीति और व्याह समान में ही फबता है । सो हलधर के वीर (कृष्ण, बैल) और वृषभानुजा (राधा, गाय) की प्रीति समान ही है—कोई भी घट-बढ़कर नहीं है । कवि आशीर्वाद देता है कि यह जोड़ी चिरजीवी (चिरंजीवी वा तृण चरकर जीवन-यापना करनेवाली) बनी रहे । स्नेह (प्रेम तथा घृत) भी खूब गंभीर उतरे । कैसी रसीली चुटकी है—

चिरजीवौ, जोरी जुरै, क्यो न सनेह गँभीर ?
को घटि ? ये वृषभानुजा, वे हलधर के बीर ।

वृषराशि-स्थित भानु की तीक्ष्णता तथा हलधर का क्रोध प्रसिद्ध ही है, सो कवि ने श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग बड़ी ही चतुरता के साथ किया है । सम का बड़ा ही समयोचित सन्निवेश है ।

(४) कहते हैं, फ़ारस का कोई कवि ब्रज में एक बालिका का "साँकरी गली में माय, काँकरी गड़तु हैं" वचन सुनकर भाषा की मधुरता से मुग्ध हो गया था—उसको अपने भाषा-संबंधी माधु-

---

पँचरँग बाँधनू बँधा हुआ सुंदर रस-रूप लहरिया है ;
कुछ इंद्र-धनुष-सा उदय हुआ नवरतन-प्रभा-रँग-भरिया है ।
आरी-सी धारी कहर करैं, प्यारे रस-रूप ठहरिया है ;
कहु अब क्या बाकी ताब रहै, जानी ने सजा लहरिया है ।

याभिमान का त्याग करना पड़ा था। विहारीलाल भाषा से भी बढ़कर भाव के भावुक हैं। कंकरीली गली में चलने से प्रियतमा को पीड़ा होती है। वह 'नाक मोरि सीबी' करती है। यह प्रियतम के प्रभूत आनंद का कारण है। रसिक-शिरोमणि विहारीलाल उसी 'सीबी' को सुनने और नाक की मुड़न को देखने के लिये फिर-फिर भूल करके उसी रास्ते से निकलते हैं। फ़ारस का कवि एक अपरिचित बालिका के कथन-मात्र को सुनकर मुग्ध हुआ था। पर विहारीलाल परिचित प्रियतम को संपूर्ण युवती के अंग-संकोच एवं सीबी-कथन से मुग्ध कराते हैं—

नाक मोरि सीबी करै जिते छबीली छैल,
फिरि-फिरि भूलि वही गहै प्यौ ककरीली गैल।

(५) 'रहट-घड़ी' के द्वारा सिंचाई का काम बड़ी ही सरलता से संपादित होता है। अनेक घड़े मालाकर पुष्ट रज्जु से परिवेष्टित रहते हैं एवं कुएँ में काष्ठ के सहारे इस भाँति लटका दिए जाते हैं कि एक जल-तल पर पहुँच जाता है। इसी को घुमाकर जब तक बाहर निकालते हैं, तब तक दूसरा-तीसरा डूबा करता है। इसी भाँति एक निकलता है, दूसरे का पानी नाया जाता है, तीसरा डूबता रहता है, चौथा डूबने के पूर्व पानी पर तैरता रहता है। नेत्र-रूपी रहट भी छवि-रूप जल में इसी दशा को प्राप्त हुआ करते हैं। इसी भाव को कवि ने खूब कहा है—

हरि-छबि-जल जब ते परे, तब ते छिनु बिछुरे न ;
भरत, ढरत, बूड़त, तरत रहट-घरी लौं नैन।

(६) यमकालंकार का प्रयोग भी कहीं-कहीं पर विहारीलाल ने बड़ी ही मार्मिकता से किया है। 'उरबसी' के कई अर्थ हैं— (१) अप्सरा-विशेष, (२) मनोमोहिनी, हृदय-विहारिणी तथा (३) आभूषण विशेष। इन तीनों ही अर्थों में नीचे-लिखे दोहे में उर्वशी का संतोषदायक सन्निवेश हुआ है—

तो पर वारौं उरबसी सुनु राधिके सुजान,
तू मोहन के उर-बसी, ह्वै उरबसी-समान ।

और भी लीजिए—

कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय ;
वह खाए बौरात नर, यह पाए बौराय ।

इसमें प्रथम कनक का अर्थ है सोना और दूसरे का अर्थ है धतूरा ।

(७) अंक के सामने बिंदु रखने से वह दशगुणा अधिक हो जाता है, यह गणित का साधारण नियम है । बिंदी या बेंदी स्त्रियाँ शृंगार के लिये मस्तक में लगाती हैं । सो गणित के बिंदु और स्त्रियों की बिंदी दोनों के लिये समान शब्द पाकर बिहारीलाल ने मनमाना काव्यानंद लूट लिया । गणित के बिंदु-स्थापन से संख्या दशगुणी हो जाती है, तो नायिका के बेंदी देने से 'अगनित' ज्योति का 'उदोत' होने लगता है—

कहत सबै—बेंदी दिए आँक दसगुनो होत ;
तिय-लिलार बेंदी दिए अगनित होत उदोत ।

(८) तागा जब उलझता है, तो प्रायः टूट ही जाता है । चतुर लोग ऐसी दशा में तागे को फिर जोड़ लेते हैं; परंतु इस जोड़ा-जोड़ी में गाँठ ज़रूर ही पड़ जाती है । बेचारा तागा टूटता है, फिर जोड़ा जाता है और उसी में गाँठ भी पड़ती है—उलझना, टूटना और जोड़-गाँठ सब उसी को भुगतनी पड़ती है । पर यदि नेत्र उलझते हैं, तो कुटुंब के टूटने की नौबत आती है । उलझता और है और टूटता और है । गाँठ अलग ही, दुर्जन के हृदय में जाकर, पड़ती है, यद्यपि जुड़ने का काम किसी और 'चतुर-चित्त' में होता है । एक के मत्थे कुछ भी नहीं है । दृगें उलझते हैं, कुटुंब टूटता है, चतुर-चित्त जुड़ते हैं और दुर्जन

के हृदय में गाँठ पड़ती है। सभी अन्यत्र हैं। असंगति का मनोरम चमत्कार है—

दृग उरझत, टूटत कुटुंब, जुरत चतुर-चित प्रीति ;
परति गाँठि दुरजन-हिए, नई दई यह रीति।

सचमुच विहारीलाल, यह 'नई रीति' है। पर आपका तागे का उल्लेख न करना खटकता है।

(९) भृंग क्या गुंजार करते हैं मानो घंटे बज रहे हैं, मकरंद-बिंदु क्या ढुलक रहे हैं मानो दान-प्रवाह जारी है; तो यह मंद-मंद कौन चला आ रहा है ? अरे जानते नहीं, कुंज से बहिर्गत होकर कुंजर के समान यह समीर चला आ रहा है। कैसा उत्कृष्ट और पवित्र रूपक है—

रनित भृंग-घंटावली, झरत दान मधु-नीर ;
मंद-मंद आवत चल्यो कुंजर-कुंज-समीर।

(१०) नायिका के मुख मंडल पर केसर की पीली आड़ (लकीर) और लाल रंग की बिंदी देखकर कवि को चंद्र, बृहस्पति और मंगल ग्रहों का स्मरण होता है। मुख-चंद्र, आड़ (केसर)-बृहस्पति और सुरंग-बिंदु-मंगल को एक स्थान पर पाकर कवि उस योग को ढूँढ़ता है, जिससे संसार रसमय हो जाय। आख़िर उसे स्त्री-राशि का भी पता चलता है। फिर क्या कहना है, लोचन-जगत् सचमुच रसमय हो जाता है। रूपक का पूर्ण विकास इस सोरठे में भी ख़ूब हुआ है—

मंगल बिंदु सुरंग, मुख ससि, केसरि-आड़ गुरु ,
एक नारि लिय संग, रसमय किय लोचन-जगत।

(११) कविवर विहारीलाल के किसी-किसी दोहे में अलंकारों का पूर्ण चमत्कार दिखलाई पड़ता है। देखिए, आगे लिखे दोहे में उनका षोड़श-कला-विकास कैसा समीचीन हुआ है—

यह मैं तो ही मैं लखी भगति अपूरब बाल,
लहि प्रसाद-माला जु भो तन कदंब की माल।

यह दोहा-छंद है। इसका लक्षण यह है—

प्रथम कला तेरह धरौ, पुनि ग्यारह गनि लेहु;
पुनि तेरह ग्यारह गनौ, दोहा-लच्छन एहु।

इस दोहे में ३५ अक्षर हैं, जिनमें १३ गुरु और २२ लघु हैं; अतएव इस दोहे का नाम 'मद कल' हुआ।

वर्ण्य विषय परकीया का भेदांतर लक्षिता नायिका है। अर्थ-स्पष्टता, सुंदर शब्दों के प्रयोग और वर्णन-शैली की उत्तमता से इसमें अर्थ-व्यक्ति एवं प्रसाद गुण भी हैं। उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त शृंगारमय वर्णन होने के कारण इसमें कैशिकी वृत्ति है।

अलंकार तीन प्रकार के होते हैं—अर्थालंकार, शब्दालंकार और चित्रालंकार। अंतिम दो में तो केवल शब्दाडंबरमात्र रहता है। भाषा-साहित्य के आचार्य भी इनके प्रयोग को अच्छा नहीं समझते हैं, यहाँ तक कि शब्दालंकार-मूलक काव्य के विषय में देवजी की राय है—

अधम काव्य तातें कहत कवि प्राचीन, प्रवीन।

इसी प्रकार—

चित्र-काव्य को जो करत, बायस चाम चबात।

इस दोहे में एक भी अक्षर व्यर्थ नहीं लाया गया है और टवर्ग और मिले हुए अक्षरों का प्रयोग न होने से दोहे का बाह्य रूप बहुत ही मनोरम हो गया है—दोहा पढ़ने में बहुत ही श्रुति-मधुर लगता है। शब्दालंकार के कम रहते हुए भी इसमें अर्थालंकारों की भरमार है। किसी कामिनी की सहज-सुंदरता में जो बात है, वह कृत्रिम अलंकारों से क्या सिद्ध होगी? स्वयं विहारीलाल ही की राय में—

मानहुँ तन-छबि अच्छ को स्वच्छ राखिबे काज,
दग-पग पोंछन को किए भूषण पायंदाज।

देखा, विहारीलालजी इन कृत्रिम आभूषणों के विषय में क्या कहते हैं ? अस्तु। हम कविता-कामिनी की सहज-सुंदरता को अर्थालंकारों में पाते हैं। अर्थालंकारों की सहज झलक कविता-कामिनी के अपार सौंदर्य को प्रकट करती है। हर्ष की बात है, विहारीलाल के इस दोहे में हम-जैसे अल्पज्ञ को भी एक-दो नहीं, १६ अलंकार देख पड़ते हैं। अब हम उन सबको क्रम से पाठकों के सामने उपस्थित करते हैं। संभव है, इनमें अनेकानेक अलंकार ठीक न हों; पर पाठकों को चाहिए कि जिन पर उन्हें संदेह हो, उन्हें वे पहले भली भाँति देख लें और फिर भी यदि वे ठीक न जँचें, तो वैसा प्रकट करने की कृपा करें।

दोहे का स्पष्टार्थ यह है कि किसी नायिका को किसी नायक ने प्रसाद-स्वरूप एक माला दी। माला पाने से नायिका का शरीर कदंब के समान फूल उठा अर्थात् उसे रोमांच हो आया। इसी को लक्ष्य करके नायिका की सखी उससे कहती है कि हे बाले, मैंने यह तेरी अपूर्व भक्ति जान ली है। ये वचन नायिका के प्रति नायक के भी हो सकते हैं।

उपर्युक्त अर्थ का अनुसरण करते हुए दोहे में निम्न-लिखित अलंकार देख पड़ते हैं—

(१) "मैं यह तो ही मैं लखी भगति अपूरब बाल" का अर्थ यह है कि ऐसी भक्ति और किसी में नहीं देखी गई है अर्थात् इस प्रकार की भक्ति में 'तेरे समान तू ही है,' जिससे इसमें 'अनन्वयालंकार' हो गया।

(२) एक मालामात्र के मिलने से सारे शरीर का मालावत् (कंटकित) हो जाना साधारण भक्ति से नहीं होता। "अपूरब भक्ति"

ही से होता है अर्थात् अपूर्व साभिप्राय विशेषण है। अतएव 'परिकरालंकार' हुआ।

(३) "मैं यह तो ही मैं लखी" स्पष्ट सूचित करता है कि इस नायिका के अतिरिक्त और किसी नायिका में ऐसी भक्ति नहीं पाई जाती है अर्थात् सब कहीं इस गुण का वर्जन करके वह इसी नायिका में ठहराया गया, जिससे 'परिसंख्या' हुई।

(४) सारे शरीर के कदंबवत् फूल उठने के लिये (रोमांच हो जाने के लिये) केवल एक प्रसाद-माला की प्राप्ति पर्याप्त कारण न था, तो भी शरीर कंटकित हुआ. अर्थात् अपूर्ण कारण से पूर्ण कार्य हुआ। यह 'द्वितीय विभावना' का रूप है।

(५) प्रसाद में माला प्रायः भगवद्भक्तों को दी जाती है, जिससे भक्ति की वृद्धि होकर विषय-वासनाओं से चित्त हट जाता है; परंतु नायिका को जो माला मिली है, उससे इस ओर उसका अनुराग और बढ़ा है अर्थात् कार्य कारण के ठीक विपरीत हुआ। इससे यह 'छठी विभावना' हुई।

(६) माला मिलने से नायिका का शरीर भी मालावत् हो गया। मालावत् होना माला का गुण है। वही अब शरीर में आरोपित हुआ है अर्थात् कार्य ने कारण का गुण ग्रहण किया, जिससे 'द्वितीय सम' हुआ।

(७) नायिका को माला मिली। यह उसके लिये गुण था; परंतु उसके मिलने से शरीर रोमांचित हुआ, जिससे उसका अनुराग सखी पर लक्षित हो गया। अतः यह बात उसके लिये दोष हो गई। इस प्रकार गुण से दोष हुआ, जिससे 'लेशालंकार' हुआ।

पर यदि रोमांच का होना नायक को मालूम हुआ है, तो यह उसके लिये गुण ही है अर्थात् गुण से गुण यह भी 'लेश' ही रहा।

(८) दोहे से साफ़ झलकता है कि सखी या नायक नायिका को यह इंगित कराता है कि तुम्हारा अनुराग विदित हो गया है। परंतु यह कार्य 'भगति अपूरब', 'लहि प्रसाद-माला जु भो तन कदंब की माल' आदि छल-वचनों से पूरा किया गया है, जिससे यह 'पिहित-अलंकार' भी हुआ। किसी के मन की बात जानकर उसे युक्ति से इंगित करा देना पिहित है।

(९) जिस प्रकार पिहित हुआ, उसी प्रकार 'पर्यायोक्ति' भी होती है; क्योंकि सखी या नायक ने यह स्पष्ट नहीं कहा कि तुम्हें रोमांच हुआ है, वरन् रोमांच का पर्याय 'तन कदंब की माल' कहा और इंगित करा दिया कि उसका अनुराग प्रकट हो गया है। यह रूप 'द्वितीय पर्यायोक्ति' का है।

(१०) शरीर में माला धारण करना एक कारण था। इससे सारे शरीर का माला होना (कंटकित होना) तादृश कार्य हुआ। कार्य और कारण की ऐसी समानता होने से यह 'हेतु-अलंकार' भी हुआ।

(११) माला शरीर की शोभा बढ़ाती है; परंतु सखी के समीप उसी माला के पहनने से लक्षिता नायिका को लज्जित होना पड़ा, क्योंकि रोमांच होने से उसका अनुराग प्रकट हो गया। इस प्रकार 'हितकारी वस्तु से अहित हुआ।' अतएव 'तुल्ययोग्यता का दूसरा रूप' हो गया।

(१२) माला पहनने से शरीर ने अपना पूर्व रूप शरीरत्व छोड़कर माला-रूप धारण किया। अतएव 'तद्गुण' भी स्पष्ट हो गया।

(१३) इसी प्रकार शरीर, माला का साथ पाकर, उसी के समान शोभित हुआ अर्थात् संगति का गुण आया। इससे 'अनुगुन' भी हुआ।

(१४) दोहे के चतुर्थ चरण में 'धर्म-वाचक-लुप्तोपमा' स्पष्ट ही है।

(१५) शब्दालंकारों में छेकानुप्रास और यमक भी प्रकट हैं।

(१६) संपूर्ण दोहे में अद्भुत-रसवत् सामग्री होते हुए रसवत् अलंकारों के भेदांतरों में अद्भुत-रसवत् अलंकार भी सतसई-टीकाकारों ने स्वीकार किया है।

इस प्रकार उपर्युक्त दोहे में हमने १६ अलंकार दिखलाए हैं। गौण रूप से अभी और भी कई अलंकार इसमें निकल सकते हैं।

बहुदर्शिता

कवि का संसार-दर्शन बड़ा ही विस्तृत होता है। प्रत्येक पदार्थ पर कवि की पैनी दृष्टि पड़ती है। प्रत्येक समय उसके नेत्रों के सामने नाना प्रकार के दृश्य नृत्य किया करते हैं। सर्वत्र ही वह सौंदर्य का अन्वेषण किया करता है। अलौकिक आनंद-प्रदान के प्रति पद-पद पर उसका प्रशंसनीय प्रयत्न होता रहता है। कवि का संसार-ज्ञान जितना ही विस्तृत और अनुभूत होता है, उतनी ही उसकी कविता भी चमत्कारिणी होती है। हर्ष का विषय है, देवजी का संसार-ज्ञान अत्युच्च अवस्था को पहुँचा हुआ था। यह बात उनके काव्य-ग्रंथों से प्रमाणित है। यहाँ पर हम उनके इस प्रकार के ज्ञान का किंचित् दिग्दर्शन कराते हैं—

१—देव

(१) भारतांतर्गत विविध प्रदेशों से उनका किसी प्रकार से परिचय अवश्य था। यह परिचय उन्होंने देश विशेष की स्वयं यात्रा करके प्राप्त किया था या और लोगों से सुनकर, यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता; परंतु इसमें संदेह नहीं कि उनका दृष्टि-क्षेत्र विस्तृत अवश्य था। काश्मीर, तैलंग, उत्कल, सौवीर, द्रविड़, भूटान आदि देशों की तरुणियों का वर्णन देवजी ने अपने ग्रंथों में विस्तारपूर्वक किया है। दक्षिण देश की रमणियाँ संगीत-विद्या में कुशल होती हैं, यह बात देवजी निश्चयपूर्वक जानते थे। तभी तो वे कहते हैं—

साँवरी, सुघर नारि महा सुकुमारि सोहै,
मोहै मन मुनिन को मदन-तरंगिनी;

अनगने गुनन के गरब गहीर मति,
निपुन सँगीत-गीत सरस प्रसगिनी।
परम प्रवीन बीन, मधुर बजावै-गावै,
नेह उपजावै, यों रिझावै पति-संगिनी;
चारु, सुकुमार भाव मोहन दिखाय "देव",
विंगानि, अलिंगन बतावति तिलंगिनी।

(२) विविध देशों की जानकारी रखते हुए भी देवजी की दृष्टि केवल धनी लोगों के प्रासाद ही की ओर नहीं उठती थी—निर्धनों के नग्न निवास-स्थान में भी देवजी सौंदर्य खोज निकालते थे। देवजी समदर्शी थे। निम्न-श्रेणी की जातियों में भी वे एक सत्कवि के समान कविता-सामग्री पाते थे। लाल रंग का कपड़ा पहने, डलिया में मछलियाँ रक्खे कहारिनों को मछली बेचते पाठकों ने अवश्य देखा होगा, पर उस दृश्य का अनोखा सौंदर्य पहले-पहल देवजी को प्राप्त हुआ। उन्होंने कृपया छंद-बद्ध करके वही सौंदर्य सबके लिये सुलभ कर दिया। सौंदर्य-अन्वेषण में वे निर्धन कहार की भी उपेक्षा न कर सके—

जगमगे जोबन जगी हैं रँगमगी जोति,
लाल लहँगा पै लाली ओढ़नी बहार की;
झाऊ की झबरिया मैं सफरी फरफराति,
बेचति फिरति, बानी बोलै मनहार की।
चाहेऊ न चाहै चहुँ ओर ते गहत बाहँ,
गाहक उमाहैं, राहैं रोकै सुविहार की;
देखत ही मुख बिख-लहरि-सी आवै,
लाग्यो जहर-सी हाँसी करे कहर कहार की।

पर अत्युत्कृष्ट राधिका के विलास-प्रासाद का उदात्त वर्णन भी देवजी की बुद्धि से वैसे ही विलसित है—

पामरिन पामर परे हैं पुर पौरि लग,
धाम-धाम धूपनि को धूम धुनियतु है;
अतर, अगर, चारु चोवा-रस, घनसार
दीपक हजारन अँध्यार लुनियतु है।
मधुर मृदग, राग-रग की तरंगन मैं
अग-अग गोपिन के गुन गुनियतु है;
"देव" सुख-साज, महराज, व्रजराज आज
राधाजू के सदन सिधारे सुनियतु है।

(३) समय का वर्णन भी देवजी ने अत्युत्कृष्ट किया है। ऋतुओं का क्रम-पूर्ण कथन बड़ा ही रमणीय हुआ है। निशा और दिवस की सारी सुंदरता देवजी ने दिखलाई है। 'अष्टयाम' ग्रंथ की रचना करके उन्होंने घड़ी-प्रहर तक का विशद विवेचन किया है। समय-प्रवाह में बहनेवाले होली-दिवाली आदि उत्सवों का वर्णन भी देवजी से नहीं छूटा है। अत्युत्कृष्ट शारदी ज्योत्स्ना का एक उदाहरण लीजिए—

आस-पास पुहिमि प्रकास के पगार सूझै,
बन न अगार, डीठि गली औ निबर तैं;
पारावार पारद अपार दसौ दिसि बूड़ी,
चंड ब्रह्मंड उतरात विधुवर तैं।
सरद-जोन्हाई जह्नु-जाई धार सहस
सुधाई सोभा-सिंधु नभ सुभ्र गिरवर तैं;
उमड़ो परत जोति-मडल अखंड सुधा-
मंडल, मही मैं विधु-मंडल-विवर तैं।

फिर इसी ज्योत्स्ना की 'छीन छवि' एवं सूर्योदय के पूर्व प्राची दिशा की रक्त आभा पर कवि की प्रतिभा का विकास देखिए—

वा चकई को भयो चित-चीतो, चितौत चहूँ दिसि चाय सो नाची;
ह्वै गई छीन छपाकर की छवि, जामिनि-जोन्ह जगौ जम जांची।

बोलत बैरी बिहंगम "देव" सु बैरिन के घर संपति साँची ;
लोहू पियो जु वियोगिनी को, सु कियो मुख लाल पिसाचिनि प्राची ।

(४) देवजी संगीत-शास्त्र के पूर्ण आचार्य थे । 'राग-रत्नाकर' ग्रंथ इसका प्रतिभा-पूर्ण प्रमाण है । राग-उपराग, उनकी भार्याएँ, उनके गाने का समय, इन सबका विवेचन देवजी ने पूर्ण रीति से किया है । बाजों का हाल भी देवजी को विदित था । जिह्वा की उपमा उन्होंने तंत्री से दी है एवं मृदंग, मुहचंग, सितार आदि प्रायः सभी बाजों का उन्होंने उल्लेख किया है । फूटे ढोल की समता निस्सत्त्व जीव से कितनी समीचीन है—

राजत राज-समाज मैं, बाजत, साजत है मुख-साज घनेरो ;
आपु गुनी, गल बाँधे गुनी के, सुबोल सुनाय कियो जग चेरो ।
खाल को ख्याल मढ्यो बजै ढोल ज्यों, "देव" तू चेतत क्यों न सबेरो;
आखिर राग न रंग, न तौ सुर फूटि गए फिर काठ को घेरो ।

राग-रत्नाकर से उदाहरण देना व्यर्थ होगा; प्रेमी पाठक उसे स्वयं पढ़ सकते हैं ।

(५) देवजी संसार-माया-रत पुरुषों की सारी क्रियाओं पर दृष्टि रखते थे । वे त्रिकुटी के अखाड़े में भृकुटी नटी को नाचते देखते थे । संग्राम में लोहू देखकर सूर का और भी क्रुद्ध होना उन्हें ज्ञात था । हिमाचल बयारि की शीतलता उनकी अनुभूत थी । कल की पुतलियों का नाचना उन्होंने देखा था । उलट-पलटकर तमोली पानों की रक्षा कैसे करता है, यह भी वे जानते थे । पतंग का उड़ना, फिरकी का फिरना, आतिशबाज़ी का छूटना, बरात का सत्कार एवं बाज़ार में व्यापार का प्रसार उन्हें अवगत था । अमीरी का उच्च-से-उच्च सामान उनका पहचाना था । मानुषी प्रकृति के तो वे पूरे पारखी थे । इस विषय में उनसे पारंगत कवि विरले ही पाए जाते हैं । नेत्रों पर रूप का, श्रवणों पर ध्वनि का एवं जिह्वा पर रस का

कैसा प्रभाव होता है, इसका उद्घाटन देवजी ने अद्भुत रीति से किया है। वे कुलवधुओं के गुण-दोष वैसी ही व्यापकता से जानते थे, जैसे नाइन, तेलिन, तमोलिन, चमारिन आदि नीच श्रेणी की स्त्रियों के। देवजी का जगद्दर्शन अत्यंत विस्तृत था। वे लौकिक बातों के पूर्ण पंडित थे। देव-माया-प्रपंच नाटक इसका प्रमाण है।

(६) देवजी विविध शास्त्रों के भी ज्ञाता जान पड़ते हैं। वात, कफ आदि प्रकृतियों के ज्ञाता, ज्वर, त्रिदोष, सन्निपात आदि रोग-सूचक शब्दों के प्रयोक्ता, पारा तथा अन्य कई औषधियों के प्रशंसक और वैद्यक-विषय पर स्वतंत्र ग्रंथ लिखनेवाले देवजी निश्चय ही वैद्यक-शास्त्र से अपरिचित न थे। स्थल-स्थल पर योग, संक्रांति, ग्रहण एवं फलित ज्योतिष का उल्लेख करनेवाले, प्रकाश की ग्रह-परिवेष से उपमा देनेवाले देवजी ज्योतिष के ज्ञाता जान पड़ते हैं। संस्कृत-महाभारत एवं भागवत आदि महापुराणों से उनका परिचय था, यह तो स्पष्ट ही है। देव-चरित्र लिखकर उन्होंने अपने इतिहासज्ञ होने का प्रमाण आप-ही-आप दे दिया है। घुणाक्षर एवं भृंगी-कीट आदि न्याय तथा अच्छी-अच्छी नीति-सूक्तियों के प्रवर्तक, देवजी नीतिज्ञ अवश्य ही थे। उन्होंने 'नीति-शतक' ग्रंथ की रचना भी की है। देवजी तत्त्वज्ञ वेदांती भी थे। वैराग्य-शतक इसका प्रमाण है।

(७) देवजी रसिक और प्रेमी पुरुष थे। वे अभिमानी पुरुष थे या नहीं यह बात विवाद-ग्रस्त है। परंतु उनके उच्च आत्म-गौरव में किसी को संदेह नहीं। गुणग्राही चाहे हिंदू हो या मुसलमान, वह समान रीति से उनका आदर-पात्र था। रस-विलास और कुशल-विलास को यदि वे हिंदू-नृपतियों के लिये बनाते हैं, तो भाव-विलास और सुख-सागर-तरंग मुसलमानों के लिये। पर

इन सभी ग्रंथों में वे अपने आदर्श से कहीं भी स्खलित नहीं हुए हैं। मुसलमानों के लिये लिखे जाने के कारण उन्होंने सुख-सागर-तरंग या भाव-विलास की भाषा में विदेशी भाषाओं के शब्दों का अनुचित सम्मिश्रण कहीं भी नहीं होने दिया है। पर वे विदेशी भाषाओं के शब्द-समूह से परिचित समझ पड़ते हैं; क्योंकि जहाँ कहीं उन्होंने अन्य भाषाओं के शब्दों का प्रयोग किया है, वहाँ पर उनका प्रयोग मुहाविरे और अर्थ से ठीक ही उतरा है।

(८) देवजी केवल कवि ही नहीं थे—उन्होंने काव्य-शास्त्र में वर्णित रीति का वर्णन भी बड़े मार्के का किया है। वे कविता के प्रधान आचार्यों में से हैं। उन्होंने प्राचीन नायिका-भेद के अतिरिक्त अपना नवीन नायिका-भेद-क्रम स्थिर किया और इसमें उन्हें सफलता भी हुई। उन्होंने गुण के अनुसार सात्विक, राजस और तामस नायिकाएँ स्वीकार कीं तथा प्रकृति के अनुसार कफ, वात एवं पित्त का क्रम रक्खा। सत्त्व के हिसाब से नायिकाएँ सुर, किन्नर, यक्ष, नर, पिशाच, नाग, खर, कपि और काग-नामक श्रेणियों में विभक्त हुईं एवं देश के अनुसार उनकी संख्या अनंत मानी गई। कामरूप, मरु, गुजरात, सौवीर, उत्कल आदि देशों की रमणियों के उदाहरण कवि ने अपने ग्रंथ में दिए हैं।

शेष नायिका-भेद और काव्य-प्रणाली प्राचीन प्रथा के अनुसार वर्णित है, यद्यपि कहीं-कहीं पर देवजी नूतनता प्रकट करते गए हैं। उन्होंने पदार्थ-निर्णय में तात्पर्य-नामक एक शक्ति विशेष का उल्लेख किया है। उनके ग्रंथों में काव्य-शास्त्र की प्रायः सभी जाननेवाली बातों का वर्णन आ गया है। पाठक रीति-ग्रंथ देखकर ही संतोष प्राप्त कर सकते हैं। स्थल-संकोच से यहाँ पर उदाहरण नहीं दिए जा सकते।

चित्र-काव्य एवं पिंगल-शास्त्र का निरूपण भी देवजी ने अनूठे

ढंग से किया है। संस्कृत-पिंगलकारों के समान उन्होंने भी सूत्र-रचनाएँ करके पिंगल को याद करने योग्य बना दिया है। जिस प्रकार परकीया के प्रेम की घोर निंदा करके भी देवजी उसका उत्तम वर्णन करने को बाध्य हुए हैं, ठीक उसी प्रकार चित्र-काव्य को बुरा बताते हुए भी, आचार्य होने के कारण, उनको चित्र-काव्य का वर्णन करना पड़ा है। सत्कवि जिस विषय को उठाता है, उसका निर्वाह अंत तक उत्तमतापूर्वक करता है। उसी के अनुसार देवजी ने अनिच्छित विषय होने पर भी चित्र-काव्य पर प्रशंसनीय परिश्रम किया है। अनेक प्रकार के प्रचलित कवि-संप्रदाय से भी देवजी परिचित थे। कवियों ने प्रकृति में न घटनेवाली भी ऐसी अनेक ~~रूढ़ियाँ स्थिर~~ कर ली हैं, जिनका वे काव्य में प्रयोग करते हैं। इन्हीं को कवि-संप्रदाय कहते हैं। स्वाति-बुंद के शुक्ति-मुख में पतित होने से मोती हो जाना या तरुणी विशेष के पाद-प्रहार से अशोक-वृक्ष का फूल उठना ऐसे ही कवि-संप्रदाय हैं। इनका प्रयोग देवजी ने प्रचुर परिमाण में किया है। उदाहरण के लिये निम्न-लिखित छंद पढ़िए—

आए हौ भामिनि भेटि कुरौ-लगि, फूल धरे अनुकूल उदारै ;
केसरि जानि तुम्हैं जु सुहागिनि आसव लै मुख सों मुख डारै।
कीनी सनाथ हौ नाथ, मयाकरि; मो बिन को, इतनी जु बिचारै ;
होय असोक सुखी तुम लौ अबला तन को अब लातन मारै।

व्यंग्य वचन से प्रौढ़ा अधीरा कहती है कि भामिनी ने तुमको कुरवक(कुरौ)-वृक्ष जानकर भेंटा, इससे तुम फूल उठे हो। उसी प्रकार बकुल (केसर)-वृक्ष जानकर तुमको मद-पान करा दिया है, जिससे तुम्हारा शोक जाता रहा है। अब तुम्हें अशोक-वृक्ष के समान सुखी होना शेष है; तात्पर्य यह कि तुम पूर्ण रूप से दंड्य हो। कुरवक, बकुल और अशोक के विषय में जो

निम्न-लिखित कवि-संप्रदाय प्रसिद्ध है, उसी का प्रयोग देवजी ने किया है—

पादाहतः प्रमदया विकसत्यशोकः
शोकं जहाति बकुलो मुखसीधुसिक्तः ;
आलिंगितः कुरवकः कुरुते विकास-
मालोकितस्तिलक उत्कलिको विभाति।

(६) देवजी प्रेमी परंतु उदार, रसिक परंतु शांत प्रकृति के पुरुष थे। ऊपर कहा जा चुका है कि उनमें लौकिक ज्ञान की मात्रा विशेष रूप से थी। उन्होंने जिस प्रकार के सुखमय जीवन पर चलने का उपदेश दिया है, उससे उनका प्रगाढ़ और परिपक्व अनुभव झलकता है। उनके 'व्यवहार्य जीवन-मार्ग' पर ध्यान देने से उनकी बहुदर्शिता का निष्कर्ष निकलता है। देखिए—

जीवन को फल जग-जीवन को हितु करि
जग में भलाई करि लेयगो सु लेयगो।

और भी देखिए—

पैयै असीस, लचैयै जो सीस ; लची रहियै, तब ऊँची कहैयै।

जगत् के बाबत देवजी का कहना है—

कबहू न जगत कहावत जगत है।

सांसारिक जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिये निम्न-लिखित छंद कैसा अच्छा आदर्श है—

गुरु-जन-जावन मिल्यो न, भयो दृढ़ दधि,
मथ्यो न विवेक-रई "देव" जो बनायगो ;
माखन-मुकुति कहाँ, छाँड़्यो न भुगुति जहाँ ?
नेह बिनु सिगरो सवाद खेह नायगो।
बिलखत बच्यो, मूल कच्यो, सच्यो लोभ-भाँड़े,
तच्यो क्रोध-आँच, पच्यो मदन, सिरायगो ;

पायो न सिरावन-सलिल छिमा-छीटन सों
दूध-सो जनम बिन जाने उफनायगो।

निर्दोष, परंतु अनुभव-शून्य, होने के कारण पद-पद पर भूलों से भरे जीवन की उपमा औटे हुए दूध के कितनी अनुरूप, मार्मिक और करुण है। जगत् के हितचिंतकों को ही देवजी सुजान, सज्जन और सुशील समझते हैं; यथा—

जेई जग-मीत, तेई जग मैं सुजान जन;
सज्जन, सुशील सुख-सोभा सरसाहिंगे।

(१०) देवजी ने सोलहवें वर्ष में भाव-विलास की रचना की थी। इससे स्पष्ट है कि अनुभव के अतिरिक्त उनमें स्वाभाविक प्रतिभा भी खूब थी। इस अवस्था में हिंदी के अन्य किसी बड़े प्रसिद्ध कवि के भाव-विलास-सदृश ग्रंथ बनाने का पता नहीं चलता।

२—विहारी

विहारीलाल का ज्ञान भी परिमित न था। उन्होंने भी संसार बहुत कुछ देखा था। दुनिया के ऊँच-नीच का उनको पूरा ज्ञान था। उनका अनुभव बेहद बढ़ा हुआ था। पर वे शृंगार-रस के अनन्य भक्त थे। अपने सारे ज्ञान की सहायता से उन्होंने शृंगार-रस का शृंगार कर डाला है। स्त्री-योग को पाकर वे लोचन-जगत् को रसमय कर डालते थे। मंगल और बृहस्पति का एकत्रित होना, उनके लाल और पीले रंग का प्रभाव, बेंदी और केसर-आड़ के साथ, नायिका के मुख-मंडल पर ही दृष्टिगत होता है। उनका सारा ज्योतिष-ज्ञान शृंगार-रस की इसी प्रकार सहायता करता है। गणित-तज्ञ विहारी 'बिंदी' लगाकर तिय-ललाट पर अगणित ज्योति का उद्योत करते हैं।

इसी प्रकार भक्ति-तत्त्व-दर्शी विहारी प्रसाद-माला से तन को 'कदंब-माल'वत् कर देते और 'अपूरब भगति' दिखला देते हैं। नटों के खेल, प्रत्येक प्रकार की मृगया आदि नायिका के अवयवों में दृष्टिगत होती है। तुलसीदास का विराट् शरीर यहाँ नायिका के अंगों में परिलक्षित है। विहारीलाल वैद्यक-तत्त्वों के भी ज्ञाता समझ पड़ते हैं। उनके काव्य में वैद्य सराहना करके औषधि के लिये पारा देता दिखलाई पड़ता है। विषम-ज्वर में विहारीलाल 'सुदर्शन' की ताकीद भी खूब ही करते हैं। इतिहासज्ञ कवि पांचाली के चीर और दुर्योधन की 'जलथंभ-विधि' का प्रयोग भी अपने उसी अनोखे ढंग से करते हैं। सूम की कंजूसी, ग्राम्य लोगों द्वारा गुणियों का अनादर उन्होंने खूब कहा है। उनकी अन्योक्तियाँ चमत्कार-पूर्ण हैं। सूक्ष्म ललित कलाओं से संबंध रखनेवाला यह दोहा बड़ा ही मनोहर है—

तंत्री-नाद, कवित्त-रस, सरस राग-रति-रंग,
अनबूड़े, बूड़े; तरे, जे बूड़े सब अंग।

वास्तव में वीणा-झंकार, कविता-सत्कार एवं संगीत-उद्गार आदि में तन्मयता अपेक्षित है। इनमें जो डूब गया, वही मानो तर गया और जो न डूब सका, वह डूब गया अर्थात् वह इस विषय में अज्ञ ही रह गया। विहारी के इस आदर्श का निर्वाह देव ने पूर्ण रीति से किया है।

'तरयोना' का श्रुति-सेवन एवं 'मुक्तन' के साथ 'बेसरि' का नाक-वास तथैव किसी की चाल से पद-पद पर प्रयाग का बनना हमें लाचार करता है कि हम विहारीलाल के धार्मिक भावों की अधिक छानबीन न करें।

विहारीलाल वेदांत के भी ज्ञाता थे। वे जग को "काचे काँच" के समान पाते हैं, जिसमें केवल उसी का रूप प्रतिबिंबित दिखलाई

पड़ता है। ऊपर के दिखाव की अपेक्षा विहारीलाल सच्ची भक्ति के भक्त हैं—

जपमाला, छापा, तिलक सरै न एकौ काम ;
मन काँचे, नाचे वृथा; साँचे राँचे राम।

जैसे देवजी ने अनुभव-शून्य जीवन की औटते समय उफान खाते हुए दूध से समुचित समता निदर्शित की है, वैसे ही अनुभव-हीन यौवन पर विहारीलाल की निगाह भी अच्छी पड़ी है—

यक भींजे, चहले परे, बूड़े, बहे हजार ;
किते न औगुन जग करत नै बै चढती बार ?

सचमुच देव और विहारी-सदृश कवियों की कविता पढकर एवं वर्तमान भाषा-कविता की दुर्दशा देखकर बरबस विहारीलाल का यह दोहा याद आ जाता है—

जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सु बीति बहार ;
अब अलि, रही गुलाब मैं अपत कटीली डार।

विहारीलाल के बेहद अनुभव का ऊपर अत्यंत स्थूल दिग्दर्शन कराया गया है। वे परम प्रतिभावान् कवि थे। (विषय-शृंगार और अतिशयोक्ति-वर्णन में वे प्रायः अद्वितीय थे।)

मर्मज्ञों के मत

१—देव

संवत् १९६७ में 'हिंदी-नवरत्न'-नामक एक समालोचनात्मक ग्रंथ प्रकाशित हुआ, जिसमें कविवर देवजी को कविवर बिहारीलालजी से ऊँचा स्थान दिया गया। इसी ग्रंथ की समालोचना करते हुए सरस्वती-संपादक ने देवजी के बारे में अपनी यह राय दी—

"देव कवि महाकवि नहीं हैं, क्योंकि उन्होंने उच्च भावों का उद्बोधन नहीं किया, समाज, देश या धर्म को कविता द्वारा लाभ नहीं पहुँचाया और मानव-चरित्र को उन्नत नहीं किया। वह भी यदि महाकवि या कवि-रत्न माना जा सकेगा, तो प्रत्येक प्रांत में सैकड़ों महाकवि और कवि-रत्न निकल आवेंगे।"

इसके उत्तर में नवरत्नकारों का कथन इस प्रकार है—

"यह कहना हमारी समझ में अत्यंत अयोग्य है कि देव कवि के समान प्रत्येक प्रांत में सैकड़ों कवि होंगे। × × × ऐसी राय प्रकट करना किसी विद्वान् मनुष्य को शोभा नहीं देता। × × उच्च भाव बहुत प्रकार के हो सकते हैं। × × काव्य से संबंध रखनेवाले लोग किसी भी बारीक ख़याल को उच्च भाव कहेंगे। × × कविता-प्रेमियों के विचार से उच्च भावों का वर्णन हमने देववाले निबंध के नंबर ४ व ५ में पाँच खंडों द्वारा किया है (देखो नवरत्न)। इसके विषय में कुछ न कहकर उच्च भावों का अभाव कहना अनुचित है। × × देव ने कई धर्म-ग्रंथ रचे हैं। × × प्राकृतिक बातों का कथन (देव की रचना में) प्रायः सभी ठौर मिलेगा। × × (देव) शृंगार-प्रधान कवि अवश्य हैं। यदि इसी कारण कोई मनुष्य इनकी रच-

नाओं को अनादर-पात्र समझे, तो समझा करे; परंतु संसार ने न अब तक ऐसा समझा है और न भविष्य में उसके ऐसा समझने का भय है। × × देखना तो यह चाहिए कि जो विषय कवि ने उठाया है, उसमें वह कहाँ तक कृतकार्य हुआ है। विषय की उत्तमता भी साहित्य की उत्तमता का एक कारण है, पर वही उसका एकमात्र कारण नहीं है। उत्तम-से-उत्तम विषय पर भी अधम रचना बन सकती है और ख़राब-से-ख़राब विषय पर हृदय-ग्राहिणी कविता की जा सकती है। कालिदास, व्यास भगवान्, सूरदास, शेक्सपियर आदि ने बहुत-सी शृंगारिक कविताएँ की हैं, परंतु फिर भी उनकी रचनाओं के वे भाग अब तक निंद्य नहीं समझे गए। सूरदास ने कई स्थानों पर विस्तारपूर्वक सुरति तक का वर्णन किया है, परंतु वह भाग भी अद्यावधि सूरसागर से निकाल नहीं डाले गए। सूरसागर का बहुत बड़ा भाग शृंगार की कविताओं से ही भरा है।"

पर उन्हीं काव्य-मर्मज्ञ सरस्वती-संपादक ने भी यह स्वीकार किया है कि "देवजी के अच्छे कवि होने में कोई भी संदेह नहीं।" कालिदास, भिखारीदास, सूदन, बलदेव, ब्रजराज, श्रीधर पाठक, भानु, पं० अयोध्याप्रसाद वाजपेयी, सेवक, भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र, पं० बदरीनारायण चौधरी एवं रत्नाकरजी की राय में भी देवजी बहुत अच्छे कवि हैं।

कभी-कभी कवि विशेष के अपूर्व भाव पर दूसरा कवि लोट-पोट हो जाता है—यदि आवश्यकता पड़ती है और भाव-हरण करना अभीष्ट होता है, तो वह कवि उसी कवि विशेष का भाव अपनाने का उद्योग करता है। इससे पूर्ववर्ती कवि के रचना-कौशल का महत्त्व प्रतिपादित होता है। विहारीलाल के पूर्ववर्ती अनेक कवियों ने उनके भाव लिए हैं। विहारीलाल के लिये यह गौरव की बात है। संजीवन-भाष्य (सतसई) में ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे।

देवजी के परवर्ती कवियों ने भी उनके भाव अपनाए हैं। घन-आनंद, बोधा, पद्माकर, दास, हरिश्चंद्र आदि व्रजभाषा के साधारण कवि नहीं हैं, पर इन सबने देव के भाव अपनाकर उनकी कविता के प्रति अपनी प्रगाढ भक्ति दिखलाई है। पुस्तक-कलेवर-वृद्धि के भय से संकेतमात्र द्वारा यह भावापहरण दिखलाया जाता है—

(क) बेगिही बूड़ि गई पँखियाँ,
अँखियाँ मधु की मखियाँ भई मेरी।

देव

माधुरी-निधान, प्रानप्यारी, जान प्यारी तेरो
रूप-रस चाखे अँखै मधु-माखी ह्वै गई।

घनआनंद

(ख) प्रेम सों कहत कोऊ—ठाकुर, न ऐंठो सुनि,
बैठो गड़ि गहिरे, तौ पैठो प्रेम-घर मैं।

देव

लोक की भीत डेरात जो मीत, तौ
प्रीति के पैंड़े परै जनि कोऊ।

बोधा

(ग) झूँठी झलमल की झलक ही मैं भूल्यो;
जल-मल की पखाल खल, खाली खाल पाली तैं।

देव

रीनी रामनाम ते रही जो, बिन काम तो या
खारिज, खराब-हाल खाल की खलीती है।

पद्माकर

(घ) थरकि, थरकि, थिरु, थाने पर थाने तोरि
थाने बदलत नट मोती लटकन को।

देव

समरथु नाँके बहुरूपिया लौं थान ही मैं
मोती नथुनी के बर बाने बदलतु है।

दास

(ङ) "देव" तहाँ बैठियत, जहाँ बुद्धि बढ़ै; हौं तौ
बैठी हौं बिकल, कोई मोहिं मिलि बैठो जनि।

देव

बावरी हौ जु भई सजनी,
तौ हटौ—हम सों मति आइकै बोलौ।

हरिश्चंद्र

इनके एवं देव के परवर्ती अन्य प्रसिद्ध कवियों के ऐसे कोड़ियों उदाहरण दिए जा सकते हैं, जिनमें स्पष्ट रीति से देव के भावों को अपनाया गया है।

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र तो देवजी के इतने भक्त थे कि उन्होंने उनके भाव-हरण तथा अपने ग्रंथों में उनके छंद भी अविकल उद्धृत किए हैं। इससे भी संतुष्ट न होकर उन्होंने 'सुंदरी-सिंदूर'-नामक देवजी की कविताओं का एक संग्रह-ग्रंथ भी तैयार किया है। व्रजभाषा के वर्तमान समय के प्रायः सभी मान्य कवि देवजी की कविता और उनकी प्रतिभा के प्रशंसक हैं। कविवर मुरारिदान ने अपने "जसवंत-जसोभूषण" ग्रंथ में इनके अनेक छंद उद्धृत किए हैं।

शिवसिंह-सरोज के रचयिता, शिवसिंहजी की सम्मति देवजी के विषय में यह है—

"ये महाराज अद्वितीय अपने समय के भाम मम्मट की समान भाषा-काव्य के आचार्य हो गए हैं। शब्दों में ऐसी समाई कहाँ है, जिनमें इनकी प्रशंसा की जावै।"

देवजी के विषय में एक प्राचीन छंद प्रसिद्ध है—

सूर सूर, तुलसी सुधाकर नक्षत्र केशौ,
शेष कविराजन को जुगुनू गनायकै
कोऊ परिपूरन भगति दरसायो ; अब
काव्य-रीति मोसन सुनहु चित लायकै—
देव नभ-मंडल-समान है कवीन-मध्य,
जामें भानु, सितभानु, तारागन आयकै
उदै होत, अथवत, भ्रमत, पै चारों ओर
जाको ओर-छोर नहिं परत लखायकै ।

कहना न होगा कि हम देवजी को महाकवि और विहारी से बढ़कर समझते हैं ।

विहारी पृष्ठ

२—विहारी

संवत् १९६७ में, सरस्वती-पत्रिका में, 'सतसई-संहार'-शीर्षक एक लेख निकला था । उसके लेखक ने स्पष्ट शब्दों में कविवर विहारीलालजी को शृंगारी कवियों में सर्व-शिरोमणि रक्खा । संवत् १९७५ में सतसई-संजीवन-भाष्य का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ । उसमें भी उसी पूर्व मत का प्रतिपादन किया और तुलना करके हिंदी के अन्य शृंगारी कवियों से विहारीलाल को श्रेष्ठ दिखलाया गया ।

इधर दो-एक आलोचकों ने देवजी को बहुत ही साधारण कवि प्रमाणित करने की चेष्टा की है । देव और विहारी की इस प्रबल प्रतिद्वंद्विता में अभी तक विहारी का पक्ष समर्थन करनेवालों की संख्या अधिक है ।

संजीवन-भाष्य के रचयिता लिखते हैं—"हिंदी-कवियों में श्रीयुत महाकवि विहारीलालजी का आसन सबसे ऊँचा है । शृंगार-रस-वर्णन, पद-विन्यास-चातुर्य, अर्थ-गांभीर्य, स्वभावोक्ति और स्वाभाविक बोलचाल आदि ख़ास गुणों में वह अपना जोड़ नहीं रखते।" (पृष्ठ २४९)

उपस्थित होने पर विहारीलाल का वर्णन सभी हिंदी-कवियों से अच्छा पाया जायगा। ऐसे भाव अभिव्यक्त करने में भी विहारीलाल सर्व-श्रेष्ठ हैं।

(३) विरह-वर्णन में भी विहारीलाल सर्व-श्रेष्ठ हैं।

(४) सतसई के सभी दोहे उत्कृष्ट हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक दोहा अमुक दोहे से बढ़कर है।

(५) सूरदासजी को छोड़कर विहारीलाल के समान मधुर व्रजभाषा का प्रयोग करने में हिंदी का कोई दूसरा कवि समर्थ नहीं हो सका है।

इस प्रकार भाष्यकार की राय में विहारीलाल, कविता के लिये अपेक्षित सभी प्रधान बातों में, देवजी से श्रेष्ठ हैं।

लेकिन इन निष्कर्षों से हम सहमत नहीं हैं। हमारी राय में देवजी शृंगारी कवियों में सर्व-श्रेष्ठ हैं। अनेक स्थलों पर, भाव-समानता में, विहारीलाल देव तथा अन्य कई कवियों से दब गए हैं। देवजी का विरह-वर्णन भी विहारीलाल के विरह-वर्णन से किसी प्रकार न्यून नहीं है। देवजी की भाषा विहारीलाल की भाषा से कहीं अच्छी है। सूर, हित हरिवंश, मतिराम तथा अन्य कई कवियों की भाषा भी विहारीलाल की भाषा से मधुर है। सतसई के सब दोहे समान चमत्कार के नहीं हैं। हमारा कथन कहाँ तक युक्ति-युक्त है, इसका प्रतिपादन प्रस्तुत पुस्तक में है।

यहाँ यह कह देना भी असंगत न होगा कि लेखक को दोनों में से किसी भी कवि का पक्षपात नहीं है—विहारी और देव में जिसकी काव्य-गरिमा उत्कृष्ट हो, उसी को उच्च स्थान मिलना चाहिए।

प्रतिभा-परीक्षा

दोनों कविवरों के विषय की ज्ञातव्य बातें इस प्रकार स्थूल रूप से लिख चुकने के पश्चात् अब हम क्रमशः तुलनात्मक रीति से दोनों की कविता पर युगपत् विचार करेंगे। पर इस विवेचन को प्रारंभ करने के पूर्व दो प्रधान बातों का उल्लेख कर देना परमावश्यक प्रतीत होता है।

पहली बात उभय कवियों के छंद-प्रयोग के संबंध में है और दूसरी कथन-शैली-विषयिनी। दोहा एक बहुत ही छोटा छंद है। बिहारीलाल ने इसी का प्रयोग किया है। छोटे छंद में भारी भाव का समावेश कर दिखलाना—संकुचित स्थान पर बड़ी इमारत खड़ी कर देना बड़े कौशल का काम है; पर साथ ही दोहा-सदृश छोटे छंद को सजा ले जाना उतना ही सुकर भी है। चतुर माली जितनी सफ़ाई से एक छोटे चमन को सजा सकता है, उतनी ही सफ़ाई से समग्र वाटिका के सजाने में बड़े परिश्रम की आवश्यकता है। छोटे चित्र को रँगते समय यदि दो-चार कूचियाँ भी अच्छी चल गईं, तो चित्र चमचमा उठता है; परंतु बड़े चित्र को उसी प्रकार रँगना विशेष परिश्रम चाहता है। किसी पुरुष का एक छोटा और एक बड़ा चित्र बनवाइए। यद्यपि दोनों चित्र एक ही हैं, पर छोटे की अपेक्षा बड़े के बनाने में चित्रकार को विशेष श्रम पड़ेगा। बिहारीलाल चतुर चित्रकार की भाँति दो ही चार सजीव शब्द-रूपी कूचियों के प्रयोग से अपने दोहा-चित्र को ऐसा चमचमा देते हैं कि साधारण रूप भी परम सुंदर चित्रित दृष्टिगत होने लगता है। हमारे इस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि दोहा-छंद में—इतने कम शब्दों

में—अनूठे भाव भरने का जो अपूर्व कवि-कौशल है, उसकी महत्ता को हम किसी प्रकार कम समझते हैं। हमारी प्रार्थना केवल इतनी ही है कि सजावट-सौकर्य एवं भाव-समावेश-काठिन्य दोनों का साथ-ही-साथ समुचित विचार होना चाहिए।

देवजी विशेषतया घनाक्षरी और सवैया-छंदों का प्रयोग करते हैं। ये बड़े छंद हैं। स्थान पर्याप्त है। भाव-समावेश में सुकरता है, पर सजावट के लिये विशेष परिश्रम वांछित है। चित्रकार को अपनी प्यालियों में अधिक रंग घोलना होगा—कूचियों का प्रयोग अनेक बार करना होगा, तब कहीं चित्र में जान आवेगी—तब कहीं वह देखने-योग्य बन सकेगा। देवजी के छंदों पर विचार करते समय यह बात ध्यान में रखनी होगी कि भाव-समावेश करते हुए व्यर्थ के पदों से उक्ति का सौंदर्य तो नष्ट नहीं कर दिया गया है—व्यर्थ के ढीलेढाले वस्त्राभूषण पहनाकर कविता-कामिनी की कांति तो कम नहीं कर दी गई है। भाव-समानता होने पर देवजी को जो कठिनाई पड़ती है, विहारीलाल के लिये वही सरलता है; तथैव इनके लिये जो सरलता है, उनके लिये वही कठिनाई है। चित्र एक ही है; आकार में भेद है। परीक्षा करते समय आकार भुला देना होगा। देखनी होगी केवल चित्रण की सफ़ाई। प्रस्फुटन-लाघव जिसका दर्शनीय है, वही श्रेष्ठ है।

देव-विहारी के भावों में साम्य उपस्थित होने पर छंदों के वैषम्य पर, उपर्युक्त ढंग से, दृष्टि न रखने से दोनों में से किसी के साथ अन्याय हो जाना संभव है। मणि की प्रभा का यथावत् प्रकाश फैल सके, मुख्य बात यही है। मणि सोने की अँगूठी में जटित है या चाँदी की अँगूठी में, यह बात गौण है। सोने की अँगूठी होना ही पर्याप्त नहीं है। यदि अँगूठी की रचना बेढंगी है, तो उसमें जटित मणि की शोभा का विकास न हो सकेगा—वह निष्प्रभ

दिखलाई पड़ेगी । इसके विपरीत सोक्रियाने ढंग की चाँदी की अँगूठी उसी मणि की शोभा-वर्धिनी प्रमाणित हो सकेगी । यदि अँगूठी चाँदी की है, तो तदनुरूप शोभा-विवर्धक रीति से मणि-जटित होने पर उसकी प्रशंसा होगी और स्वर्ण की अँगूठी होने पर तादृश रचना-कौशल अपेक्षित है ।

चाहे लंबा छंद घनाक्षरी हो अथवा छोटा दोहा; भाव का समावेश समुचित रीति से होना चाहिए । लंब शाट-पटावृत मनोहर बालक का सौंदर्य वैसे ही छिप जाता है, जैसे आठ-दश वर्ष की बालिका की घँघरिया पहनकर पूर्ण युवती विरूपा दिखलाई पड़ती है । व्यर्थ के शब्दों का जमाव किए बिना ही जिस प्रकार दोहा-छंद में संपुटित कवि-उक्ति झलकती है, उसी प्रकार उत्तरोत्तर उत्कर्ष-विवर्धनकारी शब्द-समूह घनाक्षरी-छंद में गुंफित उक्ति का सम्यक् प्रस्फुटन कर देता है । थोड़ी—इस कारण सुकर सजावट में बिहारी का भाव जिस प्रकार परिलक्षित होता है, उसी प्रकार भली भाँति—यद्यपि श्रमपूर्वक—देवजी-कृत सजावट नेत्रों को अपनी ओर बलात् खींचती है । संगीत-कौशल मुख्य वस्तु है । यदि स्वर-साम्य है, तो वह प्रशंसनीय है: पर यदि संगीत का पूर्णरूपेण अनुगमन करनेवाले वाद्य भी साथ हों, तो वे संगीत-सौंदर्य को बढ़ा ही देंगे । दोहा एवं घनाक्षरी-छंदों में क्रम से सन्निविष्ट भावों का इसी प्रकार समाधान कर लेना चाहिए । तभी देव और बिहारी के साथ, तुलना करने में, न्याय हो सकेगा ।

दूसरी बात, जिस पर ध्यान दिलाने की आवश्यकता है, कथन-शैली है । देवजी स्वभाव और उपमा को अलंकारों में मुख्य मानते हैं । उन्होंने स्वयं सभी प्रकार के अलंकारों का सफलतापूर्वक प्रयोग किया है, परंतु उपमा और स्वभाव के वे भक्त हैं । इन दोनों ही

अलंकारों का प्रयोक्ता सांगोपांग वर्णन का अवश्य भक्त होगा। पूरा चित्र खींच देना उसे स्वभावतः रुचेगा—विशेष करके जब इस काम के लिये उसे लंबे छंद की सहायता भी मिलती है। विहारी-लाल के पास सांगोपांग वर्णन के लिये स्थान नहीं है, पर मुख्य बातें वे छोड़ना भी नहीं चाहते। ऐसी दशा में उन्हें इशारों का सहारा लेना पड़ता है। भिन्न बुद्धि-विकास के पाठकों को इन इशारों को भिन्न-रीति से समझने का अवसर मिलता है। इसी कारण दोहों के अनेकानेक भाव टीकाकार कई प्रकार से समझाते हैं। अतिशयोक्ति का प्रयोग भी एक प्रकार अत्यंत प्रबल इशारों द्वारा बात विशेष का समझाना है। विहारीलाल ने इसका प्रयोग खूब किया है। गूढ काव्य-चातुरी के लिये अपेक्षित इशारों का प्रयोग करने में देवजी विहारी के समान उदार हैं, परंतु स्थल के अभाव से विवश होकर इशारों से कार्य-साधन करने की प्रणाली विहारी की निराली है। दोहा-जैसे छोटे छंद के प्रयोक्ता, विहारीलाल का काम इशारेबाज़ी के बिना चल नहीं सकता था। कविता में सब बात खोलकर कहने की अपेक्षा इतना कह जाना, जिससे छोड़ी हुई बात पाठक तत्काल समझ लें, कवि-कौशल है। देवजी ने इस कौशल में परम प्रवीणता दिखलाई है। विहारीलाल को, छोटे छंद के पाबंद होने के कारण, इस कौशल से कुछ विशेष प्रेम था। कहना नहीं होगा कि उन्होंने अपने काव्य में इस कौशल से अत्यधिक लाभ उठाने की चेष्टा की है। देव और विहारी की इस कथन-शैली पर भी पाठकों को समुचित रीति से दृष्टि रखनी चाहिए।

कुछ लोग अतिशयोक्ति को 'कविता की जान और रस की खान' मानते हैं। यह उनकी स्वतंत्र सम्मति है। यदि इस विषय में संस्कृत-साहित्य के आचार्यों की सम्मतियाँ एकत्रित की जायँ, तो

हमारी राय में अधिक सम्मतियाँ स्वभावोक्ति और उपमा के प॰ होंगी, यद्यपि अनेक आचार्य अतिशयोक्ति के भी बड़े प्रशंसक हैं। संजीवन-भाष्यकार ने उर्दू-भाषा के प्रसिद्ध कवि, हाली साहब की जो सम्मति उर्दू-शेर और बिहारी के दोहे के संबंध में उद्धृत की है, उससे साफ़ झलकता है कि हाली साहब अतिशयोक्ति के अंध-भक्त नहीं हैं। आप लिखते हैं—

"पस जब कि दोहे के मज़मून में 'मानों' यानी 'गोया' का लफ़्ज़ मौजूद है, तो उसमें कोई 'इस्तहाला' यानी अदम इमकान बाक़ी नहीं रहता ; बरख़िलाफ़ इसके शेर का मज़मून बिलकुल दायरे-इमकान से ख़ारिज और ना-मुमकिन उल्-वक़ूअ है। मोत-रिज़ जिस दलील से मज़मून शेर के मुताल्लिक़ हद दरजे की नज़ाकत साबित करता है, उससे नज़ाकत का सबूत नहीं, बल्कि उसकी नफ़ी होती है (पृष्ठ २३२)।"

हाली साहब की इस सम्मति को लक्ष्य में रखकर भाष्यकारजी पृष्ठ २३४ पर लिखते हैं—"आशा है, हाली महोदय की इस विद्वत्ता-पूर्ण बहस को पढ़कर 'राम' महाशय की शंकाओं का समाधान हो जायगा।" उपर्युक्त वाक्य का क्या अर्थ लगाया जाय ? यह कि हाली साहब की राय ठीक है और भाष्यकार को भी मान-नीय है या यह कि वे उस राय के पाबंद नहीं हैं ? जो हो, यदि हाली साहब की राय के अनुसार—

मानहु तन-छबि अच्छ को स्वच्छ राखिबे काज,
दृग-पग-पोछन को किए भूषण पायंदाज।

वाला दोहा

क्या नज़ाकत है कि आरिज़ उनके नीले पड़ गए !
हमने तो बोसा लिया था ख्वाब में तस्वीर का।

शेर से श्रेष्ठ है और वास्तव में शेर में दिया हुआ वर्णन हाली

के कथनानुसार नज़ाकत की 'नफ़ी' करता है, तो विहारी-अलंआल के एक-दो नहीं बरन् कम-से-कम पचास-साठ दोहे तो ज़रूर ही ऐसे निकलेंगे, जिनमें 'नफ़ी' का दोष आरोपित हो जायगा। अँगरेज़ी-साहित्य के धुरंधर समालोचक, रस्किन महोदय की राय में* रसावेग-वश अयथार्थ वर्णन करनेवाले की अपेक्षा रस के वशीभूत होकर भी यथार्थ कह जानेवाला कवि श्रेष्ठ है। थोड़े शब्दों में इसका अर्थ यह है कि स्वभावोक्ति अतिशयोक्ति से श्रेष्ठ है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि स्वभावोक्ति और उपमा के चित्रण में देवजी का पद बहुत ऊँचा है।

विहारी और देवजी की कविता के गुण स्थल विशेष पर पढ़िए। यहाँ पर उभय कविवरों का एक-एक छंद उद्धृत किया जाता है तथा दोनों छंदों का गुणोत्कर्ष व्यास रूप से दिखलाने का उद्योग किया जाता है। आशा है, प्रेमी पाठकों को इस प्रकार का निदर्शन रुचिकर होगा तथा उभय कविवरों के काव्योत्कर्ष की तुलना करने में भी सरलता होगी—

* So, then, we have the three ranks: the man who perceives rightly, because he does not feel, and to whom the primrose is very accurately the primrose, because he does not love it. Then secondly, the man who perceives wrongly, because he feels and to whom the primrose is anything else than a primrose: a Star, or a Sun, or a fairy's shield or a forsaken maiden. And then lastly, there is the man who perceives rightly inspite of his feelings and to whom the primrose is for ever nothing else than itself—a little flower apprehended in the very plain and leafy fact of it, whatever and how, manysoever the associations and passions may be that crowd around it And in general these three classes may be rated in Comparative order as the men who are not the poets at all and the poets of the second order and the poets of the first

(Ruskin—Of the pathetic fallacy.)

[१]

तन भूषन, अंजन दृगन, पगन महावर-रंग ;
नहिं सोभा को साज यह, कहिबे ही को अंग ।

अर्थ—शरीर में आभूषण, नेत्रों में अंजन एवं पैरों में महावर नायिका की शोभा नहीं बढ़ा रहे हैं । इन सबका प्रयोग तो कहने-भर को है । सहज सुंदरी को सौंदर्य-वर्धक इन कृत्रिम उपायों से क्या ?

यदि यह उक्ति नायिका के प्रति नायक की हो, तो 'सहज सुंदरी' कहने के कारण नायक 'अनुकूल' ठहरता है । पर यदि यह उक्ति सखी के प्रति नायिका की हो, तो नायक को सहज सुंदरी प्रतीत होने के कारण नायिका का स्वाधीनत्व प्रकट होता है । स्वाभाविक सौंदर्य-वर्धन के लिये आभूषणों की अनावश्यकता दर्शित होने से रूप-गर्व एवं नायक की, भूषणों की उपेक्षापूर्वक, सौंदर्य-वश प्रीति होने से प्रेम-गर्व स्पष्ट हो रहा है । इससे नायिका क्रम से स्वाधीन-पतिका, रूप-गर्विता एवं प्रेम-गर्विता प्रमाणित होती है । और, यदि उपर्युक्त कथन नायिका ने अपनी बहिरंगा सखी से उस समय कहा हो, जब कि वह वासकसज्जा के रूप में अपना शृंगार कर रही हो और सखी को यथार्थ बात बतलाना उसका अभीष्ट न रहा हो, तो उसकी 'विहार-इच्छा' प्रकट होती है, जिससे शुद्ध-स्वभावा स्वकीया की शोभा झलक जाती है । इस प्रकार का कथन ध्वन्यात्मक है, जिसको गूढ़ व्यंग्य भी कहते हैं ।

दोहे में शृंगार-रस स्पष्ट ही है । नायिका आलंबन और भूषणादि उद्दीपन-विभाव हैं । इन सबका धारण करना अनुभाव है । मद, उत्कंठा, लज्जा, अवहित्थादि संचारी भाव हैं । अर्थांतरों में रति स्थायी भी कई जगह है । ललित हाव का मनोरम विकास भी है ।

इस प्रकार रस का पूर्ण परिपाक दर्शनीय है। वृत्ति भारती है एवं गुणों में प्रसाद, अर्थ-व्यक्त और माधुर्य का अपूर्व सम्मिलन है। संपूर्ण छंद को पढ़ने से स्वभावोक्ति-अलंकार की आभा भली लगती है। अंग की सहज शोभा के सामने आभूषणों का निरादर हुआ है, इससे प्रतीप-अलंकार का रूप सामने आता है; परंतु अंगों के उपमान स्पष्ट न होने से वह व्यंग्यमात्र है। इसी को अर्थ-ध्वनि कहते हैं। तन, भूषन, अंजन, दगन, पगन, सोभा, साज आदि में वृत्यानुप्रास और छेकानुप्रास भी हैं। संपूर्ण वाच्यार्थ से रूपोत्कर्षता भासित होती है, इससे वाच्यार्थ ध्वनि हुई।

ऊपर दर्शित किया जा चुका है कि यह उक्ति नायक की नायिका के प्रति अथवा नायिका की सखी के प्रति हो सकती है। इसी प्रकार यह उक्ति नायिका के प्रति सखी की भी हो सकती है। सखी नायिका की प्रशंसा में कहती है—"तू इतनी सुंदरी है कि तुझे भूषणों की आवश्यकता ही नहीं है, पर कहने के लिये मैं भूषण, अंजन और महावर का प्रयोग करती हूँ, क्योंकि ये सब सहज सौं-दर्य में छिप जाने के योग्य हैं—सौंदर्य बढ़ाने का काम उनसे क्या बन पड़ेगा?" इस प्रकार सौंदर्य-शोभा का बखान करके मानो सखी नायिका को नायक के पास जाने के लिये मजबूर करती है। इस प्रकार का भाव झलकने पर नायिका का रूप 'मुग्धाभिसारिका' का हो जाता है एवं शृंगार करके नायिका को नायक के पास भेजने का सखी-कार्य मंडन-कर्म समझ पड़ता है। परेष्ट-साधन-स्वरूप यह पर्यायोक्ति का दूसरा भेद है। यदि गहने, अंजन और महावर अपने-अपने स्थान पर छिप गए हों, तो मीलित अलंकार का रूप आ जाता है। ३६ अक्षरों का दोहा, जिसमें २४ लघु और १२ गुरु मात्राएँ हों, 'पयोधर' कहलाता है। उपर्युक्त दोहे में वही लक्षण होने से दोहा 'पयोधर' का रूप है। विहारीलाल की जिस 'दृगारे-

बाज़ी' के कौशल का हमने आरंभ में उल्लेख किया था, वह पूर्ण रूप से यहाँ मौजूद है ; सुतरां दोहे की सुंदरता सर्वतोभावेन सराहनीय है ।

[२]

माखन-सो मन, दूध-सो जोबन, है दधि ते अधिकै उर ईठी,
जा छबि आगे छपाकर छाछ, समेत-सुधा बसुधा सब सीठी,
नैनन नेह चुवै "कबि देव" बुझावति बैन बियोग-अँगीठी,
ऐसी रसीली अहीरी अहै ! कहौ, क्यों न लगै मनमोहनै मीठी ?

देव

अर्थ—जिस रसीली ग्वालिन का मन मक्खन के समान और यौवन दुग्ध के समान है, जो हृदय को दधि से भी अधिक इष्ट है, जिसकी शोभा के सामने शशधर छाछ-सा लगता है, जिसके सम्मुख सुधा-सहित संसार की सभी मीठी वस्तुएँ सीठी जँचती हैं, जिसके नेत्रों से स्नेह टपका पड़ता है तथा जिसके वचन सुनकर वियोगाग्नि बुझ जाती है, वह भला मनमोहन को क्यों न मधुर लगेगी ? तात्पर्य यह कि संयोगी रसराज, व्रजराज को कोमला, तरला, हृदयहारिणी, समुज्ज्वला, मधुरा, स्नेहमयी, मंजु-भाषिणी और रसीली गोपिका निश्चय ही अच्छी लगेगी ।

उपर्युक्त उक्ति एक सखी की दूसरी सखी से है । वे दोनों आपस में नायिका का सौंदर्य बखान रही हैं । दुग्ध एवं उससे समुद्भूत पदार्थों के गुण विशेष का सादृश्य नायिका के तन और मन में आरोपित किया गया है । यदि मन नवनीत के समान कोमल है, तो यौवन दुग्ध के समान तरल और निर्मल है तथा नायिका स्वयं दधि के समान अरुचि न उत्पन्न करानेवाली है । उसकी शोभा के सामने शशधर मक्खन निकाले हुए मट्ठे के समान है । उसके नेत्रों से स्नेह (घृत) टपका पड़ता है । इस प्रकार नवनीत की कोमलता, दुग्ध

की तरलता, दधि की मधुरता और अम्लता, छाछ की निष्प्रभता एवं घृत की स्निग्धता सभी नायिका में उपस्थित हैं। इनमें से अधिकांश गुणों का आरोप लक्षणा से ही सिद्ध हुआ है, इस कारण 'सारोपा लक्षणा' का आभास स्पष्ट है। फिर भी वह 'गौणी' है, क्योंकि संपूर्ण छंद में जातित्व का प्राबल्य है। अतएव वाच्यार्थ ही प्रधान है। षट्रसों में मिठाई सबसे प्रधान है। नायिका के अंगों में भी कहीं ऐसी मधुराई है, जिसके सामने "समेत-सुधा बसुधा सब सीठी" है। वह मिठाई अधर-रस-पान के अतिरिक्त और कहाँ प्राप्त हो सकती है? इस कारण छंद में 'व्यंजक पात्र' स्पष्ट है।

शृंगार-रस का चमत्कार आलंबन-विभाव-रूप नायिका और उसके अंग-सौंदर्य-उद्दीपन से परिपक्व हो रहा है। इसमें प्रकाश शृंगार है। नायिका परकीया है, परंतु मनमोहन को मीठी लगने के कारण वह स्वाधीन-पतिका है। दुग्ध का दधि-रूप में जिस प्रकार परिपाक हुआ है, उसी प्रकार नायिका में दधित्व-गुण होने से वह 'मध्या' है। सुंदरी ग्रामीणा—वृंदावन-वासिनी—है। विलास-हाव से वह स्वतः विलसित हो रही है। जाति-दृष्टि से वह 'चित्रिणी' है। 'नैनन नेह चुवौ' चित्रिणी का बोध कराता है। 'समेत-सुधा बसुधा सब सीठी' का अर्थ यह है कि सुधा के समेत वसुधा की सब मिठाई सीठी है। यहाँ 'उपादान लक्षणा' के प्रति हमारा लक्ष्य है। गुणों में माधुर्य, समाधि एवं अर्थ-व्यक्त प्रधान हैं। वृत्ति कैशिकी है।

शब्दालंकारों में वृत्यानुप्रास का चमत्कार ठौर-ठौर पर दिखलाई पड़ता है। अर्थालंकार अनेक हैं, परंतु पूर्ण अर्थ-समर्थन के कारण काव्य लिंग प्रधान है। 'माखन-सो मन', 'दूध-सो जोबन' में एकदेशीय लुप्तोपमा है, 'दधि ते अधिकै उर ईठी' में व्यतिरेक। 'जा छबि आगे छपाकर छाछ' में चतुर्थ प्रतीप, 'समेत-सुधा

बसुधा सब सीठी' में अतिशयोक्ति, 'बुझावति बैन बियोग-अँगीठी' में सम अभेद रूपक, 'नैनन ने चवौ' में स्वभावोक्ति, 'रसीली अहीरी' में साभिप्राय विशेष्य के विचार से परिकरांकुर और 'क्यों न लगै मनमोहनै मीठी ?' में काकु-अलंकार है । इनके अतिरिक्त कविराजा मुरारिदान ने अपने बृहत् "जसवंत-जसोभूषण"-नामक ग्रंथ में, उपर्युक्त छंद में, सम-अलंकार की स्थापना की है । उनका कहना है—"मन की कोमलता आदि की मोम, कुसुम आदि की उपमा रहते हुए भी अहीरी के संबंधी माखन, दूध, दही, छाछ, घृत आदि की उपमा अहीरी के विषय में यथायोग्य होने से सम-अलंकार है (जसवंत-जसोभूषण, पृष्ठ ५६०) ।" 'सुधा बसुधा' में यमकालंकार भी स्पष्ट है । नेत्रों से 'नेह' चूते भी अर्थात् अग्नि-प्रदीप्ति-कारक कारण के उपस्थित रहते भी 'बियोग-अँगीठी' का बुझ जाना कारण के विरुद्ध कार्य होता है । यह विभावना अलंकार का रूप है ।

कहीं-कहीं 'माखन-सो तन' पाठ भी पाया जाता है । इस पाठ के समर्थन-कर्ताओं का कथन है कि सखी ने नायिका के प्रायः सभी प्रकट अंगों में दुग्धादि गुणों का आरोपण किया है और मन का हाल सखी नहीं जान सकती है, सो मन के स्थान पर 'तन' चाहिए । परंतु मन के पोषक कहते हैं कि कोमलता की ओर इंगित रहते भी 'माखन-सो तन' कहने में कुष्ठी के शरीर का स्मरण हो जाता है, इस कारण वह पाठ त्याज्य है । अंतरंगा सखी नायिका की मन-कोमलता अनुभव से जान सकती है । छंद किरीटी सवैया है, जिसमें ८ भगण होते हैं ।

दोनों कवियों की प्रतिभा-परीक्षा हम आगे इसी प्रकार करेंगे और उल्लिखित दोनों बातों का—छंद-प्रयोग और कथन-शैली के बारे में—भी भरसक ध्यान रक्खेंगे ।

प्रेम

१—देव

सच्चे प्रेमी देव ने प्रेम का बड़ा ही सजीव वर्णन किया है। यों तो उनके सभी ग्रंथ सर्वत्र प्रेममय हैं, परंतु 'प्रेम-चंद्रिका'-नामक ग्रंथ में उन्होंने प्रेम का वर्णन कुछ क्रम-बद्ध-रूप में किया है। प्रेम का लक्षण, स्वरूप, माहात्म्य, उसके विविध भेद सभी का कवि ने मार्मिकता-पूर्ण वर्णन किया है। विषयमय और शुद्ध प्रेम में क्या अंतर है, यह भी स्पष्ट दिखला दिया है। प्रेम-परीक्षा कितनी कठिन है—उसमें उत्तीर्ण होना किस प्रकार दुस्तर है, यह सब बात पहले से समझा दी है। प्रेम के प्रधान सहायक, नेत्र और मन का विशेष रूप से वर्णन किया है।

प्रेम-घर में ठहरना कितना कठिन है, इसका उल्लेख करते हुए कवि कहता है—

> "एकै अभिलाख लाख-लाख भाँति लेखियत—
>
> देखियत दूसरो न "देव" चराचर मैं ;
>
> जासों मनु राँचै, तासों तनु-मनु राँचै ;
>
> रुचि-भरिकै उघरि जाँचै, साँचै करि कर मैं।
>
> पाचन के आगे आँच लागे ते न लौटि जाय,
>
> साँच देइ प्यारे की सती-लौं बैठे सर मैं ;
>
> प्रेम सों कहत कोऊ—ठाकुर, न ऐंठौ सुनि,
>
> बैठौ गड़ि गहरे, तौ पैठौ प्रेम-घर मैं।"

सर (सरा—चिता) पर बैठी हुई सती जिस प्रकार, प्रेमावृत होने के कारण, पांचभौतिक तापों की कुछ परवा नहीं करती, इसी

प्रकार प्रत्येक सच्चे प्रेमी को निर्भय रहना चाहिए। जब प्रत्येक प्रकार के कष्ट सहने को तैयार हो, तभी ठाकुर को प्रेम-घर में प्रवेश करना चाहिए।

प्रेम क्या वस्तु है? इसका निर्णय भी देवजी ने किया है। उनका विशद लक्षण पढ़िए—

> जाके मद-मात्यो, सो उमात्यो ना कहूँ है, कोई
> बूड्यो, उछल्यो ना तरयो सोभा-सिंधु-सामुहै ;
> पीवत ही जाहि कोई मारयो, सो अमर भयो ;
> बौरान्यो जगत जान्यो, मान्यो सुख-धामु है।
> चख के चषक भरि चाखत ही जाहि फिरि
> चाख्यो ना पियूष, कछु ऐसो अभिरामु है ;
> दंपति-सरूप ब्रज औतरयो अनूप सोई,
> "देव" कियो देखि प्रेम-रस प्रेम-नामु है।

प्रेम को इस प्रकार समझाकर देवजी कहते हैं—

> नेम-महातम मेटि कियो प्रभु
> प्रेम-महातम आतम अर्पनु।

इस प्रकार देवजी प्रेम-माहात्म्य को नियम-माहात्म्य के ऊपर दिखलाते हैं। वे कहते हैं—

> को करै कूकन चूकन सों मन,
> मूक भयो मुख प्रेम-मिठाई ?

देवजी प्रेम को पाँच भागों में विभक्त करते हैं—सानुराग, सौहार्द, भक्ति, वात्सल्य और कार्पण्य। ये सभी प्रकार के प्रेम देवजी ने सोदाहरण वर्णित किए हैं। सुदामाजी के प्रेम में सौहार्द, भक्ति एवं कार्पण्य-भाव का मिला हुआ वर्णन सराहनीय हुआ है—

> कहै पतनी पति सों देखि गृह दंपति को
> हरै बिन संपति बिपति यह को मेरी ?

वात्सल्य-प्रेम में यशोदा और कृष्ण का प्रेम अनोखे ढंग से वर्णित है। कंस के बुलाने पर गोप मथुरा को जा रहे हैं। कदाचित् कृष्णचंद्र भी बुलाए गए हैं; परंतु माता यशोदा अपने प्रिय पुत्र को वहाँ किसी प्रकार जाने देना पसंद नहीं कर रही हैं। वे कहती हैं—"ये तो हमारी व्रज की भिक्षा हैं। इन्हे वहाँ कौन पहचानता है? ये राज-सभा के रहन-सहन को क्या जानें? इन्हें मैं वहाँ नहीं भेजूँगी।" स्वयं देवजी के शब्दों में—

बारे बड़े उमड़े सब जैबे को, हौं न तुम्हैं पठवौं, बलिहारी ;
मेरे तो जीवन "देव" यही धनु, या व्रज पाई मैं भीख तिहारी।
जानै न रीति अथाइन की, नित गाइन मैं बन-भूमि निहारी ;
याहि कोऊ पहिचानै कहा ? कछु जानै कहा मेरो कुंजबिहारी ?

कितना स्वाभाविक, सरस वर्णन है। जिस कुंजविहारी का पशुओं का साथ रहता है, जिसकी विहारस्थली वनभूमि है, जिसको राज-समाज में कोई नहीं पहचानता, जो 'अथाइन' की रीति नहीं जानता, वह कुछ भी तो नहीं बतला सकता। राज-सभा में उसके जाने की आवश्यकता ही क्या? अनिष्ट-भय से माता पुत्र को जाने से कैसे स्वाभाविक ढंग से रोकती है! गोपियों की सौहार्द-भक्ति के उदाहरण भी देवजी ने परम मनोहर दिए हैं। यथा—

× × × ×
× × × ×
× × × ×
× × × ×

गैयन-गोहन प्रेम-गुन के पोहन "देव,"
मोहन, अनूप रूप-रुचि के चाखन चोर ;
दूध-चोर, दधि-चोर, अंबर-अवधि-चोर,
चितहित-चोर, चित-चोर, रे माखन-चोर।

उपर्युक्त उदाहरण में सौहार्द-भक्ति प्रधान है। अब भक्ति-प्रधान उदाहरण पढ़िए—

धाए फिरौ ब्रज मैं, बधाए नित नंदजू के,
गोपिन सधाए नचौ गोपन की भीर मैं ;
"देव" मति-मूढ़े तुम्हैं ढूँढ़ैं कहाँ पावैं ;
चढ़े पारथ के रथ, पैठे जमुना के नीर मैं।
आँकुस ह्वै दौरि हरनाकुस को फारयो उर ;
साथी न पुकारयो हते हाँथी हिय तीर मैं ;
बिदुर की भाजी, बेर भीलनी के खाय, बिप्र-
चाउर चबाय, दुरे द्रोपदी के चीर मै।

इस प्रकार कार्पण्य, वात्सल्य, भक्ति एवं सौहार्द का संक्षिप्त वर्णन करके देवजी ने सानुराग प्रेम का वर्णन विस्तारपूर्वक किया है। विषय-प्रेम को देवजी विष के समान मानते हैं। उनका स्पष्ट कथन है—

विषयी जन व्याकुल विषय देखैं विधु न पियूष ;
सोठी मुख मीठी जिन्हैं, जूठा ओठ मयूष।

इसी प्रकार परकीया के उपपति-संयोग में वे प्रेम का भुलावा-मात्र मानते हैं। ऐसी पर-पुरुष-रत तरुणियों को संबोधन करके देवजी कहते हैं—

पति को भूलै तरुन तिय, भूलै प्रेम-बिचार ;
ज्यों अलि को भूलै खरी फूले चंपक-डार।

विषय पर उनका सच्चा भाव निम्न-लिखित दोहांश से स्पष्ट प्रकट होता है—

आसी-विष, फाँसी विषम, विषय विष महाकूप।

कुचाल की प्रीति के वे समर्थक न थे—"प्रेमहीन त्रिय वेश्या है सिंगाराभास" माननेवाले थे। उनका कहना था कि—

काची प्रीति कुचालि की बिना नेह, रस रीति ;
मार रंग मारू, मही बारू की-सी भीति।
प्रगट भए परकीय अरु सामान्या को संग ;
धरम-हानि, धन-हानि, सुख थोरो, दुःख इकंग।

वेश्या में प्रेमाभाव-वश उनकी प्रीति में शृंगाराभास का होना स्वाभाविक ही है, परंतु परकीया की प्रीति में शृंगाराभास की बात नहीं है। इससे उनमें प्रेम का वर्णन किया गया है। देवजी पुरुषों को पर-नारी-विहार से विरत कराने के लिये पर-नारी-संयोग की तुलना कठिन योग से करते हैं। कैसी-कैसी यातनाओं का सामना करना पड़ेगा, इसका निर्देश करते हैं। मानसिक एवं शारीरिक सभी प्रकार के कष्टों का उल्लेख किया जाता है—

प्रेम-चरचा है, अरचा है कुल-नेमन, रचा है
चित और अरचा है चित चारी को ;
छोड़्यो परलोक, नरलोक, बरलोक कहा ?
हरष न सोक, ना अलोक नर-नारी को।
घाम, सीत, मेह न बिचारै सुख देह हूँ को,
प्रीति ना सनेह, डरु बन ना अँध्यारी को ;
भूलेहू न भोग, बड़ी बिपति बियोग-बिथा ;
जोगहू ते कठिन सँयोग परनारी को।

जिस प्रकार पुरुषों को पर-नारी-संयोग का काठिन्य दिखलाया गया है, उसी प्रकार परकीया के मुख से निम्न-लिखित छंद कहला-कर मानो देवजी ने समस्त नारी-समाज को पातिव्रत-माहात्म्य का उच्च आदर्श दिखलाया है—

बारिध बिरह बड़ी बारिधि की बड़वागि,
बूड़े बड़े-बड़े जहाँ पारे प्रेम पुल ते ;

गरुओ दरप "देव" योबन-गरब गिरि पर्यो,
गुन टूटि, छूटि बुधि-नाउ-डुलते।
मेरे मन, तेरी भूल मरी हौं हिये की सूल,
कीन्ही तिन-तूल-तूल अति ही अतुल ते ;
भाँवते ते भोंड़ी करी, मानिनि ते मोंड़ी करी,
कौंड़ी करी हीरा ते, कनौड़ी करी कुल ते।

वास्तव में परकीयत्व का आरोप होते ही हीरा कौड़ीमोल का हो जाता है। परकीया का इस प्रकार वर्णन करके भी आचार्यत्व के नाते देवजी ने परकीया के प्रेम का वर्णन किया है। काव्यांगों का वर्णन करनेवाले देवजी अपने नायिका-भेद-वर्णन में परकीया का समावेश कैसे न करते ? निदान परकीया और वेश्या के प्रति अपना स्पष्ट मत देकर देवजी एक बार प्रेम का लक्षण फिर स्थिर करते हैं। वह इस प्रकार है—

सुख-दुख मैं है एक सम तन-मन-बचननि-प्रीति ;
सहज बढ़ै हित चित नयो जहाँ, सु प्रेम-प्रतीति।

सुख-दुख में एक समान रहना बड़ा ही कठिन है, परंतु प्रेमी के लिये प्रेम के सामने सुख-दुख तुच्छ है। यह वह मद है, जिसके पान के पश्चात् तन्मय होकर जीव सब कुछ भूल जाता है। प्रेम की मद से केवल इतनी ही समता है। यह समता देवजी ने बड़े ही कौशल से चित्रित की है। शराब की दूकान पर सुरति-कलारी प्रेम-मदिरा बेंच रही है। प्रेमी प्याला भर-भरकर प्रेम-मद्य पी रहा है। उसे अपने पूर्वज प्रेमी-मद्यपों की सुध आ रही है। ध्रुव-प्रह्लाद का विमल आदर्श उसके नेत्रों के सामने फिर रहा है। प्रेममय प्रेमी को अपने आपे की सुध नहीं रही है। प्रेम का कैसा उत्कृष्ट वर्णन है—

धुर ते मधुर मधु-रस हू बिधुर करै,
मधु-रस बेधि उर गुरु रस फूली है ;

ध्रुव-प्रहलाद-उर हुव अहलाद जासों,
प्रभुता त्रिलोक हूँ की तिल-सम तूली है।
बदम-से बेद-मतवारे मतवारे परे,
मोहै मुनि-देव "देव" शूली-उर शूली है;
प्यालो भरि दे री मेरी सुरति-कलारी, तेरी
प्रेम-मदिरा सों मोहि मेरी सुधि भूली है।

प्रेमी को प्रेम-मद-पान कराकर देवजी उसे प्रेम की सर्वोत्कृष्टता का बोध कराते हैं। वैदिकों के वाद-विवाद, लोक-रीति माननेवालों का लौकिक रीतियों पर न्योछावर होना, तापसों की पंचाग्नि साधना, योगियों के योग-जीवन एवं तत्त्वज्ञों के ज्योति-ज्ञान के प्रति उपेक्षा दर्शाते हुए एवं उपहास की परवा न करके कोई प्रेम-विह्वला नंद-कुमार को कैसी मर्म-स्पर्शिनी उक्ति सुनाती है—

जिन जान्यो बेद, तेतौ बादिकै बिदित होहु;
जिन जान्यौ लोक, तेऊ लीक पै लरि मरो;
जिन जान्यो तप, तीनौ तापनि तैं तपि-तपि,
पंचागिनि साधि ते समाधिन धरि मरो।
जिन जान्यो जोग, तेऊ जोगी जुग-जुग जियो;
जिन जानी जोति, तेऊ जोति लै जरि मरो;
हौं तौ "देव" नंद के कुँवर, तेरी चेरी भई,
मेरो उपहास क्यों न कोटिन करि मरो?

देवजी की राय में उत्तम शृंगार-रस की आधार स्वकीया नायिका है और उसी का प्रेम शुद्ध—सानुराग प्रेम है। स्वकीया में भी वे मुग्धा में ही आदर्श-प्रेम पाते हैं, क्योंकि मध्या का प्रेम कलह और प्रौढ़ा का गर्व से कलुषित हो जाता है। देवजी कहते हैं—

दंपति सुख-सपति सजत, तजत विषय विष-भूख;
"देव सुकवि" जीवत सदा पीवत प्रेम-पियूख।

अर्थात् विषयिनी विष-क्षुधा का निवारण करके प्रेम-पीयूष-पान के पश्चात् सुख-संपत्ति-संपन्न दंपति चिरजीवी होते हैं।

सहज लाज-निधि, कुल-बधू, प्रेम-प्रनय-परबीन,
नवयौबन-भूषित, सदा सदय हृदय, पन-पीन।

प्रणय-प्रवीणा, नवयौवन-भूषिता, दयार्द्र-हृदया, सहज-लज्जावती कुल-वधू को ही देवजी यथार्थ प्रेमाधिकारिणी समझते हैं। कुल-वधू का पति ही परमेश्वर है—

बिपति-हरन, सुख-संपति-करन,
प्रान-पति परमेसुर सो साझो कहौ कौन सो?

उधर षट्पद-नायक का पद्मिनी नायिका पर कैसा सच्चा प्रेम है, वह पद्मिनी के सामने और सबको कैसा तुच्छ समझता है, यह बात भी देवजी ने अच्छे ढंग से प्रकट की है। देखिए—

वारौ कोटि इंदु अरबिंद-रस-बिंद पर,
मानै ना मलिंद-बिंद सम कै सुधा-सरो;
मलै मल्लि, मालती, कदंब, कचनार, चंपा
चापेहू न चाहै चित चरन टिकासरो।
पदुमिनि, तुही षटपद को परम पद,
"देव" अनुकूल्यो और फूल्यो तो कहा सरो;
रस, रिस, रास, रोस, आसरो, सरन बिसे
बीसो बिसबासरो कि राख्यो निसि बासरो।

क्रोध आ जाने पर भी पति के प्रति किसी प्रकार की अनुचित बात का कहा जाना देवजी को स्वीकार नहीं है। ऐसा अवसर उपस्थित होने पर वे बड़े कौशल से बात निभा ले जाते हैं। खंडिता को रात्रि में अन्यत्र रमण करनेवाले पति-परमेश्वर के सुबह दर्शन होते हैं। खंडिता तो वह है ही, फिर भी देवजी का कथन-

कौशल देखिए। आँखों ने व्रत किया था। व्रत के भोर पारण के लिये कुछ चाहिए था। प्रियतम का रूप पारण-स्वरूप मिल गया। आँखों का प्रिय-वियोग-जन्य दुख जाता रहा। कितना पवित्र, सुकुमार और सूक्ष्म विचार है! प्रेम का कैसा अनोखा चमत्कार है! रूपक का कैसा सुंदर सत्कार है! लौकिक व्यवहार का कैसा अलौकिक उदार प्रसार है!

हित की हितूरी क्यो न तूरी समुझावै आनि,
सुख-दुख मुख सुखदानि को निहारनो;
लपने कहाँ लौं बालपने की बिमल बातैं?
अपने जनहिं सपनेहूँ न बिसारनो।
"देवजू" दरस बिनु तरस मरयो हो, पग
परसि जियैगो मन-बैरी अनमारनो;
पतिव्रत-वती ये उपासी, प्यासी अँखियन
प्रात उठि प्रीतम पियायो रूप-पारनो।

संयोगमय प्रेम का एक उदाहरण लीजिए। कैसा आनंदमय जीवन है!

रीझि-रीझि, रहसि-रहसि, हँसि-हँसि उठै;
सांसैं भरि, आँसू भरि कहत दई-दई;
चौकि-चौंकि, चकि-चकि, औचक उचकि "देव,"
छकि-छकि, बकि-बकि परत बई-बई।
दोउन को रूप-गुन दोऊ बरनत फिरैं,
घर न थिरात, रीति नेह की नई-नई;
मोहि-मोहि मोहन को मन भयो राधामय,
राधा मन मोहि-मोहि मोहन-मई-मई।

२—विहारी

आइए, विहारी के प्रेम की भी कुछ बानगी लेते चलिए। इनका ठाठ ही निराला है—

छुटन न पैयतु बसि छिनकु, नेह-नगर यह चाल ;
मारयो फिरि-फिरि मारिए, खूनी फिरै खुस्याल।
मन, न धरत मेरो कह्यो तू आपने सयान ;
अहे परनि पर-प्रेम की परहथ पारि न प्रान।
कब को ध्यान लगी लखौं, यह घर लगिहै काहि ?
डरियतु भृंगी-कीट-लौं मत वहई ह्वै जाहि।
चाह-भरी, अति रिस-भरी, बिरह-भरी सब गात :
कौरि सँदेसे दुहुन के चले पौरि लौं जात।
भमकि चढ़त, उतरत अटा, नेक न थाकत देह ;
भई रहत नट को बटा अटकी नागरि नेह।

मक़तूल का बार-बार क़त्ल होना और खूनी का खुशहाल घूमना कितनी हैरतअंगेज़ बात है; मगर नेह-नगर में यही चाल दिखलाई पड़ती है। इसी प्रकार ध्यान-तन्मयता देखते हुए भृंगी-कीट-न्याय का स्मरण करके तादृश हो जाने का भय कितना स्वाभाविक है। चौथे दोहे का कहना ही क्या है! पाँचवें का भाव भी उत्तम है। पर देवजी ने इससे भी उत्तम भाव अपनाया है। सुनिए—

दीरघ बंसु लिए कर मैं; उर मैं न कहूँ भरमैं भटकी-सी ;
धीर उपायन पाउँ धरै, बरतै न परै, लटकै लटकी-सी।
साधति देह सनेह, निराटक ह्वै मति कोऊ कहूँ अटकी-सी ;
ऊँचे अकास चढ़ै, उतरै ; सु करै दिन-रैन कला नट की-सी।

बिहारीलाल की अपेक्षा देवजी ने प्रेम का वर्णन अधिक और क्रम-बद्ध किया है। उनका वर्णन शुद्ध प्रेम के प्रस्फुटन में विशेष हुआ है। बिहारीलाल का वर्णन न तो क्रम-बद्ध ही है, न उसमें विषय-जन्य और शुद्ध प्रेम में बिलगाव उपस्थित करने की चेष्टा की गई है। देवजी ने परकीया का वर्णन किया है और अच्छा किया

है; परंतु परकीया-प्रेम की उन्होंने निंदा भी खूब ही की है और स्वकीया का वर्णन उससे भी बढ़कर किया है—मुग्धा स्वकीया के प्रेमानंद में देवजी मग्न दिखलाई पड़ते हैं। पर विहारीलाल ने परकीया का वर्णन स्वकीया की अपेक्षा अधिक किया है और अच्छा भी किया है। इस प्रकार के वर्णनों से कवि की साहित्य-मर्मज्ञता एवं रचना-चातुरी झलकती है, परंतु कवि के चरित्र के विषय में संदेह होता है। कहा जाता है, कवि के चरित्र का प्रतिबिंब उसकी कविता पर अवश्य पड़ता है। यदि यह बात सत्य हो, तो सतसई-कार के चरित्र का जो प्रतिबिंब उसकी कविता पर पड़ता है, उसके लिये वह अभिनंदनीय किसी भी प्रकार नहीं है। इस कथन का यह अभिप्राय कभी नहीं है कि विहारीलाल की काव्य-प्रतिभा में भी किसी प्रकार की मलिनता दिखलाई पड़ती है।

देवजी ने इस मामले में विशेष सहनशीलता दिखलाई है। उन्होंने तरुणियों के मनोविकारों का वर्णन ही अधिक किया है। उनका चरित्र अपेक्षाकृत अच्छा प्रतिबिंबित हुआ है—वे विहारी-लाल से अधिक चरित्रवान् समझ पड़ते हैं। ऊपर का प्रेम-प्रबंध पढ़ने से पाठकों को हमारे कथन की सत्यता पर विश्वास होगा। विहारीलाल की प्रेम-लीला की तो थाह ही नहीं मिलती। वहाँ तो

परयो जोर विपरीति रति, रुपो सुरत रनधीर ;
करत कुलाहल किंकिनी, गह्यो मौन मंजीर।

से वर्णन पढ़कर अवाक् रह जाना पड़ता है। कुरुचि और सुरुचि-प्रवर्तक प्रेम, तू धन्य है!

मन

१—देव

महाकवि देव ने मन को लक्ष्य करके बहुत कुछ कहा है। मानुषी प्रकृति के सच्चे पारखी देव ने, प्रतिभाशाली कवियों की तरह, मन को उलट-पलटकर भली भाँति पहचान लिया था। वे जिस ओर से मन पर दृष्टि-पात करते थे, उसी ओर से उसके जौहर खोल देते थे। वे मन-मणि के जौहरी थे। उन्होंने उसका यथार्थ मूल्य आँक लिया था। तभी तो वे कहते हैं—

ऊधो पूरे पारख हौ, परखे बनाय तुम
पार ही पै बोरौ पैरवइया धार औंड़ी को;
गाँठि बाँध्यो हम हरि-हीरा मन-मानिक दै,
तिन्हैं तुम बनिज बतावत हौ कौड़ी को।

उद्धवजी गोपियों को ज्ञान का उपदेश देने गए थे। गोपियों ने उनको वहीं भली भाँति परख लिया। उद्धवजी जिसका मोल कौड़ी ठहराते थे, उसे गोपियों ने हीरा मानकर, माणिक्य देकर ख़रीदा था। माणिक्य-रूपी मन देकर हीरा-रूप हरि की ख़रीदारी कैसी अनोखी है! क्रय-विक्रय के संबंध में दलालों का होना अनिवार्य-सा है। दलाल लोग चादर डालकर हाथों-ही-हाथों जिस प्रकार सौदा कर लेते हैं, वह दृश्य देवजी की प्रतिभा से बच न सका। नंदलाल ख़रीदार थे और उन्होंने राधिकाजी को मोल भी ले लिया—वे उनकी हो गईं; परंतु यह कार्य ऐसी आसानी से कैसे संपादित हुआ? बात यह थी कि राधिका-जी का मन धूर्त दलाल था और वे उसी के बहकावे में आकर बिक गईं। इस 'अनैरे दलाल' की दुष्टता तो देखिए। देवजी कहते हैं—

गौन गुमान उतै इत प्रीति सु चादर-सी अँखियान पै खेंची।

× × × × × ×

× × × × × ×

या मन मेरे अनेरे दलाल है, हौ नँदलाल के हाथ लै बेंची।

दलाली करवा दी, फिर भी देवजी को मन-माणिक्य ही अधिक जँचता था। जौहरी को जवाहरात से काम रहता है। मदन-महीप मन-माणिक्य को किस प्रकार ऐंठते हैं, यह बात देवजी से सुनिए—

× × × × × ×

बाजी खिलायकै बालपनो अपनोपन लै सपनो-सो भयो है।

× × × × × ×

जोबन-ऐंठ मैं बैठत ही मन-मानिक गाँठि ते ऐंठि लयो है।

इस प्रकार मन-माणिक्य का ऐंठा जाना देवजी को इष्ट न था। इस बहुमूल्य रत्न को वे यों, प्रतारणा के साथ, जाने देना पसंद नहीं करते थे। सावधान करने के लिये वे कहते हैं—

गाँठि हू ते गिरि जात, गए यह पैयै न फेरि, जु पै जग जोवै;
ठौर-ही-ठौर रहैं ठग ठाढ़ेई पीर जिन्हैं न हँसै किन रोवै।
दीजिए ताहि, जो आपन सो करै "देव" कलंकनि पंकनि धोवै;
बुद्धि-बधू को बनायकै सौंपु तू मानिक-सो मन धोखे न खोवै।

यदि बेचना ही है, तो समझ-बूझकर बेचना चाहिए, क्योंकि—

मानिक-सो मन खोलिए काहि? कुगाहक नाहक के बहुतेरे।

देवजी को मन का साथ छोड़ना सर्वथा अप्रिय था। उससे उनकी गहरी मित्रता थी। उसके सामने वे अपने और मित्रों को कुछ भी नहीं समझते थे। कहते हैं—

मोहिं मिल्यो जब तैं मन-मीत, तजी तब तैं सबतैं मैं मिताई।

बहुमूल्य मणि की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। मन की

समता के लिये देवजी ने उसे चुना, यह भी उसके लिये कम सौभाग्य की बात नहीं है। सर्व-गुण-संपन्न कोई भी नहीं है। वैसे ही माणिक्य में भी कठोरता की उपेक्षा नहीं की जा सकती। क्या देवजी मन की कोमलता भूल सकते थे? क्या कोमल-कांत-पदावली में प्रवीण देव मन की इस महत्ता को यों ही छोड़ देते? देवजी एकांगी-कथन के समर्थक नहीं जान पड़ते हैं। वे प्रत्येक बात को कई प्रकार से कहते हैं। मन माणिक्य होकर मोम की भी सदृशता पाता है—

दूरि धरयो दीपक झिलमिलात, झीनो तेज,
सेज के समीप छहरान्यो तम तोम-सो।
लाल के अधर बाल-अधरन लागि, जागि
उठी मदनागि, पघिलान्यो मन मोम-सो।

मदनाग्नि से मन-मोम का पिघलना कितना स्वाभाविक है। मोम को फिर भी कुछ कठोर जानकर देवजी मन को माखन-सा कोमल कहते हैं। यथा—

माखन-सो मन, दूध-सो जोबन, है दधि तैं अधिकै उर ईठी।

फिर भी, नवनीत-कोमलता से भी, संतुष्ट न होकर देवजी मन की घृत से उपमा देते हैं—

काम-घाम घी-ज्यों पघिलात घनस्याम-मन,
क्यों सहै समीप "देव" दीपति-दुपहरी?

मन की ऐसी द्रव-दशा दिखाकर देवजी उसके हलकेपन और अयथार्थता की ओर झुकते हैं। सो "ह्वै नद-संग तरंगन मैं मन फेन भयो, गहि आवत नाहीं" द्वारा मन की 'फेन' से उपमा दी जाती है। मन की जल के झाग से कैसी सुंदर समता दिखलाई गई है। फेन और नद-संग होने से देवजी ने पाठकों को नदी के कूल का स्मरण दिला दिया। यहाँ पर देवजी ने एक मन-रूप मंदिर बना

रक्खा था। देखिए, उस मन-मंदिर को देवजी कैसे अनोखे ढंग से ढहाते हैं? बना-बनाया खेल कैसे बिगाड़ते हैं? कवि लोग सृजन और प्रलय यों ही किया करते हैं। यह सृष्टि ही निराली है। यह 'विधि की बनावट' (?) नहीं है बरन् कवि की सृजक अथवा ध्वंसकारिणी कृति है। कविवर देवजी कहते हैं—

"देव" घनस्याम रस बरस्यो अखंड धार,
पूरन अपार प्रेम-पूर न सहि पर्यो।
बिषै-बंधु बूड़े, मदमोह-सुत दबे देखि,
अहकार-मीत मरि, सुरभि महि पर्यो।
आसा-त्रिसना-सी बहू-बेटी लै निकसि भाजीं,
माया-मेहरी पै देहरी पै न रहि पर्यो।
गयो नहिं हेरो, लयो बन मैं बसेरो, नेह-
नदी के किनारे मन-मंदिर ढहि पर्यो।

क्या आपने घोर वर्षा के अवसर पर नदी के किनारे के मकान गिरते देखे हैं? यदि देखे हैं, तो एक बार देवजी की अपूर्व सूक्ष्म-दर्शिता पर ध्यान दीजिए। स्नेह-नदी के किनारे मन-मंदिर स्थित है। घनश्याम अखंड रस बरसा रहे हैं। फिर मंदिर कैसे स्थिर रह सकता है तथा उसमें रहनेवाले विषय, मद, मोह, आशा, तृष्णा आदि भी कैसे ठहर सकते हैं? जब स्नेह का तूफ़ान आता है, तो सब कुछ स्नेहमय दिखलाई पड़ता है—

औचक अगाध सिंधु स्याही को उमँगि आयो;
तामैं तीनौ लोक बूड़ि गए एक संग मै;
कारे-कारे कागद लिखे ज्यों कारे आखर,
सु न्यारे करि बाँचै, कौन नाचै चित भंग मैं?
आँखिन मैं तिमिर अमावस की रैनि अरु
जंबूरस- बूँद जमुना- जल- तरंग मैं;

यों ही मन मेरो मेरे काम को न रह्यो "देव,"
स्याम-रंग ह्वै करि समान्यो स्याम-रंग मैं।

मन-मंदिर को ढहाकर देवजी ने माया-मेहरी को निकाल भगाया था, परंतु गार्हस्थ्य-प्रपंच-प्रिय देव दूलह और दुलहिन के विना कैसे कल पाते? सो उन्होंने नवीन विवाह का प्रबंध किया। इस बार मन दूलह और क्षमा दुलहिन बनी। क्षमाशील मन सांसारिक जीवन के लिये कितना सुखद है, इसकी विस्तृत आलोचना अपेक्षित नहीं है। देवजी का जगद्दर्शन कैसा अनूठा था, इसकी बानगी लीजिए—

प्रौढ़ा जानि माया-महारानी की घटाई कानि,
जसकै चढ़ायो हौं कलस जिहि कुलही;
उठि गई आसा, हरि लई हेरि हिंसा सखी,
कहाँ गई त्रिसना, जो सबतैं अतुलही?
सांति है सहेली, भाँति-भाँति कै करावै सुख,
सेवा करै सुमति, सुविद्या, सील, सुलही;
स्रुति की सुता सु दैया दुलही मिलाय दई,
मेरे मन-छैल को छिमा सु छैल दुलही।

शांति, सुमति, सुविद्या, श्रुति (धर्म) एवं क्षमा-संयुक्त मन पाकर फिर और कौन सांसारिक सुख पाना शेष रह सकता है? देवजी मन-दूलह के जीवनानंद का सारा प्रबंध कर देते हैं। शृंगारी कवि देव लोकोपयोगी जीवन का ऐसा विमल एवं पवित्र आदर्श उपस्थित करते हुए भी यदि एकमात्र घृणा की दृष्टि से देखे जायँ, तो बात ही दूसरी है। पर विषयासक्त मन भी देवजी की दृष्टि के परे न था—वे उसके भी सारे खेल देखा करते थे। वे देखते थे—

ऐसो मन मचला अचल अंग-अंग पर,
लालच के काज लोक-लाजहि ते हटि गयो;

लट मैं लटकि, कटि-खोयन उलटि करि,
त्रिबली पलटि कटि तटिन मैं कटि गयो।

यही क्यों, चंचल मन की गति देखकर—उसे ऐसा विषयासक्त पाकर—उन्हें दुःख होता था—

हाय ! कहा कहौं चंचल या मन की गति मैं ? मति मेरी भुलानी ;
हौं समुझाय कियो रसभोग, न तेऊ तऊ तिसना बिनसानी।
दाड़िम, दाख, रसाल सिता, मधु, ऊख पिए औ पियूष-से पानी,
पै न तऊ तरुनी तिय के अधरान की पीबे की प्यास बुझानी।

दुःख होते हुए भी—बटोही मन को इस प्रकार पथ-भ्रष्ट होते देखकर (मन तो बटोही ; हीन बाट क्यों कटोही परै ?)—नाभि-कूप में मन को बूड़ते (नाह को निहारि मन बूड़ै नाभिकूप मैं) एवं त्रिवली-तरंगिणी में डूब-डूबकर उछलते देखकर (यामैं बलबीर-मन बूड़ि-बूड़ि उछरत, बलि गई तेरी बलि त्रिबली-तरंगिनी) जब देवजी समझाने का उद्योग करते थे, तो उन्हें बड़ा ही मर्मस्पर्शी उत्तर मिलता था—

सखिन बिसारि लाज काज डर डारि मिली,
मोहिं मिल्यो लाल डँहकाए डँहकत नाहिं ;
पात ऐसी पातरी बिचारी चंग लहकत,
पाहन पवन लहकाए लहकत नाहिं।
हिलि-मिलि फूलनि-फुलेल-बास फैली "देव,"
तेल की तिलाई महकाए महकत नाहिं ;
जौहीं लौं न जाने, अनजाने रही तौलौं; अब
मेरो मन माई, बहकाए बहकत नाहिं।

मन-दुर्ग पर ऐसी संपूर्ण विजय देवजी को "किं-कर्तव्य-विमूढ़" कर देती थी। वे एक बार फिर कौतुक-पूर्ण नेत्रों से मन-नट के अपूर्व कर्तब—उत्कृष्ट खेल—देखने लगते थे—

टटकी लगनि चटकीली उमँगानि गौन,
लटकी लटक नट की-सी कला लटक्यो;
त्रिबली पलोटन सलोट लटपटी सारी,
चोट चटपटी, अटपटी चाल चटक्यो।
चुकुटी चटक त्रिकुटीतट मटक मन
भृकुटी कुटिल कोटि भावन मैं भटक्यो;
टटल बटल बोल पाटल कपोल "देव"
दीपति-पटल मैं अटल ह्वैकै अटक्यो।

इन दशाओं में विविध रंग बदलते हुए, मन को ठीक रास्ते पर लाने का सदुद्योग करते हुए देवजी उसकी उपमा उस हाथी से दे डालते हैं, जो रात के अंधकार में विकल हो रहा हो। देखिए—

"देवजू" या मन मेरे गयंद को रैनि रही दुख गाढ़ महा है;
प्रेम-पुरातन मारग-बीच टकी अटकी दृग सैल सिला है।
आँधी उसास, नदा अँसुवान की, बूड़्यो बटोही, चलै बलुका है;
साहुनी ह्वै चित चीति रही अरु पाहुनी ह्वै गई नींद बिदा है।

इस मन-गयंद को इस गाढ़ दुःख में छोड़कर, अपनी की हुई विविध अनीतियों का उसे स्मरण दिलाते हुए देवजी एक बार फिर मन को स्पष्ट फटकार देते हैं। फटकार क्या, मन की मिट्टी पलीद करते हैं। कवि एक बार फिर मन पर राज्य करता हुआ दिखलाई पड़ता है—

प्रेम-पयोधि परो गहिरे अभिमान को फेन रह्यो गहि रे मन;
कोप-तरंगन सों बहि रे पछिताय पुकारत क्यों बहिरे मन?
"देवजू" लाज-जहाज ते कूदि रह्यो मुख मूँदि, अजौं रहि रे मन;
जोरत, तोरत प्रीति तुही अब तेरी, अनीति तुही सहि रे मन।

अनीति सहने से ही काम न चल सकेगा; देवजी मन को दंड देने के लिये भी तैयार हैं। आत्मवश पाकर बदले की प्रबल

इच्छा से प्रेरित कवि का मर्मस्पर्शी हृदयोद्गार मन को कैसा भय-भीत कर रहा है ! देखिए—

तेरो कह्यो करि-करि, जीव रह्यो जरि-जरि ,
हारी पाँय परि-परि, तऊ तैं न की सँभार ;
ललन बिलोकि "देव" पल न लगाए, तब
यों कल न दीनी तै छलन उछलनहार ।
ऐसे निरमोही सों सनेह बाँधि हौं बँधाई
आपु बिधि बूड्यो माँझ बाधा-सिंधु निराधार ;
एरे मन मेरे, तैं घनेरे दुख दीन्हे; अब
ए केवार देकै तोहिं मूँदि मारौं एकै बार ।

पर जिस मन-मीत के मिलने के कारण देवजी और सब मित्रों का साथ छोड़ चुके हैं, क्या सचमुच वे उसको मर जाने देंगे ? नहीं-नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता । यह तो केवल डराने के लिये था । अस्तु । निम्न-लिखित छंद द्वारा वे विषयासक्त मन की कैसी निंदा करते हैं और शुद्ध मन के प्रति अपना अनुराग कैसे कौशल से दिखलाते हैं—

ऐसो जो हौं जानतो कि जैहै तू बिषै के संग ,
एरे मन मेरे, हाथ-पाँव तेरे तोरतो ;
आजु लौं हौं कत नर-नाहन की नाहीं सुनि
नेह सों निहारि हारि बदन निहोरतो ।
चलन न देतो "देव" चंचल अचल करि ,
चाबुक-चितावनीन मारि मुँह मोरतो ;
भारो प्रेम-पाथर नगारो दै गरे सों बाँधि
राधाबर-बिरुद के बारिध मैं बोरतो ।

निदान देवजी ने मन को माणिक, अतः वाणिज्ययोग्य, फिर दलाल-सा वर्णन किया । मन-रक्षा के लिये चितावनी दी

तथा उसको अपना सर्वस्व—मीत माना। कोमलता की दृष्टि से उसकी तुलना मोम, नवनीत एवं घृत से की गई; फिर मन-मंदिर बनाया और ढहाया गया। मन एक बार दूलह-रूप में भी दिखलाई दिया; फिर मन की चंचलता, विषय-तन्मयता एवं नट की-सी सफ़ाई का उल्लेख हुआ। मन दुर्ग एवं गयंद के समान भी पाया गया। उसके न बहकाए जाने पर भी विवाद उठा। फिर उसको उसकी अनीति सुझाई गई एवं दंड देने का भय दिखलाया गया। अंत में विषयासक्त होने के कारण उसकी घोर निंदा की गई। देवजी ने इस प्रकार एक मन का विविध प्रकार से वर्णन करके अपनी प्रगाढ़ काव्य-चातुरी का नमूना दिखाया एवं उच्च विचारों के प्रयोग से लोकोपयोग पर भी ध्यान रक्खा।

२—विहारी

कविवर विहारीलाल ने भी मन की मनमानी आलोचना की है, पर हमारी राय में उन्होंने मन को उलझाया अधिक है—सुलझाने में वे कम समर्थ हुए हैं। उनके वर्णनों में हृदय को द्रवीभूत करने की अपेक्षा कौतुक का आतंक अधिक रहता है। तो भी उनके कोई-कोई दोहे बड़े ही मनोरम हुए हैं—

कीन्हें हूँ कोटिक जतन अब कहि, काढ़े कौन ?
भो मन मोहन-रूप मिलि पानी में को लौन।
क्यों रहिए, क्यों निबहिए ? नीति नेह-पुर नाहिं ;
लगालगी लोयन करहिं; नाहक मन बँधि जाहिं।
पति-ऋतु-गुन-औगुन बढ़त मान-माह को सीत ;
जात कठिन ह्वै अति मृदुल तरुनी-मन-नवनीत।
ललन-चलन सुनि चुप रही, बोली आपु न ईठि ;
राख्यो मन गाढ़े गरे, मनो गली गलि डीठि।

मन की अपेक्षा हृदय पर विहारीलाल ने अच्छे दोहे कहे हैं—

छप्यो * नेह कागद-हिए, भयो लखाय न टाँकु ;
बिरह-तचै उघरयो सु अब सेहुँड़ को सो आँकु ।
पजरयो आगि बियोग की, बह्यो बिलोचन-नीर ;
आठौ जाम हिये रहै उड़्यो उसास-समीर ।
वे ठाढ़े उमदात उत, जल न बुझै बिरहागि † ;
जासों है लाग्यो हियो, ताही के हिय लागि ।

---

* इस 'छप्यो' शब्द पर संजीवन-भाष्यकार अत्यंत रुष्ट है—इस पाठ को 'नितांत अयुक्त' (२७९ पृष्ठ) बतलाते हैं । 'छप्यो' के स्थान पर वे 'छतो' पाठ स्वीकार करते हैं और 'छतो नेह' का अर्थ 'प्रीति थी' करते हैं । पर हमको उस पाठ में कोई हानि नहीं समझ पड़ती । 'छप्यो' का अर्थ यदि 'छिपा' न लेकर 'छप गया—मुद्रित हो गया' लें, तो अर्थ-चमत्कार का पूर्ण निर्वाह होता है । स्नेह हृदय-पत्र पर छप गया था—मुद्रित हो गया था, परंतु अंक दिखलाई न पड़ते थे । आँच (विरह की आँच) पाकर अर्थात् सेंके जाने पर वे—सेंहुड़ के दूध से लिखे अक्षरों के समान—दिखलाई पड़ने लगे । 'छाप' का प्रचार हमारे यहाँ बहुत प्राचीन समय से है । छाप का लगाना यहाँ मुद्रण-कला-आविष्कार के पहले प्रचलित था । प्रिंटिंग (Printing) का पर्यायवाची शब्द, 'छापना' इसी छाप से निकला प्रतीत होता है । विहारीलाल स्वयं 'छापा' का प्रयोग जानते थे ; यथा "जपमाला छापा तिलक सरै न एकौ काम ।" अतः छप जाने के अर्थ में यदि उन्होंने 'छप्यो' का प्रयोग किया हो, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं । हमें छप जाना अर्थ ही विशेष उपयुक्त समझ पड़ता है । पांडेय प्रभुदयाल ने अपनी सतसई-टीका में इस अर्थ का निर्देश किया भी है । पाठक इस पाठांतर का निर्णय स्वयं कर लें ।

† "जल न बुझै बड़वागि" के स्थान पर सतसई की अन्य कई प्रतियों में "जल न बुझै बिरहागि" पाठ है । इससे तात्पर्य यह है कि विरहाग्नि

उपर्युक्त पद्यों में मन और रूप की लवण-जलवत् संपूर्ण एकता, नेत्रों के दोष से मन का बँधना, शिशिर में तरुणी-मन-नवनीत का मृदुल से कठोर हो जाना, हृदय की काग़ज़ से समता आदि अनेक चमत्कारिणी उक्तियाँ हैं।

जल से शांत नहीं होने की—यह जलन तो हृदय से लिपटने से ही मिटेगी। बड़वागि के साथ 'जल' का अर्थ 'समुद्र-जल' करना पड़ता है, जिससे जल-शब्द असमर्थ हो जाता है। हमको "बिरहागि" पाठ ही अधिक उपयुक्त जँचता है।

नेत्र

१—देव

रूप-रस-पान करानेवाले नेत्रों का वर्णन भी देवजी ने अनोखे ढंग से किया है। कवि लोग प्रायः जिन-जिन पदार्थों से नेत्रों की तुलना करते हैं, उन सभी से देवजी ने एक ही स्थान पर तुलना कर दी है—एक ही छंद में सब कुछ कह डाला है। नेत्रों का सौंदर्य, विनोदशालीनता, प्रमोद-क्रोध-स्फुरण, हास्य एवं लज्जा आदि सभी विकारों का निर्देश कर दिया है। मृग के समान चौंकना, चकोर के समान चकित दिखलाई पड़ना, मछली के समान उछलना, भ्रमर के समान छककर स्थिर होना, काम-बाण के समान चलकर घाव करना, खंजन-पक्षी के समान किलोल करना, कुमुद-कुसुम के समान संकलित होना एवं कमल के समान प्रफुल्लित होना आदि वर्णनों का, जिन्हें कवि-जन नेत्रों के संबंध में करते हैं, देवजी ने एक ही छंद में सुंदर सन्निवेश कर दिया है। यह प्रयत्न यथासंख्य अलंकार द्वारा भूषित होने के कारण और भी रमणीय हो गया है। कितनी अच्छी शब्दयोजना है—

> चंद्रमुखि, तेरे चष चितै चकि, चैांति, चपि,
> चित्त चोरि चलैं सुचि साचनि डुलत हैं;
> सुदर, सुमंद, सविनोद, "देव" सामोद,
> सरोष संचरत, हाँसी-लाज बिलुलत हैं।
> हरिन, चकोर, मीन, चंचरीक, मैन-बान,
> खंजन, कुमुद, कंज-पुंजन तुलत हैं;

चौंकत, चकत, उचकत औ छकत, चलै
जात, कलोलत संकलत, मुकुलत हैं।

नैनों की तुरंग, झरोखा, अंकुश, दलाल एवं क़ज़्ज़ाक़ से भी उपमा दी गई है, पर विस्तार-भय से यहाँ उन सबका उल्लेख नहीं हो सकता। 'योगिनी अँखियाँ' का रूपक एवं नेत्रों का सावन-भादौं होना पाठकों को अन्यत्र दिखलाया गया है। विविध वर्ण के कमलों से देवजी ने नेत्रों की तुलना की है। क्रोध-वश रक्त-वर्ण नेत्र यदि रक्त-कमल के समान दिखलाई पड़ते हैं, तो "आछी उन-मील नील सुभग सरोजनि की तरल तनाइयत तोरन तितै-तितै" का दृश्य भी कज्जल-कलित नेत्रों का चमत्कार स्पष्ट कर देता है। आँखों के अश्रु-प्रवाह का कवि ने नाना प्रकार की उक्तियों का आश्रय लेकर वर्णन किया है। एक नायिका की निम्न-लिखित उक्ति कितनी सुहावनी और हृदय-स्पर्शिनी है—

रावरो रूप भरयो अँखियान ;
भरयो, सु भरयो; उमड्यो, सु ढरयो परै।

नायिका कहती है—मैं रोती नहीं हूं। अपनी आँखों में मैंने आपका रूप भर रक्खा था। वह जितना भर सका, उतना तो भरा है ; परंतु जो अधिक था, वह उमड़ पड़ा और अब वही बहा जाता है। व्रत रखनेवाली 'उपासी प्यासी' आँखों का 'रूप-पारण' भी पाठक पढ़ चुके हैं। अब उनका मधु-मक्खी होना भी पढ़ लीजिए।

धार मैं धाय धँसी निरधार ह्वै, जाय फँसीं, उकसीं न अँधेरी ;
री! अँगराय गिरी गहिरी, गहि फेरे फिरी न, घिरीं नहिं घेरी।
"देव" कछू अपनो बसु ना, रस-लालच लाल चितै भई चेरी ;
बेगि ही बूड़ि गई पँखियाँ; अँखियाँ मधु की मखियाँ भई मेरी।

रस-लालची मधु-मक्षिका से नेत्रों का जैसा कुछ यह साम्य है, सो तो हई है। पर कहाँ इतनी क्षुद्र मधु-मक्षिका और

कहाँ विशाल काव्य 'मतंग' ! जिसकी समता मक्खी से की जाय, उसी की मतंग से भी की जाय, यह कैसी विषमता है ! पर कवि-जगत् में सभी कुछ संभव है । देवजी कहते हैं—

लाज के निगड़, गड़दार अड़दार चहुँ,
चौंकि चितवनि चरखीन चमकारे हैं ;
बरुनी अरुन लीक, पलक-झलक फूल,
झूमत सघन घन घूमत घुमारे है ।
रंजित रजोगुन, सिंगार-पुंज, कुंजरत,
अंजन सोहन मनमोहन दतारे हैं ;
"देव" दुख-मोचन सकोच न सकत चलि,
लोचन अचल ये मतंग मतवारे हैं ।

देवजी नेत्र-वर्णन में आँखों से सखी का भी काम लेते हैं । जल ला-लाकर सखियाँ जिस प्रकार नायिका के ताप का उपशमन करती हैं, उसी प्रकार नेत्रों से अविरल अश्रु-प्रवाह विरहाग्नि को बहुत कुछ दबाए रहता है । कविवर कहते हैं—

सखियाँ ह्वै मेरी मोहिं आँखियाँ न सींचतीं तौ
याही रतिया मैं जाती छतिया छटूक ह्वै ।

देवजी की प्रेम-गर्विता एवं गुण-गर्विता नायिका अपने प्यारे कृष्ण को नेत्रों में कज्जल और पुतली के समान रखती हैं यथा "साँवरे-लाल को साँवरो रूप मैं नैनन को कजरा करि राख्यो" और "आँखिन मैं पुतरी ह्वै रहै" इत्यादि ।

२—विहारी

विहारीलाल ने नेत्रों का वर्णन देव की अपेक्षा कुछ अधिक किया है । उनके अनेक दोहे नितांत विदग्धता-पूर्ण और मर्मस्पर्शी भी हैं, परंतु नेत्रों के वर्णन में भी कौतूहल और कौतुक का चमत्कार

भरा हुआ है। अतिशयोक्ति का आश्रय भी कहीं-कहीं पर ऐसा है कि उस पर "रसिक सुजान सौ जान से फ़िदाँ हैं।" देखिए—

बर जीते सर मैन के, ऐसे देखे मैं न;
हरिनी के नैनान तें हरि, नीके ये नैन।
वारौं बलि, तो दगन पर अलि, खजन, मृग, मीन,
आधी डीठि चितौनि जेहि किए लाल आधीन।

इस दोहे से देवजी का ऊपर—सबसे पहले—दिया हुआ छंद मिलाइए और देखिए कि यथासंख्य का चमत्कार किसने कैसा दिखलाया है!

सबुही तन समुहात छिन, चलत सबन दै पीठि;
वाही तन ठहराति यह किबलनुमा-लौं डीठि।

यह दोहा देवजी के "अँखियाँ मधु की मखियाँ भई मेरी" वाले छंद के सामने कैसा ठहरता है! 'रस-लालच' का फंदा कितना प्रौढ़ अथच सराहनीय है!

देखत कछु कौतुक इतै? देखौ नेकु निहारि;
कब की इकटक डटि रही टटिया अँगुरिन फारि।

विहारीलाल की ग्रामीण नायिका बड़ी ही बेढब जान पड़ती है। उसकी ढिठाई तो देखिए! अँगुलियों से टटिया फाड़कर घूर रही है। देवजी के वर्णन में घोर ग्रामीणा भी ऐसा कार्य करते न दिखलाई पड़ेगी।

बाल काहि लाली भई लोयन कोयन-माहिं?
लाल, तिहारे दगन की परी दगन में छाँह।

इस दोहे के जवाब में देवजी का अकेला यह चतुर्थ पद कितना रोचक है—

काहू के रंग रँगे दग रावरे,
रावरे रंग रँगे दग मेरे।

आपके नेत्र किसी और के रंग में रँगे हुए हैं और मेरी आँखें आपके रंग में, इसी से दोनों की आँखें रंगीन हैं। 'रंग में रँगना' एक सुंदर महाविरा है। इस महाविरे के बल पर आँखों की सुर्ख़ी का जो पता दिया गया है, वह ख़ूब 'रंगीन' और 'सुकुमार' है। विहारी के दोहे में नेत्रों में जो लालिमा आई है, वह दूसरे नेत्रों की छाँह पड़ने से पैदा हुई है, पर देवजी के छंद में यह रंग छाँह पड़ने से नहीं आया है, वरन् सहज ही उत्पन्न हुआ है। अनुप्रास-चमत्कार भी ख़ासा है।

देव-बिहारी तथा दास

बिहारी और देव दोनों ही महाकवियों की कविता का प्रभाव इनके परवर्ती कवियों की कविता पर पूर्ण रूप से पड़ा है। महाकवि दास देव और बिहारी के बाद हुए हैं। दासजी बहुत बड़े आचार्य और उत्कृष्ट कवि थे। हम देव और बिहारी के कवित्व-महत्त्व को स्पष्ट करने के लिये इस विशिष्ट अध्याय द्वारा दासजी की कविता पर उनका जो प्रभाव पड़ा है, उसे दिखलाते हैं—

१—बिहारी और दास

कविवर बिहारीलाल एवं सुकवि भिखारीदास उपनाम 'दास' इन दोनों ही कवियों की प्रतिभा से मधुर ब्रजभाषा की कविता गौरवान्वित है। बिहारीलालजी पूर्ववर्ती तथा दासजी परवर्ती कवि हैं। बिहारीलाल की दोहामयी सतसई का जैसा कुछ आदर है, वह विदित ही है; उधर दासजी के 'काव्य-निर्णय'-ग्रंथ का अध्ययन भी थोड़ा नहीं होता। बिहारीलालजी कवि हैं, आचार्य नहीं; पर दासजी कवि और आचार्य दोनों ही हैं। दोनों ही कवियों ने शृंगार-रस का सत्कार किया है। दासजी जिस प्रकार परवर्ती कवि हैं, उसी प्रकार काव्य-प्रतिभा में भी उनका नंबर बिहारीलाल के बाद माना जाता है। कुछ लोग शृंगारी कवियों में प्रथम स्थान बिहारीलालजी को देते हैं और दूसरे स्थान पर दासजी को बिठलाते हैं; पर कुछ विद्वान् ऐसे भी हैं, जो शृंगारी कवियों में देवजी को सर्व-शिरोमणि मानते हैं और दासजी का नंबर केशव, बिहारी, मतिराम तथा सेनापति आदि के बाद बतलाते हैं। दासजी ने अपने पूर्ववर्ती कवियों के भावों को निस्संकोच होकर अपनाया है। इस बात को

उन्होंने अपने एक ग्रंथ में स्वीकार भी किया है। दासजी की कविता के समालोचकों में घोर मत-भेद है। एक पक्ष का कथन है कि उन्होंने अधिकतर अपने पूर्ववर्ती कवियों के भाव ही अपनी कविता में रख दिए हैं। भावापहरण करते समय जो कुछ फेरफार उन्होंने पूर्ववर्ती कवियों के भावों में कर दिया है, उससे पहले भावों की न तो रक्षा हुई है और न उनमें किसी प्रकार का सुधार ही हुआ है। हाँ, भाव-चमत्कार में कुछ न्यूनता अवश्य आ गई है। इससे इन समालोचकों की राय में दासजी साहित्यिक चोरी के दोषी हैं। इस मत के विपरीत दूसरे समालोचकों की राय है कि दासजी ने पूर्ववर्ती कवियों के भाव भले ही लिए हों, परंतु उन भावों को उन्होंने अपने अनोखे ढंग से अभिव्यक्त किया है—भावों के सौंदर्य को अत्यधिक बढ़ा दिया है—उनमें नूतन चमत्कार उपस्थित कर दिया है।

हमने दासजी एवं उनके पूर्ववर्ती कवियों के भाव-सादृश्यवाले बहुत-से छंद एकत्र किए हैं। उनकी संख्या दो-चार नहीं है, दस-पाँच भी नहीं, सैकड़ों तक पहुँच गई है। इतना ही नहीं, इनके और इनके पूर्ववर्ती कवियों के ग्रंथों के अनेक अध्यायों में अद्‌भुत सादृश्य पाया जाता है। ऐसे सादृश्य-पूर्ण अध्यायों का संग्रह भी हम कर रहे हैं। दासजी ने संस्कृत-कवियों के अनेक श्लोकों का यथातथ्य अनुवाद भी कर डाला है। इस प्रकार के कुछ श्लोक पं० पद्मसिंह शर्मा ने, 'सरस्वती' में, समय-समय पर, प्रकाशित भी कराए हैं। हमको इसी प्रकार के कुछ श्लोक और दासजी-कृत उनके अनुवाद और भी मिले हैं। इनका भी एक संग्रह करने का हमारा विचार है। व्रज-भाषा के पूर्ववर्ती सुकवियों में से प्रायः सभी की कविताओं से दासजी ने लाभ उठाया है; पर विहारी, मतिराम, सेनापति, केशव, रसखान और देव के भावों की छाया इनकी कविता में बहुत स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। तोष इनके समकालीन थे, पर उनका 'सुधानिधि'-ग्रंथ

इनके 'काव्य-निर्णय' और 'शृंगार-निर्णय' के पहले बना था। इन दोनों ग्रंथों में दासजी ने तोष के भावों को भी अपनाया है। कविवर श्रीपतिजी का 'काव्य-सरोज' 'काव्य-निर्णय' के २७ वर्ष पूर्व बन चुका था। उसका प्रतिबिंब भी काव्य-निर्णय में मौजूद है। विचार है, भाव-सादृश्यवाली यह सब सामग्री एक स्वतंत्र पुस्तक द्वारा हम हिंदी-संसार के सम्मुख उपस्थित करें। उस समय दासजी की कविता के दोनों ही प्रकार के समालोचकों को यह निर्णय करने में सरलता होगी कि दासजी भाव-चोर हैं या सीनाज़ोर ! अस्तु। यहाँ पर भी हम दासजी के प्रायः एक दर्जन छंद पाठकों के सामने रखते हैं। इनमें स्पष्ट ही विहारीलाल के भावों की छाया है। पाठकों से प्रार्थना है कि दोनों ही कवियों के भावों की बारीकियों पर ध्यानपूर्वक विचार करें। जितनी ही सूक्ष्मदर्शिता से वे काम लेंगे, उतनी ही उनको इस बात के निर्णय करने में सरलता होगी कि दासजी साहित्यिक सीनाज़ोर हैं या सचमुच चोर।

पहले दोनों कवियों के सदृश भाव-पूर्ण कुछ दोहे लीजिए—

(१)

डिगत पानि डिगलात गिरि लखि सब ब्रज बेहाल ;
कंप किसोरी-दरस ते, खरे लजाने लाल।

विहारी

दुरे-दुरे ताकि दूरि ते राधे, आधे नैन ;
कान्ह कँपति तुव दरस ते, गिरि डिगलात, गिरे न।

दास

(२)

रवि बंदौ कर जोरिकै, सुनै स्याम के बैन ;
भए हँसौहैं सबन के अति अनखौहैं नैन।

विहारी

बाहेर कढ़ि, कर जोरिकै रवि के करौ प्रनाम ;
मन-ईछित फल पायके तब जैबो निज धाम* ।

दास

(३)

बोलि अचानक ही उठे बिनु पावस बन मोर ;
जानित हौ नंदित करी यह दिसि नंदकिसोर ।

विहारी

बिनहु सुमन-गन बाग मैं भरे देखियत भौंर ;
'दास' आजु मनभावनी सैल कियो यहि ओर ।

दास

(४)

सबै कहत कवि कमल से, मो मत नैन पखान ;
नतरक कत इन बिय लगत उपजत बिरह-कृसान !

विहारी

मेरो हियो पखान है, त्रिय-दृग तीछन बान ;
फिरि-फिरि लागत ही रहैं उठै बियोग-कृसान ।

दास

(५)

सुरँग महावर सौति-पग निरखि रही अनखाय ;
पिय-अँगुरिन लाली लखे उठै खरी लगि लाय ।

विहारी

---

* इस भाव को सुकवि मतिराम ने भी इस प्रकार कौशल-पूर्वक प्रकट किया है—

चढ़ी अटारी बाम वह, कियो प्रनाम निखोट ;
तरनि-किरन ते दृगन की कर-सरोज करि ओट ।

मतिराम

स्याम पिछौरी चीर में पेखि स्याम-तन लागि ;
लगो महाउर आँगुरिन लगी महा उर आगि।

दास

(६)

मोहूँ दीजे मोष, ज्यों अनेक अधमन दयो ;
जो बाँधे ही तोष, तो बाँधो अपने गुनन।

बिहारी

ज्यों गुनहीं बकसीसके ज्यो गुनही गुन हीन ;
तौ निर्गुनहीं बाँधिए दीन-बंधु, जन दीन।

दास

(७)

नितप्रति एकत ही रहत, बैस, बरन, मन एक ;
चहियत जुगलकिसोर लखि लोचन जुगल अनेक।

बिहारी

सोभा सोभा-सिंधु की द्वै दग लखत बनै न ;
अहह दई ! किन करि दई भय मन प्रापति नैन।

दास

(८)

सुघर सौति बस पिय सुनत दुलहिनि दुगुन हुलास ;
लखी सखी तन दीठि करि सगरब, सलज, सहास।

बिहारी

पिय आगम परदेस तैं सौति सदन मैं जोय ;
हरष, गरब, अमरष भरी रस—रिस गई समोय।

दास

(९)

चित-बित बचत न, हरत हठि लालन-दग बरजोर ;
सावधान के बटपरा, ये जागत के चोर।

बिहारी

लाल तिहारे दगन की हाल कही नहिं जाय ;
सावधान- रहिए तऊ चित-बित लेत चुराय ।

दास

अब दोहों के अतिरिक्त दासजी के कुछ उन लंबे छंदों का भी उल्लेख किया जाता है, जिनमें विहारीलाल के दोहों का भाव झलकता है । पहले हम वही छंद उद्धृत करेंगे जिसका ज़िक्र पं० पद्मसिंह शर्मा ने अपने संजीवन-भाष्य के प्रथम खंड में पृष्ठ १४८ पर किया है । उनकी राय में उस छंद में जो भाव भरा हुआ है वह विहारीलाल के कई दोहों से संकलित किया गया है । उक्त छंद और दोहे नीचे दिए जाते हैं—

(१०)

सीरे जतनानि सिसिर रितु, सहि बिरहिनि तन-ताप ;
बसिबे को ग्रीषम दिननि, परथो परोसिनि पाप ।
आड़े दै आले बसन, जाड़े हूँ की राति ;
साहस ककै सनेह-बस, सखी सबै ढिँग जाति ।
औंधाई सीसी सुलखि, बिरह बरति बिललाति :
बीचहि सूखि गुलाब गो, छींटौ छुई न गात ।
जिहि निदाघ-दुपहर रहै, भई माह की राति ;
तिहि उसीर की रावटी, खरी आवटी जाति ।

विहारी

एरे निरदई दई दरस तो देरे वह ,
ऐसी भई तेरे वा बिरह-ज्वाल जागिकै ;
दास आस-पास पुर-नगर के बासी उत ,
माह हू को जानत निदाघ रह्यो लागिकै ;
लै-लै सीरे जतन भिगाए तन ईठि कोऊ ,
नीठि ढिँग जावै सोऊ आवै फिरि भागिकै ;

दीसी मैं गुलाब-जल सीसी मैं मगहि सूखै ,
सीसियौ पघिलि परैं अंचल सो दागिकैं।

दास

(११)

नित संसौ-हंसौ बचतु मनौ सु यह अनुमानि ;
विरह-अगिनि लपट न सकै झपटि न मीचु-सिचान ।

विहारी

ऊँचे अवास बिलास करै, अँसुवान को सागर कै चहुँ फेरे ;
ताहू ते दूरिलौं अंग की ज्वाल, कराल रहै निसि बास घनेरे ;
दास लहै बरु क्यों अवकास, उसास रहै नभ ओर अभेरे ;
है कुसलात इती यहि बीच, जु मीचु न आवन पावत नेरे ।

दास

(१२)

कुच गिरि चढ़ि अति थकित ह्वै, चली डीठि मुख चाड़ ;
फिरि न टरी परियै रही, परी चिबुक की गाड़ ।

विहारी

बार अँध्यारनि मैं भटक्यो हौ, निकारयो मैं नीठि सुबुद्धिन सों धरि ;
बूड़त आनन-पानिप-भार पटीर की आँड़ सों तीर लग्यो तिरि ;
मो मन बावरो योंहीं हुत्यो, अधरा-मधु पानकै मूढ़ छक्यो फिरि ;
'दास' कहौ अब कैसे कढ़े निज,चाय सो ठोढ़ी के गाड़ परयो गिरि ।

दास

(१३)

बाल-बेलि सूखी सुखद, यह रूखी रुख-घाम ;
फेरि डहडही कीजिए, सरस सींचि घनस्याम ।

विहारी

जोहे जाहि चाँदनी की लागति भली न छबि,
चंपक-गुलाब-सोनजूही-जोतिवारी है ;
जामते, रसाल लाल करना, कदब ते वै,
बढी है नबेली, सुनु, केतकी सुधारी है।
कहै 'दास' देखौ यह तपनि विषादित की,
कैसी बिधि जाति दोपहरिया नेवारी है ;
प्रफुलित कीजिए बरसि घनस्याम प्यारे,
जाति कुँभिलानि बृषभानजू की बारी है।

दास

यहाँ पर हम दासजी के यही १३ छंद देना उचित समझते हैं। हमारे पास दासजी के और भी बहुत-से छंद मौजूद हैं, जिनमें उनके और विहारी के भावों में स्पष्ट सादृश्य विद्यमान है; पर उनको यहाँ देना हम इसलिये उचित नहीं समझते कि उनमें दासजी की प्रतिभा बहुत ही साधारण रूप में प्रकट हुई है। विहारीलाल के दोहों के सामने दासजी के साधारण दोहे रखने से पाठकगण भ्रम में पड़ सकते हैं, इससे दासजी के साथ अन्याय हो सकता है। अपनी रुचि और पहुँच के अनुसार हमने ऊपर दास-कृत जिन छंदों को उद्धृत किया है, उन्हें अच्छा ही समझकर किया है, जिसमें दासजी के अनुकूल समालोचकों को हमसे किसी प्रकार की शिकायत करने का मौक़ा न मिले। उल्लिखित छंद अधिकतर 'रस-सारांश', 'काव्य-निर्णय' तथा 'शृंगार-निर्णय' से संगृहीत किए गए हैं।

अब हम उपर्युक्त तेरहों उक्तियों की रमणीयता के रहस्य पर भी संक्षेप में कुछ प्रकाश डाल देना चाहते हैं। ऐसा करने से हमारा अभिप्राय यह है कि पाठक भली भाँति समझ जायँ कि उक्तियों में चमत्कार की बातें कौन-सी हैं ? क्रमशः प्रत्येक उक्ति पर विचार कीजिए—

(१) श्रीकृष्ण ने गोवर्धन-धारण किया है। घोर जल-वर्षण से विकल व्रजवासी गोवर्धन-पर्वत के नीचे आश्रित हुए हैं। वहीं श्रीराधिकाजी भी मौजूद हैं। श्रीकृष्णचंद्रजी का राधिकाजी से साक्षात्कार हो जाता है। ठीक उसके बाद ही लोग देखते हैं कि कृष्णचंद्र का हाथ हिल रहा है तथा हाथ के हिलने से पर्वत भी। व्रजवासी इस अवस्था को देखकर विकल हो रहे हैं। पर श्रीकृष्णचंद्र में यह कमज़ोरी पर्वत के भार के कारण नहीं आई है, यह कंप तो दूसरे ही प्रकार का है। बड़े भारी पर्वत के बोझ से जो हाथ अचल था, वह किशोरी के दर्शनमात्र से हिल गया। उक्ति की रमणीयता इसी बात में है। दोनों ही कवियों ने इसी भाव का वर्णन किया है।

(२) नायिका स्वयं या किसी की सलाह से रवि-वंदना करती है। पर यह कोरा भक्त का प्रदर्शन नहीं है। इस प्रकार सूर्यदेव को हाथ जोड़ने में दो मतलब हैं। दोनों उक्तियों का सारा चमत्कार इसी बात में है कि लोग तो समझें कि सूर्यदेव की आराधना हो रही है और नायक समझे कि हमारा सौभाग्य चमक उठा है।

(३) विना बादलों के ही केका की ध्वनि सुनाई दे रही है, क्या बात है? कहीं फूल नहीं दिखलाई पड़ते, तो भी भ्रमर चारों ओर गुंजार करने लगे हैं, क्या मामला है? जान पड़ता है, इधर घन-श्याम (कृष्ण, मेघ) का शुभागमन हुआ है, इसी से मोर बोल उठे हैं और राधिकाजी भी, जान पड़ता है, सैर को निकली हैं। उनके शरीर की पद्म-गंधि से आकृष्ट भ्रमर भी इधर दौड़ पड़े हैं।

(४) नेत्रों को कमल के समान कहना ठीक नहीं, वे पाषाण के समान हैं। तभी तो उनका संघर्ष होते न होते विरहाग्नि पैदा हो जाती है। विहारी की उक्ति का सार यही है। दासजी की राय में

नायक का हृदय पत्थर का बना हुआ है। नायिका के नेत्र तीक्ष्ण बाण हैं। बस, जब-जब ये तीक्ष्ण शर हृदय-प्रस्तर पर लगते हैं, तब-तब विरहाग्नि पैदा हो जाती है। दोनों कवियों की निगाह के सामने पत्थर से अग्नि निकलने का दृश्य मौजूद है। उक्ति की रमणीयता विरहाग्नि की उद्दीप्ति में है।

(५) प्रियतम की उँगलियों में महावर की लाली देखकर नायिका कुपित होती है। उसका ख़याल है कि महावर सपत्नी के पैरों से छूटकर नायक की उँगलियों में लग गया है। कोप का प्रादुर्भाव होने के लिये सपत्नी का सामीप्य यों ही पर्याप्त था। फिर कृष्णचंद्र में सपत्नी के सन्निकट होने के प्रमाण भी मिले। इसने आहुति में घी का काम किया। पर नायक की उँगलियों में सपत्नी के पैरों का जावक लगा देखकर तो कोप की अग्नि धाँय-धाँय जल उठी। स्त्रियों में सपत्नी के प्रति स्वभावतः ईर्षा होती है। दोनों कवियों ने प्रियतम की उँगलियों में महावर लगा दिखलाकर इस ईर्षा का विकास करा दिया है। दोनों कवियों की उक्ति में इसी रसीले कोप की रमणीयता है।

(६) भक्त मोक्ष का प्रार्थी है। ईश्वर के प्रति उसकी उक्ति है कि जैसे अनेक अधम पापियों को आपने मुक्त कर दिया है, वैसे ही मुझे भी मुक्त कर दीजिए, पर यदि मेरा मोक्ष (छुटकारा) आपको स्वीकार नहीं है—आप मुझे बंधन में ही रखना चाहते हैं—तो कृपया अपने गुणों (रस्सी तथा गुण) से ही खूब कसकर बाँध रखिए। विहारी की उक्ति में इसी 'गुण' शब्द के श्लिष्ट प्रयोग में रमणीयता की बढ़िया आ गई है। दासजी की भी ईश्वर से कुछ ऐसी ही प्रार्थना है, परंतु बंधनावस्था में वह चाहते हैं कि उन-जैसे दीन का बंधन निर्गुण (रस्सी के प्रयोग के विना, निर्गुण) भाव से होना चाहिए।

(७) भगवान् की अपार शोभा निरखने के लिये दो नेत्र पर्याप्त नहीं हैं, इसी बात की दोनों कवियों को शिकायत है। विहारीलाल को युगलकिशोर रूप देखने के लिये अनेक युगल-दृग चाहिए। दासजी से दो नेत्रों से शोभा-सिंधु की शोभा देखते नहीं बनती।

(८) प्रियतमा ने सुना है कि प्रियतम आज कल सपत्नी के वश में हो गए हैं। यह समाचार पाकर उसका आनंद द्विगुणित हो गया है। यह समाचार सुनकर उसने अपनी सखी की ओर बड़ी ही भेद-भरी निगाह डाली। इसमें गर्व, लज्जा और हँसी भरी हुई थी। विहारी का दोहा इसी दशा का पता देता है। दासजी के दोहे में पति विदेश से लौटकर आया है। पहलेपहल सपत्नी के सदन को गया। प्रियतमा ने इसे देख लिया। इस दृश्य से वह हर्ष, गर्व, अमर्ष, अनख, रस और कोप में डूब रही है। प्रियतम की सपत्नी के प्रति प्रीति देखकर प्रियतमा की क्या दशा हुई है, इसी का दोनों ही दोहों मे चित्र खींचा गया है। दोनों उक्तियों की रमणीयता इसी बात में है।

(९) श्रीकृष्णचंद्र के नेत्र बड़े ही ज़बरदस्त हैं। उन्होंने अंधेर मचा रक्खा है। सावधान रहते हुए भी ये ग़ज़ब ढहाते हैं। ये सोतों के यहाँ नहीं, बल्कि जागतों के यहाँ चोरी करते हैं। इनसे और वित्त की कौन कहे, चित्त-वित्त तक नहीं बचता। ये सभी कुछ ज़बरदस्ती हर लेते हैं। विहारीलाल के बरजोर दृगों की यही दशा है। दासजी अपने लाल के दृगों का कुछ हाल कह ही नहीं पाते। यद्यपि वे सावधान रहते हैं, फिर भी नेत्र उनके चित्त-वित्त की चोरी कर ही लेते हैं। दोनों ही कवियों ने नेत्रों के ऊधमी स्वभाव का वर्णन किया है। इस औद्धत्य में ही दोनों उक्तियों की रमणीयता है।

(१०) विहारीलाल ने अपने चार दोहों में विरहाधिक्य का वर्णन किया है। विरहिणी की परोसिन को जाड़े की रातों में तो इतना कष्ट नहीं हुआ, पर अब गर्मी में उसके विरह-ताप के सन्निकट रहने में घोर कष्ट है। इस विरह-ताप का अंदाज़ा इसी बात से किया जा सकता है कि जाड़े की रातों में भी विरहिणी की सखियाँ विरह-ताप से बचने के लिये भीगे वस्त्रों की सहायता लेकर ही उस तक जा पाती थीं। एक दिन विरहिणी को इस प्रकार घोर विरह-ताप में बिललाते देखकर किसी ने उस पर गुलाबजल की शीशी उँडेल दी, जिसमें इसको कुछ शीतलता मिले, पर गुलाबजल बीच ही में सूख गया; विरहिणी के शरीर पर उसकी एक छींट भी नहीं पहुँची। विरहिणी जिस रावटी में रहती है, उसकी ठंडक का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि वहाँ ग्रीष्म-ऋतु की ठीक मध्याह्न की उष्णता के समय इतनी शीतलता पाई जाती है, मानो माघ-मास की रात्रि का जाड़ा हो। इतनी शीतलता रहते हुए भी उस 'उसीर की रावटी' में बेचारी विरहिणी विरहाग्नि में 'औटी'-सी जाती है। विहारीलाल ने नायिका के विरहाधिक्य का वर्णन इसी प्रकार किया है। इन्हीं अतिशयोक्तिमयी उक्तियों में रमणीयता पाई जाती है। दासजी की निगाह भी एक विरहिणी पर पड़ी है। जिस स्थान में विरहिणी रहती है, वहाँ के आसपास के पुर-नगरवासियों की यह दशा हो रही है कि उन्हें माघ-मास में भी यही जान पड़ता है कि अभी ग्रीष्म-ऋतु ही मौजूद है। विरहिणी तक पहुँचने के लिये शीतलोपचार करके, शरीर को जलार्द्र रखते हुए, कठिनता से यदि कोई वहाँ तक पहुँचता भी है, तो उसे वहाँ से भागना पड़ता है। निकट से विरह-ताप सह सकने की सामर्थ्य किसी में भी नहीं रह गई है। लोग देखते हैं कि नायिका अपने शरीर पर गुलाब-जल उँडेलने का उद्योग करती है, पर वह बीच ही में सूख जाता

है । इतना ही नहीं, शीशी भी केवल अंचल के स्पर्शमात्र से ही पिघल उठती है ।

(११) मीचु-सिचान (बाज़) जीव (हंस) तक इस कारण नहीं पहुँच पाता कि उसके पास—विरहिणी के शरीर में—इतना विरह-ताप है कि उसमें उसके झुलस जाने का डर है । बस, प्राण-रक्षा इसी कारण हो रही है । प्राण-रक्षा के इस चतुरता-पूर्ण उपाय में विहारीलाल ने रमणीयता भर दी है । दासजी मीचु को विरहिणी के निकट तक न आने देने के लिये चारों ओर आँसुओं का सागर उमड़ाते हैं, दूर-दूर तक अंग की ज्वालमालाओं को फैलाते हैं तथा विरहोच्छ्वास से वायुमंडल में भीषण तूफ़ान उठाते हैं । इस प्रकार इन तीन कारणों से मौत की पहुँच विरहिणी तक नहीं होने देते ।

(१२) दृष्टि ने कुच-गिरि की ख़ूब ऊँची चढ़ाई चढ़ डाली, पर थक गई । फिर भी अभीष्ट सुख की चाह में वह आगे चल पड़ी । परंतु बीच ही में उसका पैर फिसल गया और वह ठोढ़ी के गड्ढे में ऐसी गिरी कि बस, अब वहाँ से उसका निकलना ही नहीं होता । चिबुक-गाड़ में इतना सौंदर्य है कि एक बार निगाह वहाँ पड़ती है, तो फिर हटती ही नहीं । दोहे का बस यही सार है । एक रूपक के आश्रय में विहारीलाल ने उसको रमणीय बना दिया है । दास-जी का मन भी ठोढ़ी की गाड़ के फेर में पड़ गया है । पहले वह अंधकार-मय बालों में भटकता रहा, वहाँ से निकला, तो आनन-पानिप में डूबने की नौबत आई । यहाँ से जान बची, तो इसने अधरों का बेहद मधु-पान किया । इसमें वह ऐसा बेहोश हुआ कि अपनी इच्छा से ठोढ़ी के गड्ढे में जा गिरा । अब कहिए, इससे कैसे निस्तार मिले ?

(१३) रुखाई-रूपी धूप के प्रभाव से बाला-बल्ली सूख गई है ।

विहारीलाल घनश्याम से प्रार्थना करते हैं कि रस से सिंचन करके इसको पुनः डहडही बनाइए। रूपक का आश्रय लेकर विरहिणी का विरह मेटने का कवि का यह उपाय रमणीय है। दासजी ने भी रूपक का पल्ला पकड़ा है। उनकी भी घनश्याम से प्रार्थना है कि वृषभानजी की बारी (बच्ची, फुलवारी) को बरस करके प्रफुल्लित करें, कुँभलाने से उसकी रक्षा करें। पुष्प-वाटिका से संबंध रखनेवाले भिन्न-भिन्न फूलों के नामों का कहीं श्लिष्ट और कहीं यों ही प्रयोग करके उन्होंने अपनी उक्ति की रमणीयता को प्रकट किया है।

उभय कवियों की सभी उक्तियों का सारांश हमने ऊपर दे दिया है। पुस्तक का कलेवर बढ़ न जाय, इसलिये हमने प्रत्येक उक्ति का विस्तृत अर्थ लिखना उचित नहीं समझा; पर इतना अर्थ अवश्य दे दिया है, जिससे जो पाठक इन उक्तियों का अर्थ न जानते हों, उनको इनके समझने में सुगमता हो। प्रत्येक छंद के काव्यांगों पर भी हमने यहाँ पर विचार नहीं किया है। पाठकों से प्रार्थना है कि वे इन उक्तियों को स्वयं ध्यानपूर्वक पढ़ें, इन पर विचार करें। तत्पश्चात् इन पर अपना मत स्थिर करें।

चोरी और सीनाज़ोरी का निर्णय करते समय पाठकों से प्रार्थना है कि वे निम्न-लिखित बातों पर अवश्य ध्यान रक्खें—

(१) पूर्ववर्ती और परवर्ती कवि के भावों में ऐसा सादृश्य है कि नहीं, जिससे यह नतीजा निकाला जा सके कि परवर्ती ने अपनी रचना पूर्ववर्ती की कृति देखकर की है ?

(२) यदि भावापहरण का नतीजा निकालने में कोई आपत्ति नहीं है, तो दूसरी विचारणीय बात यह है कि जिन परिच्छदों में दोनों भाव ढके हैं, उनमें कौन-सा परिच्छद भाव के उपयुक्त है अर्थात् उसको विशेष रमणीय बनानेवाला है ? परिच्छद से हमारा अभिप्राय भाषा से है।

(३) परवर्ती कवि ने पूर्ववर्ती कवि के भाव को संक्षिप्त करके—समस्त रूप में—प्रकट किया है या उसको विस्तृत करके—व्यास-रूप में—दरसाया है अथवा ज्यों-का-त्यों रहने दिया है ? इन तीनों ही प्रकार से भाव के प्रकट करने में पूर्ववर्ती कवि के भाव की रमणीयता घटी है या बढ़ी अथवा ज्यों-की-त्यों बनी रही ?

(४) छंद में भाव को पुष्ट करनेवाली सामग्री का सफलता-पूर्वक प्रयोग किसने किया है ? किसकी रचना में व्यर्थ के शब्द आ गए हैं तथा किसकी रचना में व्यर्थ का एक शब्द भी नहीं आने पाया है ?

(५) समालोच्य कवियों ने जिस भाव को प्रकट किया है, उसको यदि किसी उनके भी पूर्ववर्ती कवि ने प्रयुक्त कर रक्खा है, तो यह देख लेना चाहिए कि ऐसा तो नहीं है कि दोनों कवियों ने इसी तीसरे पूर्ववर्ती कवि का भाव लिया हो ? यदि ऐसा हो, तो यह विचारना चाहिए कि उस पूर्ववर्ती कवि के भाव को इन दोनों में से किसने विशेष रमणीय बना दिया है ?

(६) काव्यांगों का किसकी कविता में अधिक समावेश है ? काव्यांगों पर भी विचार करते समय यह बात ध्यान में रखनी पड़ेगी कि उत्कृष्ट काव्यांग किसकी रचना में अधिक हैं ? हमारे इस कथन का तात्पर्य यह है कि काव्यांगों में शब्दालंकार से अर्थालंकार में एवं इससे रस में तथा रस से व्यंग्य में उत्तरोत्तर काव्य की उत्कृष्टता मानी गई है । दोनों कवियों की रचनाओं पर विचार करते समय यह बात भी ध्यान में रखनी होगी कि यदि दोनों कवियों की कविता में काव्यांग पाए जाते हैं, तो उत्कृष्ट काव्यांग किसकी कविता में अधिक हैं ?

(७) औसत से भावोत्कृष्टता किसकी कविता में अधिक है,

अर्थात् एक कवि के भाव-सादृश्यवाले कितने छंद दूसरे कवि के वैसे ही और उतने ही छंदों से अच्छे हैं ?

(८) ऊपर बतलाई गई सभी बातों पर विचार कर लेने के बाद यह देखना चाहिए कि किसके छंद में अधिक रमणीयता पाई जाती है ।

अंत को पाठकों से एक बात और कहनी है । वर्तमान हिंदी-साहित्य-संसार में एक दल ऐसा है, जो कविवर विहारीलाल को शृंगारी कवियों में सबसे बढ़कर मानता है । हमें मालूम है कि कोई-कोई कविता-प्रेमी दासजी के भी उत्कट भक्त हैं । यदि किसी को दासजी का कोई भाव विहारीलाल के तादृश भाव से बढ़ा हुआ जान पड़े, तो हम चाहते हैं कि उसको प्रकट करने में उसे किसी प्रकार का पशोपेश न करना चाहिए । फिर दासजी का यदि कोई भाव विहारीलाल के किसी भाव से बढ़ा हुआ पाया जाय, तो इससे विहारीलाल का पद गिर न जायगा । अतः कोई ऐसा कहे, तो विहारी के भक्तों को अप्रसन्न न होना चाहिए ।

निदान ऊपर जो कविताएँ दी गई हैं, उनको पढ़कर पाठक निर्णय करें कि दासजी ने विहारीलाल के भावों की चोरी की है या उनको यह सिखलाया है कि आइए देखिए, भाव इस प्रकार से प्रकट किए जाते हैं !

२—देव और दास

दासजी ने जिस प्रकार महाकवि विहारी के भावों से लाभान्वित होने में संकोच नहीं किया है, ठीक उसी प्रकार महाकवि देव के भावों का प्रतिबिंब भी उनकी कविता में मौजूद है । जिन कारणों से हमने ऊपर विहारी और दास के सदृशभाववाले छंद दिए हैं, उन्हीं कारणों से यहाँ पर देव और दास के भी कुछ छंद दिए जाते हैं । साहित्यिक सीनाज़ोरी या चोरी की बात विज्ञ

पाठकों के सामने है। वे निर्णय कर सकते हैं कि उत्तमता किस ओर है —

(१)

राजपौरिया के रूप राधे को बनाइ लाई
　　गोपी मथुरा ते मधुबन की लतानि मैं ;
टेरि कह्यो कान्ह सों, चलो हो कंस चाहै तुम्हैं,
　　याके कहूँ लूटत सुने हौ दधि-दानि मैं ;
सग के न जाने, गए डगरि डराने "देव,"
　　स्याम ससवाने-से पकरि करे पानि मैं ;
छूटि गयो छल सो छबीली की बिलोकनि मैं,
　　ढीली भई भौंहै वा लजीली मुसकानि मैं।

देव

चाँदनी मै चैत की सकल ब्रजबारि बारि,
　　"दास" मिलि रास-रस-खेजनि भुलानी है ;
राधे मोर-मुकुट, लकुट, बनमाल धरि,
　　हरि ह्वै, करन तहाँ अकह कहानी है ;
त्यों ही तिय-रूप हरि आय तहाँ धाय धरि,
　　कहिकै रिसौहै—चलौ, बोल्यो नँदरानी है ;
सिगरी भगानी, पहिचानी प्यारी, मुसकानी,
　　छूटिगो सकुच, सुख लूटि सरसानी है।

दास

(२)

लेहु लला, उठि; लाई हो बोलिहिं; लोक की लाजहिं सों लरि राखो ;
फेरि इन्हैं सपनेहु न पैयत, लै अपने उर मैं धरि राखो।
"देव" लला, अबला नबला यह, चदकला-कठुला करि राखो ;
आठहु सिद्धि, नवो निधि लै, घर-बाहर-भीतर हू भरि राखो।

देव

लेहु जू लाई हौं गेह तिहारे, परे जेहि नेह-सँदेस खरे मैं ;
भेंटौ भुजा भरि, मेटौ बिथान, समेटौ जू तौ सब राध भरे मैं।
संभु-ज्यो आधे ही अंग लगाओ, बसाओ कि श्रीपति-ज्यों हियरे मैं ;
"दास" भरी रसकेलि सकेलि, सुआनँद-बेलि-सी मेलि गरे मैं।

दास

(३)

आपुस मैं रस मैं रहसैं, बहसैं बनि राधिका-कुंजबिहारी ;
स्यामा सराहत स्याम की पागहिं, स्याम सराहत स्यामा की सारी।
एकहि आरसी देखि कहै तिय, नीके लगौ पिय; प्यो कहै, प्यारी ;
"देव" सु बालम-बाल को बाद बिलोकि भई बलि हौं, बलिहारी।

देव

पीतम-पाग सँवारि सखी, सुघराई जनायो प्रिया अपनी है ;
प्यारी कपोल के चित्र बनावत, प्यारे बिचित्रता चारु सनी है।
"दास" दुहूँ को दुहूँ को सराहिबो देखि लह्यो सुख, लूटि घनी है ;
वै कहैं—भावते, कैसे बने; वे कहैं—मनभावती, कैसी बनी है !

दास

(४)

बैरागिनि किधौं अनुरागिनि, सोहागिनि तू,
"देव" बड़भागिनि लजाति औ लरति क्यों ?
सोवति, जगति, अरसाति, हरषाति,
अनखाति, बिलखाति, दुख मानति, डरति क्यो ?
चौंकति, चकति, उचकति, औ बकति,
बिथकति, औ थकति, ध्यान-धीरज धरति क्यो ?
मोहति, मुरति, सतराति, इतराति, साह-
चरज सराहै, आहचरज मरति क्यों ?

देव

समुझि, सकुचि न थिराति चित-सकित ह्वै,
त्रसति, तरल उग्रबानी हरषाति है ;
उनींदति, अलसाति, सोवति अधीर चौंकि,
चाहि चित्त अमित, सगर्व हरषाति है।
"दास" पिय नेह छिन-छिन भाव बदलति,
स्यामा सविराग दीन मति कै मखाति है ;
जलपि, जकति, कहरति, कठिनाति मति,
मोहति, मरति, बिललाति, बिलखाति है।

दास

(५)

नीचे को निहारत नगीचे नैन-अधर,
दुबीचे परयो स्यामारुन आभा अटकन को ;
नीलमनिभाग है, पदुमराग ह्वैकै,
पुखराग ह्वै रहत बिध्यो ह्वै निकटकन को ;
"देव" बिहँसत दुति दंतन जुड़ात जोति,
बिमल मुकुत हीरा लाल गटकन को ;
थिरकि-थिरकि थिर थाने पर थाने तोरि
बाने बदलत नट—मोती लटकन को।

देव

पन्ना-संग पन्ना ह्वै प्रकासित कनक लै,
कनक-रग पुनि ये कुरंगनि पलतु है ;
अधर-ललाई लावै लाल की ललकि पाय,
अलक-झलक मरकत सो रलतु है।
ऊदौ-अरुनौ है, पीत-पाटल-हरौ है ह्वैकै,
दुति लै दोऊ को "दास" नैनन छलतु है ;

समरथु नीके बहुरूपिया लौं तहाँ ही मैं,
मोती नथुनी को बर बानो बदलतु है।
दास

(६)

पुकारि कही मैं, दही कोउ लेहु, इतो सुनि आय गए इत धाय;
चितै कवि "देव" चितै ही चले, मनमोहन मोहनी तान-सी गाय।
न जानति और कछू तब ते, मन माहिं वहीयै रही छबि छाय;
गई तौ हुती दधि-बेंचन-काज, गयो हियरा हरि-हाथ बिकाय।
देव

जेहि मोहिबे-काज सिँगार सजे, तेहि देखत मोह मैं आय गई;
न चितौनि चलाय सकी, उनही के चितौनि के घाय अघाय गई।
बृषभानलली की दसा सुनौ "दासजू" देत ठगोरी ठगाय गई;
बरसाने गई दधि बेचिबे को, तहाँ आपुहि आप बिकाय गई।
दास

(७)

फटिक-सिलानि सों सुधार्यो सुधा-मंदिर,
उदधि दधि को सो, अधिकाई उमँगै अमंद;
बाहर ते भीतर लौं भीति न दिखैयै "देव",
दूध कैसो फेन फैल्यो आँगन फरसबंद।
तारा-सी तरुनि तामैं ठाढी झिलमिलि होति,
मोतिन की जोति मिल्यो मल्लिका को मकरंद;
आरसी-से अंबर मैं आभा-सी उज्यारी लागै,
प्यारी राधिका को प्रतिबिंब-सो लगत चंद।
देव

आरसी को आँगन सोहायो, छबि छायो,
नहरन मैं भरायो जल, उज्जल सुमन-माल;

चाँदनी बिचित्र लखि चाँदनी-बिछौना पर,
दूरिकै चँदोवन को बिलसै अकेली बाल ;
"दास" आसपास बहु भाँतिन बिराजै धरे,
पन्ना, पोखराज, मोती, मानिक, पदिक, लाल ;
चद-प्रतिबिंब ते न न्यारो होत मुख, औ न
तारे-प्रतिबिंबन ते न्यारो होत नग-जाल ।
दास

(१) उपर्युक्त पहले दो छंदों में देव और दास ने एक ही घटना का चित्रण किया है। देव के छंद में राधिकाजी ने तो राज-पौरिया का रूप धारण किया है, पर दास के छंद में श्रीराधा और कृष्ण दोनों ही ने रूप-परिवर्तन किया है। इतने अंतर को छोड़कर दोनों छंदों में अद्भुत सादृश्य है।

(२, ३) दो तथा तीन नंबरों के छंद बिलकुल समान हैं। दो नंबर के छंदों में जो भाव भरा है, उसे इन दोनों कवियों के पूर्ववर्ती केशव ने भी कहा है।

(४) इन दोनों छंदों का सादृश्य इतना स्पष्ट है कि इस पर विशेष लिखना व्यर्थ है।

(५) देव और दास का वर्णन बिलकुल एक है। चाहे उसे 'लट-कन का मोती' कहिए अथवा 'नथुनी का मोती'। देवजी उसे नट कह-कर उसकी क्रियाशीलता—देखते-देखते बाने बदलने के कार्य—की ओर भी पाठकों का ध्यान दिलाते हैं। दासजी उसे केवल बहु-रूपिया बतलाते हैं।

(६) इन दोनों छंदों का भाव भी बिलकुल एक ही है। देव की गोपी का 'हियरा' हरि के हाथ बिक गया है, तो दासजी की वृषभानुलली आप ही आप बिक गई हैं।

(७) इन दोनों छंदों में भी एक ही दृश्य खचित है। देव ने

चित्र खींचने के पूर्व उसका दृश्य स्वयं नहीं सजाया है। उन्हें जैसा दृश्य देखने को मिला है, उसे वैसा ही रहने दिया है; पर दास ने दृश्य में कृत्रिमता पैदा करके चित्र खींचा है।

उपर्युक्त सभी छंदों पर विचार करते समय पाठकों को यह बात सदा ध्यान में रखनी होगी कि दासजी परवर्ती कवि हैं, उन्होंने देव के जिन भावों को अपनाया है, उनमें कोई नूतनता पैदा की है या नहीं? यह बात भी विचारणीय है कि 'चित्रण' और 'भाव' इन दोनों ही को स्वाभाविकता से कौन संपुटित रखता है? कुछ लोग दासजी को देव से अच्छा कवि मानते हैं; उन्हें निस्संकोच होकर बतलाना चाहिए कि इन छंदों में किस प्रकार दासजी ने देवजी का मज़मून छीन लिया है। तुलना के मामले में छंदों की उत्कृष्टता ही पथ-प्रदर्शन का काम कर सकती है, इसलिये इन दोनों कवियों के व्यक्तित्व को भुलाकर ही हमें उनकी कृतियों को निर्णय की सुकुमार कसौटी पर कसना चाहिए।

विरह-वर्णन

विरह-वर्णन में भी बिहारीलाल सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किए गए हैं। इस संबंध में हमारा निवेदन केवल इतना ही है कि बिहारीलाल की सर्व-श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिये जिस मार्ग का अवलंबन भाष्यकार महोदय ने लिया है, वह कविवर बिहारीलाल को अपेक्षित स्थान पर नहीं पहुँचाता। ग्वाल, सुंदर, गंग या इसी श्रेणी के दो-चार और कवियों की उक्ति यदि बिहारीलाल की सूक्ति के सामने मलिन पड़ जाती है, तो इससे सूक्ति का गौरव क्या हुआ? साधारण मिट्टी के तेल से जलनेवाला लैंप यदि गैस-लैंप के सामने दब गया, तो इसमें गैस-लैंप की कौन-सी वाहवाही है? यह निर्विवाद है कि बिहारीलाल इन सभी कवियों से बहुत बढ़कर हैं; फिर उनका और इनका मुक़ाबला कैसा? यदि सिंह मृग को दबा लेता है, तो इसमें सिंह के बलशाली होने का कौन-सा नया प्रमाण मिल गया? हाँ, यदि उसी वन में कई सिंह हों और उनमें से केसरी विशेष शेष सिंहों को कानन से भगा दे, तो निस्संदेह उस केसरी के बल की घोषणा की जायगी। अपने समान बलशाली को परास्त करने में ही गौरव है। अपने समान प्रतिभाशाली कवि की उक्ति से बढ़कर चमत्कार दिखला देना ही प्रशंसा का काम है। लेकिन क्या सुंदर, रसनिधि, ग्वाल, गंग, तोष, सेनापति, घासीराम, कालिदास, पद्माकर और विक्रम आदि ऐसे कवि हैं, जिनकी समता कविवर बिहारीलालजी से की जा सके?

क्या गुलाब गुलमेंहदी को जीतकर उचित गर्व कर सकता है? निश्चय ही केशवदास कविता-कानन के केसरी हैं। भाष्यकार ने उनके भी दो-चार छंदों से बिहारी के दोहों की तुलना की है तथा

विहारी को केशव से बढ़कर दिखलाया है। इस प्रयत्न में वे कहाँ तक सफल हुए हैं, इसको हम यहाँ नहीं लिखेंगे। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि उनकी सम्मति सर्वसम्मत नहीं है और उसमें मतभेद का स्थान है। केशव को छोड़कर विहारी के और प्रतिद्वंद्वी कवियों का मुक़ाबला कराए बिना ही भाष्यकार महोदय विहारी-लाल को विजय-सिंहासन पर बिठला रहे हैं! हिंदी-साहित्य-सूर महात्मा सूरदास ने विरह-वर्णन करने में कोई कसर नहीं उठा रक्खी है, पर उनकी एक भी सूक्ति संजीवन-भाष्य में देखने को नहीं मिलती। कविवर देव ने वियोग-शृंगार-वर्णन करने में त्रुटि नहीं की है, परंतु उनका भी कोई छंद दृष्टिगत नहीं होता। क्या उक्त दोनों कविवर इतने गए-बीते हैं कि भाष्यकार ने उनकी उपेक्षा करने में ही विहारी का गौरव समझा? क्या उनके विरह-वर्णन तोष और सुंदर से भी गए-बीते होते हैं? कदाचित् स्थानाभाव-वश देव और सूर की सुनवाई न हुई हो, पर क्या सतसई के आगे प्रकाशित होनेवाले भागों में उनके विषय में कुछ रहेगा? कम-से-कम प्रकाशित खड में तो इस बात का कुछ भी इशारा नहीं। फिर स्थान का अभाव हम कैसे मान लें?

सूर और देव को पछाड़े बिना विहारीलाल विरह-वर्णन में सर्व-श्रेष्ठ प्रमाणित नहीं हो सकते। इन उभय कविवरों के विरह-वर्णन से विहारी के विरह-वर्णन की तुलना न करके भाष्यकार ने विहारी, सूर एवं देव तीनों ही के साथ अन्याय किया है—घोर अन्याय किया है। सूरदास के संबंध में तो हम यहाँ कुछ नहीं लिखेंगे, पर देवजी का विरह-वर्णन पाठकों के सम्मुख अवश्य उपस्थित करेंगे। विहारी और देव दोनों के वर्णन पढ़कर पाठक देखेंगे कि किसकी उक्ति में कैसा चमत्कार है! विहारीलाल-कृत विरह-वर्णन सतसई-संजीवन-भाष्य में संपूर्ण दिया हुआ है। इस कारण यहाँ पर

तत्संबंधी सब दोहों का उल्लेख न होगा, परंतु तुलना करते समय आवश्यकतानुसार कोई-कोई दोहा या दोहांश उद्धृत किया जायगा। इसी प्रकार देवजी के विरह-संबंधी सब छंद उद्धृत न करके केवल कुछ का ही उल्लेख होगा। विरह-वर्णन में हम क्रम से पूर्वानुराग, प्रवास और मान का वर्णन करेंगे। विप्रलंभ शृंगार के अंतर्गत दशों दशाओं, विरह-निवेदन तथा प्रोषितपतिका, प्रवत्स्यत्पतिका एवं आगतपतिका के भी पृथक्-पृथक् उदाहरण देंगे। हमारे विचार में इन उदाहरणों के अंतर्गत विरह का काव्य-शास्त्र में वर्णित प्रायः पूरा कथन आ जायगा।

१—पूर्वानुराग

"जहाँ नायक-नायिका को परस्पर के विषय में रति-भाव उत्पन्न हो जाता है, पर उभय तथा एक की परतंत्रता उनके समागम की बाधक होती है और उसके कारण उन्हें जो व्याकुलता होती है, उसे पूर्वानुराग—(अयोग) कहते हैं।" (रसवाटिका, पृष्ठ ७१)

इत आवत, चलि जात उत; चली छ-सातिक हाथ ;
चढ़ी हिंडोरे से (?) रहै, लगी उसासनि साथ।

विहारी

"भावार्थ—श्वास छोड़ने के समय छ-सात हाथ इधर—आगे की ओर—चली आते (ती) है और श्वास लेने के समय छ-सात हाथ पीछे चली जाती है। उच्छ्वासों के झोंकों के साथ लगी हिंडोले से पर (?) चढ़ी झूलती रहती है।" (विहारी की सतसई, पहला भाग, पृष्ठ १६१)

साँसन ही सो समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि ;
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि।

जीव रह्यो मिलिबेई कि आस, कि आसहू पास अकास रह्यो भरि ;
जा दिन ते मुख फेरि, हरे हँसि, हेरि हियो जु लियो हरिजू हरि ।
देव

गोस्वामी तुलसीदास की "छिति, जल, पावक, गगन, समीरा—पंच-रचित यह अधम सरीरा" चौपाई इतनी प्रसिद्ध है कि पाठकों को यह समझने में कुछ भी विलंब न होना चाहिए कि मनुष्य-शरीर पंचतत्त्व (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश)-निर्मित है। देवजी कहते हैं—मुख घुमाकर, ईषत् हास्यपूर्वक जिस दिन से हरिजू ने हृदय हर लिया है, उस दिन से सम्मिलनमात्र की आशा से जीवन बना है (नहीं तो शरीर का ह्रास तो खूब ही हुआ है)। उसासें लेते-लेते वायु का विनाश हो चुका है, अविरल अश्रु-धारा-प्रवाह से जल भी नहीं रहा है; तेज भी अपने गुणसमेत बिदा हो चुका है, शरीर की कृशता और हलकापन देखकर जान पड़ता है कि पृथ्वी का अंश भी निकल गया और शून्य आकाश चारों ओर भर रहा है अर्थात् नायिका विरह-वश नितांत कृशांगी हो गई है। अश्रु-प्रवाह और दीर्घोच्छ्वास अपनी चरम सीमा पर पहुँच गए हैं। अब उनका भी अभाव है। न नायिका साँसें लेती है और न नेत्रों से आँसू ही बहते हैं। उसको अपने चारों ओर शून्य आकाश दिखलाई पड़ रहा है। यह सब होने पर भी प्राण-पखेरू केवल इसी आशा से अभी नहीं उड़े हैं कि संभव है, प्रियतम से प्रेम-मिलन हो जाय; नहीं तो निस्तेज हो चुकने पर भी जीवन शेष कैसे रहता ?

विहारी और देव दोनों ही ने पूर्वानुराग-विरह का जो विकट दृश्य चित्रित किया है, वह पाठकों के सम्मुख उपस्थित है। सहृदयता की दुहाई है ! क्या विहारी देव के 'क़दम-ब-क़दम' चल रहे हैं ? षोडशवर्षीय बाल कवि देव का यह अपूर्व भाव-विलास उनके 'भाव-विलास' ग्रंथ में विलसित है।

२—प्रवास

"नायक-नायिका का एक बेर समागम हो: अनंतर जो उनका विछोह होता है, उसे विप्रयोग विप्रलंभ शृंगार कहते हैं। शाप और प्रवास इसी के अंतर्गत माने जाते हैं।" (रसवाटिका, पृष्ठ ७३)

ह्याँ ते ह्वाँ, ह्वाँ ते यहाँ; नैको धरति न धीर;
निसि-दिन डाढी-सी रहै; बाढ़ी गाढ़ी पीर।

विहारी

"भावार्थ—यहाँ से वहाँ जाती है और वहाँ से यहाँ आती है। ज़रा भी धीरज नहीं धरती। रात-दिन जली-सी रहती है। विरह-पीड़ा अत्यंत बढी हुई है।........"कल नहीं पड़ती किसी करवट किसी पहलू उसे।" (विहारी की सतसई, पहला भाग, पृष्ठ १६१)

बालम-बिरह जिन जान्यो न जनम-भरि,
बरि-बरि उठै ज्यों-ज्यों बरसै बरफ राति;
बीजन डुलावत सखी-जन त्यों सीत हू मैं,
सौति के सराप, तन-तापन तरफराति।
"देव" कहै—साँसन ही अँसुवा सुखात मुख,
निकसै न बात, ऐसी सिसकी सरफराति;
लौटि-लौटि परत करौट खाट-पाटी लै-लै,
सूखे जल सफरी ज्यों सेज पै फरफराति।

देव

खाट की पाटी से लगकर जिस प्रकार नायिका लोट-लोट पड़ती है—करवटें बदलती है, वह दृश्य कविवर देवजी को ऐसा जान पड़ता है, मानो शुष्क-स्थल पर रक्खा हुआ मत्स्य जल के बिना फड़फड़ा रहा हो। 'डाढी-सी रहै' और "बरि-बरि उठै ज्यों-ज्यों बरसै बरफ राति" में कौन विशेष सरस है, इसका निर्णय पाठक करेंगे; पर कृपा करके भाष्यकार महोदय यह अवश्य बतलावें कि

"कल नहीं पड़ती किसी करवट किसी पहलू उसे" जो पद्यांश उन्होंने दोहे के स्पष्टीकरण में रक्खा था, वह देवजी के छंद में अधिक चस्पाँ होता है या विहारी के दोहे में। देवजी ने भाव-विलास में 'करुण-विरह' को कई प्रकार से कहा है। उनके इस कथन में विशेषता है। उदाहरणार्थ एक छंद यहाँ पर उद्धृत किया जाता है—

कालिय काल, महा विष-ज्वाल, जहाँ जल-ज्वाल जरै रजनी-दिन ;
ऊरध के अध के उबरै नहीं, जाकी, बयारि बरै तरु ज्यों तिनु।
ता फनि की फन-फाँसिन मैं फँदि जाय, फँस्यो, उकस्यो न अजौं छिनु ;
हा! ब्रजनाथ, सनाथ करौ, हम होती हैं नाथ! अनाथ तुम्हैं बिनु।

देव

कृष्ण को विषधर काली के दह में कूदा सुनकर गोपियों का विलाप कैसा करुण है! ब्रजनाथ से पुनः सम्मिलन की आशा रखकर उनसे सनाथ करने की प्रार्थना कितनी हृदय-द्राविनी है! काली-दह का कैसा रोमांचकारी वर्णन है! अनुप्रास और माधुर्य कैसे खिल उठे हैं! सौहार्द-भक्ति का विमल आदर्श कितना मनोमोहक है! विस्तार-भय से यहाँ हम अर्थालंकारों का उल्लेख नहीं करेंगे; पर वास्तव में इस छंद में एक दर्जन से कम अलंकार न ठहरेंगे। स्वभावोक्ति मुख्य है।

३—मान

"प्रियापराध-जनित प्रेम-प्रयुक्त कोप को मान कहते हैं।" वह लघु, मध्यम और गुरु तीन प्रकार का होता है। (रसवाटिका, पृष्ठ ७६)

दोऊ अधिकाई-भरे, एकै गो गहराइ;
कौन मनावै? को मनै? मानै मत ठहराइ।

विहारी

जब वे दोनों ही एक-दूसरे से बढ़कर हैं, तो यदि एक ने कुछ भी ज़्यादती कर दी, तो फिर कौन मना सकता है और कौन मान सकता ? बस मान ही का मत ठहर जाता है।

विहारीलाल ने मानी और मानिनी में मान की नौबत कैसे आती है और उस मान में स्थिरता भी कैसी होती है, इसका सार्वभौम वर्णन बड़ी ही चतुरता से किया है। दोहे में स्वाभाविकता कूट-कूट-कर भरी है। देवजी मानिनी विशेष का रूठना दिखलाते और फिर उस मान से जो कष्ट उसको मिला, उसका पूर्ण वर्णन करते हैं। जो बात विहारीलाल सार्वभौमिकता से कह गए, देवजी उसी को व्यक्ति विशेष में स्थापित करके स्पष्ट कर देते हैं। विहारीलाल यदि मान का लक्षण कहते हैं, तो देवजी उसका उदाहरण दे देते हैं। दोनों की प्रतिभा प्रशंसनीय है—

सखी के सकोच, गुरु-सोच मृगलोचनि
रिसानी पिय सों, जु उन नेकु हँसि छुयो गात;
"देव" वै सुभाय मुसुकाय उठि गए, यहि
सिसिकि-सिसिकि निसि खोई, रोय पायो प्रात।
को जानै री बीर, बिनु बिरही बिरह-बिथा ?
हाय-हाय करि पछिताय, न कछू सोहात;
बड़े-बड़े नैनन सों आँसू भरि-भरि ढरि,
गोरो-गोरो मुख आजु ओरो-सो बिलानो जात।

"मृगलोचनी गुरुजन और सखी के पास बैठी थी। प्रियतम ने आकर ज़रा हँसकर हाथ छू दिया। इस पर लज्जाशीला नायिका को

---

* इस छंद का एक और पाठ बतलाया गया है। उसके लिये परिशिष्ट देखिए।

अपने गुरुजन और बहिरंगा सखी का संकोच हुआ। इनके सामने नायिका को इस प्रकार का स्पर्श अच्छा न लगा—वह रुष्ट हो गई। नायक ने यह बात भाँप ली और वह मुसकराकर साधारण रीति से उठकर चला गया। इधर इसे जो पीछे ख़याल आया, तो इसने सारी रात सिसक-सिसककर काटी और रोकर सबेरा पाया। इस दशा का वर्णन करते हुए एक सखी दूसरी सखी से कहती है—विना विरही के इस विरह-व्यथा का मर्म और कौन जान सकता है? नायिका को कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा है। वह हाय-हाय करके पछता रही है और उसके बड़े-बड़े नेत्रों में भर-भरकर आँसू टपक रहे हैं, जिससे ऐसा जान पड़ता है कि मानो यह गोरा-गोरा मुख आज ओले के समान ग़ायब हुआ जाता है।"

कैसा स्वाभाविक वर्णन है! मानवती नायिका का जीता-जागता चित्र देवजी के छंद में कैसे अनोखेपन के साथ निबद्ध है! 'ओले' की उपमा कैसी अनूठी है! अश्रु-प्रवाह के साथ मुख-निष्प्रभता बढ़ती जाती है, यह भाव "गोरो-गोरो मुख आजु ओरो-सो बिलानो जात" में कैसे मार्मिक ढंग से प्रकट हो रहा है!

हमारे पूज्य पितृव्य स्वर्गवासी पं० युगलकिशोरजी मिश्र 'व्रज-राज' इस छंद को बहुत पसंद करते थे और हमने उनको अक्सर इसका पाठ करते सुना था। देवजी के अनेक छंदों के समान इस छंद के भी अनेकानेक गुण उन्होंने हम सबको बतलाए थे। 'मिश्र-बंधु-विनोद'-नामक ग्रंथ के पृष्ठ ३६-४१ पर इस छंद के प्रायः सभी गुण विस्तारपूर्वक दिखलाए गए हैं *। अतः यहाँ पर हम उनको फिर से दोहराना उचित नहीं समझते।

---

* मिश्र-बंधु-विनोद का यह अंश हमने इस ग्रंथ के अंत में, "परिशिष्ट"-शीर्षक देकर, उद्धृत कर दिया है। प्रिय पाठक पढ़ लेने की कृपा करें।—संपादक

४—दशाएँ

"चिंता—वियोगावस्था में चित्त-शांति के उपाय वा संयोग के विचार से चिंता कहते हैं।" (रसवाटिका, पृष्ठ ८२)

सोवत सपने स्यामघन हिलि-मिलि हरत बियोग ;
तब ही टरि कितहूँ गई नींदौ, नींदन-जोग।

विहारी

खोरि लौं खेलन आवती ये न, तौ आलिन के मत में परती क्यों ?
"देव" गोपालहिं देखती ये न, तौ या बिरहानल मैं बरती क्यों ?
बापुरी, मंजुल आँब की बालि सु भाल-सी ह्वै उर मैं अरती क्यों ?
कोमल कूकि कै कैलिया कूर करेजन की किरचैं करती क्यों ?

देव

देवजी ने यह छंद रस-विलास में "विकल्प-चिंता" के उदाहरण में रक्खा है। दोनों छंदों के भाव स्पष्ट हैं। इससे विशेष टीका करनी व्यर्थ है।

"स्मरण—वियोगावस्था में प्रिय-संयोग-जात पूर्वानुभुक्त वस्तु के ज्ञान होने को स्मरण कहते हैं।" (रसवाटिका, पृष्ठ ८२) देवजी ने आठ सात्त्विक अनुभावों को लेकर स्वेद, स्तंभ, रोमांच, स्वर-भंग, कंप, वैवर्ण्य, अश्रु एवं प्रलय-स्मरण-नामक आठ स्मरणों का रस-विलास में सोदाहरण वर्णन किया है।

सोवत, जागत, सपन-बस, रिस, रस, चैन, कुचैन ;
सुरति स्याम घन की सुरति बिसरेहूँ बिसरै न।

विहारी

घाँघरो घनेरो, लाँबी लटैं लटे लाँक पर,
काँकरेजी सारी, खुली, अधखुली टाँड़ वह ;
गोरी गजगौनी दिन-दूनी दुति होनी "देव",
लागति सलोनी गुरुलोगन के लाड़ वह।

चंचल चितौन चित चुभी चित-चोरवारी,
मोरवारी बेसरि, सु-केसरि की आड़ वह ;
गोरे-गोरे गोलनि की, हँसि-हँसि बोलनि की,
कोमल कपोलन की जी मैं गड़ी गाड़ वह।

देवजी ने स्तंभ-स्मरण का बड़ा ही रोमांचकारी वर्णन किया है। स्तंभ-स्मरण और योग की अच्छी समता दिखलाई है। योगासन पर बैठी हुई योगिनी का चित्र खींच दिया है। कैसा विकलकारी वियोग है ! पढ़िए—

अंग डुलै न उतंग करै, उर ध्यान धरै, बिरह-ज्वर बाधति ;
नासिका-अग्र की ओर दिए अध-मुद्रित लोचन को रस माधति।
आसन बाँधि उसास भरै ; अब राधिका "देव" कहा अवराधति ?
भूलि गो भोग, कहै लखि लोग—बियोग किधौं यह योगहि साधति ?

देव

"गुण-कथन—वियोगावस्था में प्रिय के गुणानुवाद करने को गुण-कथन कहते हैं।" (रसवाटिका, पृष्ठ ८२)

भृकुटी मटकनि, पीत पट, चटक लटकती चाल;
चल चख-चितवनि चोरि चित लियो बिहारीलाल।

विहारी

देवजी ने गुण-कथन को भी कई प्रकार का माना है। उनके हर्ष-गुण-कथन का उदाहरण लीजिए—

"देव" मैं सीस बसायो सनेह कै भाल मृगम्मद-बिंदु कै राख्यो ;
कंचुकी मैं चुपरयो करि चोवा, लगाय लियो उर सों अभिलाख्यो।
लै मखतूल गुहे गहने, रस मूरतिवंत सिंगारु कै चाख्यो ;
साँवरे लाल को साँवरो रूप मैं नैनन को कजरा करि राख्यो।

देव

स्यामसुंदर के स्याम वर्ण पर सुंदरी ऐसी रीझी है कि कहती

है—मैं श्याम वर्ण ही की सब वस्तुओं का व्यवहार करती हूँ। स्नेह, चोया, मखतूल, मृग-मद और शृंगार-रस की मूर्ति एवं काजल इन सबका कवि-संप्रदाय से श्याम रंग माना गया है। नायिका कहती है कि यदि मैं सिर में स्नेह लगाती हूँ, तो यह सोचकर कि इसका वर्ण श्यामसुंदर के वर्ण के अनुरूप है। इसी प्रकार अन्य वस्तुओं को भी समझना चाहिए। श्यामसुंदर के रूप के संबंध में उसका कहना है कि मैंने श्यामसुंदर के श्यामल स्वरूप को ही नेत्रों का कज्जल कर रक्खा है। यह वचन प्रेम-गर्विता के हैं। यहाँ सम-अभेद-रूपक का प्रत्यक्ष चमत्कार है। दोहे का अर्थ स्पष्ट है। श्याम वर्ण के प्रति देवजी ने जो तन्मयता का भाव दिखलाया है, वही प्रशंसनीय है।

"उद्वेग—वियोगावस्था में व्याकुल हो चित्त के निराश्रित होने को उद्वेग कहते हैं।" (रसवाटिका, पृष्ठ ८३)

हौं ही बौरी बिरह-बस, कै बौरो सब गाँउ ?
कहा जानि ये कहत हैं ससिहि सीतकर नाँउ ?

बिहारी

भेष भए बिष, भावै न भूषन, भूख न भोजन की कछु ईछी ;
"देवजू" देखे करै बधु सो मधु, दूधु, सुधा, दधि, माखन छीछी।
चंदन तो चितयो नहिं जात, चुभी चित माँहि चितौनि तिरीछी;
फूल ज्यों सूल, सिला-सम सेज, बिछौननि-बीच बिछी मनौ बीछी।

देव

घोर लगै घर-बाहर हूँ डर, नूत पलास जरे, प्रजरे-से ;
रंगित भीतिनु भीति लगै लखि, रग-मही रन-रंग ढरे-से।
धूम-घटागरु धूपनि की निकसैं नव जालनि ब्याल भरे-से ,
जे गिरि-कंदर-से मनि-मंदिर आजु अहो ! उजरे, उजरे-से।

देव

विरहिणी नायिका को शीतकर सुधाधर शीतल प्रतीत नहीं होता, परंतु गाँव-भर तो उसे शीत-रश्मि कह रहा है। ऐसी दशा में असमंजस में पड़ी नायिका कह रही है कि मैं ही बावली हो गई हूँ या सारा गाँव भ्रम में है। दोहे का तात्पर्य यही है। विरह-ताप-वश उद्विग्न चित्त के ऐसे संकल्प-विकल्प नितांत विदग्धता-पूर्ण हैं। लेकिन देवजी उसी विरहिणी को और भी अधिक उद्विग्न पाते हैं। उज्ज्वल घर उसे उजरे (शून्य)-से जान पड़ते हैं—मणियों के मंदिर गिरि-कंदरावत् हो रहे हैं। अगरु और धूप की जो धूम-घटाएँ उठती हैं, उनका सुगंधमय धुवाँ व्याल-माला समझ पड़ता है। रंग-भूमि समर-स्थली-सी भासित होती है। चित्रित भित्तियों को देखने से भय लगता है। नवीन टेसू दहकते-से जान पड़ते हैं। घर के बाहर घोर डर लगता है। असन, बसन, भूषन की भी कोई इच्छा नहीं रह गई है। अच्छे-से-अच्छे मधुर पदार्थों को देखते ही वह 'छी-छी' कह उठती है। कोमल शय्या प्रस्तरखंड से भी कठोर हो गई है। कोमल बिछौनों पर जान पड़ता है कि बिच्छू-ही-बिच्छू भरे हैं। सुमन शूलवत् कष्टदायक हैं। चंदन की ओर चित्त ही नहीं जाता है। बस चित्त में वही तिरछी चितवन चुभ रही है। देवजी ने उद्वेगोत्पादक बड़ा ही भीषण चित्र खींचा है, लेकिन विहारीलाल का चित्र भी कम उद्वेग-जनक नहीं है!

विहारी के भाव को भी देव ने छोड़ा नहीं है—

रैनि सोई दिन, इंदु दिनेस, जुन्हाई हैं घाम घनो बिष-घाई ;
फूलनि सेज, सुगंध दुकूलनि सूल उठै तनु, तूल ज्यों ताई।
बाहेर, भीतर म्बैहरेऊ न रह्यो परै "देव" सु पूँछन आई
हौं ही भुलानी कि भूलि सबै, कहैं ग्रीषम सो सरदागम माई :

देव

शरदागम विरहिणी को प्रचंड ग्रीष्म-सा समझ पड़ता है। घर में रहते नहीं बनता है। इसी कारण वह जिज्ञासा करती है कि उसे ही भ्रम हुआ है या सभी भूल कर रहे हैं।

"उन्माद—वियोगावस्था में अत्यंत संयोगोत्कंठित हो मोहपूर्वक वृथा कहने, व्यापार करने को उन्माद कहते हैं।" (रसवाटिका, पृष्ठ ८९)

तजी संक, सकुचाति न चित, बोलति बाक-कुबाक ;
दिन-छनदा छाकी रहति, छुटति न छिन छबि-छाक।

बिहारी

आक-बाक बकति, बिथा मैं बूड़ि-बूड़ि जाति,
पी की सुधि आए जी की सुधि खोय-खोय देति ;
बड़ी-बड़ी बार लगि बड़ी-बड़ी आँखिन ते
बड़े-बड़े अँसुवा हिये समोय मोय देति।
कोह-भरी कुहकि, बिमोह-भरी मोहि-मोहि,
छोह-भरी छितिहि करोय रोय-रोय देति ;
बाल बिन बालम बिकल बैठी बार-बार
बपु मैं बिरह-बिष-बीज बोय-बोय देति।

ना यह नंद को मंदिर है, बृषभान को भौन ; कहा जकती हौ ?
हौं ही यहाँ तुमहीं कहि "देवजू" ; काहि धौं घूँघट कै तकती हौ ?
भेंटती मोहिं भटू, केहि कारन ? कौन की धौं छबि सों छकती हौ ?
कैसी भई ? सो कहौ किन कैसे हू ? कान्ह कहाँ हैं ? कहा बकती हौ ?

देव

बिहारी का 'बाक-कुबाक' देव के दूसरे छंद में मूर्तिमान् होकर उपस्थित है। उन्मादिनी राधिका अपने को नंद मंदिर में कृष्ण के साथ समझकर पगली-जैसा व्यवहार कर रही है। सखी उसको समझाने का उद्योग करती है। परंतु उसका कुछ परिणाम नहीं होता।

उन्माद-अवस्था का चित्रण देवजी ने अद्वितीय ढंग से किया है। देवजी के पहले छंद की आन-बान ही निराली है। प्रेमी पाठक स्वयं पढ़कर उसके रसानंद का अनुभव करें। टीका-टिप्पणी व्यर्थ है।

"व्याधि—वियोग-दुःख-जनित शारीरिक कृशता तथा अस्वास्थ्य को व्याधि कहते हैं।" (रसवाटिका, पृष्ठ ८९)

कर के मीड़े कुसुम-लौं गई बिरह कुँभिलाय ;
सदा समीपिन सखिन हूँ नीठि पिछानी जाय।

बिहारी

दोहे का उल्लेख फिर आगे होगा। यहाँ केवल इतना कहना है कि दोहा व्याधि-दशा का उत्कृष्ट चित्र है, जिसको बिहारी-जैसे चित्र-कार ने बड़े ही कौशल से चित्रित किया है।

देवजी ने इस दशा के चित्रण में कम-से-कम एक दर्जन उत्कृष्ट छंदों की रचना की है। सभी एक-से-एक बढ़कर हैं। वियोगानल से विरहिणी झुलस गई है। वायु और जल के प्रेम-प्रयोग से, अवधि की आशा में, नायिका ने प्राणों की रक्षा की। अंत में अवधि का दिन भी आ गया; पर सम्मिलन न हुआ। उस दिन का अवसान नायिका को विशेष दुःखद हुआ। आगम-अनागम की शकुन द्वारा परीक्षा करने के लिये सामने बैठे हुए काग को उड़ाने का उसने निश्चय किया। पर ज्यों ही उसने हाथ उठाकर काग की ओर हिलाया, त्यों ही उसके हाथ की चूड़ियाँ निकलकर काग के गले में जा पड़ीं। विरह-वश नायिका इतनी कृशांगी हो गई थी कि कंकाल-मात्र शेष रह गया था। तभी तो हाथ की चूड़ियाँ इतनी ढीली हो गईं कि काग के गले में जा गिरीं। कृशता का कैसा चमत्कार-पूर्ण वर्णन है—

लाल बिना बिरहाकुल बाल बियोग की ज्वाल भई झुरि झूरी ;
पानी सों, पौन सों, प्रेम-कहानी सों, पान ज्यों प्रानन पोषत हूरी ;

"देवजू" आजु मिलाप की औधि, सो बीतत देखि बिसेखि बिसूरी;
हाथ उठायो उड़ायबे को, उड़ि काग-गरे परीं चारिक चूरी।
देव

देवजी के व्याधि-दशा-द्योतक एक और छंद के उद्धृत करने का लोभ हम संवरण नहीं कर सकते—

फूल-से फैलि परै सब अंग, दुकूलन मैं दुति दौरि दुरी है;
आँसुन के जल-पूर मैं पैरति, साँसन सों सनि लाज लुरी है।
"देवजू" देखिए, दौरि दसा ब्रज-पौरि बिथा की कथा बिथुरी है;
हेम की बेलि भई हिम-रासि, घरीक मैं घाम सों जाति घुरी है।

अंतिम पद कितना मर्म-स्पर्शी, वेदना-पराकाष्ठा-दर्शी और विदग्धता-पूर्ण है! "कर के मीड़े कुसुम लौं" बड़ा ही अच्छा भाव है, पर "हेम की बेलि भई हिम-रासि, घरीक मैं घाम सों जाति घुरी है" और भी अच्छा है। कांचन-लता निपतित होकर हिम-राशि हो गई। कैसा अद्भुत व्यापार है! विरह-जन्य विवर्णता से नाटिका-स्पंदनावरोध के समय शरीर की शीतलता का इंगितमात्र कैसा विदग्धता-पूर्ण निर्देश है। हिम-राशि का धूप में घुलना कितना स्वाभाविक है! विरह-ताप से मरणप्राय नायिका का घुल-घुलकर जीवन देना भी कैसा समता-पूर्ण है! पहले के तीनों पद भी वैसे ही प्रतिभा-पूर्ण हैं, पर पुस्तक-कलेवर-वृद्धि उनकी व्याख्या करने से हमें विरत रखती है। छंद का प्रत्येक पद और शब्द चमत्कार-पूर्ण है।

"जड़ता—वियोग-दुःख से शरीर के चित्रवत् अचल हो जाने को जड़ता कहते हैं।" (रसवाटिका, पृष्ठ ८६)

चकी-जकी-सी ह्वै रहीं, बूझे बोलति नीठि;
कहूँ डीठि लागी, लगी कै काहू की डीठि।
विहारी

मंजुल मंजरी पजरी-सी ह्वै, मनोज के ओज सम्हारत चीर न ;
भूँख न प्यास, न नींद परै, परी प्रेम-अजीरन के जुर जीरन।
"देव" घरी पल जाति घुरी अँसुवान के नीर, उसास-समीरन ;
आहन-जाति अहीर अहे, तुम्हैं कान्ह, कहा कहौं काहु कि पीरन।

देव

मूर्च्छा, मरण, अभिलाष एवं प्रलाप-दशाओं के अत्युत्कृष्ट उदाहरण होते हुए भी स्थल-संकोच से उनका वर्णन अब यहाँ नहीं किया जायगा।

५—विरह-निवेदन

बाल-बेलि सूखी सुखद यह रूखी रुख-घाम ;
फेरि डहडही कीजिए सरस सींचि घनस्याम !

विहारी

बाला और बल्ली का कितना मनोहर रूपक है ! घनश्याम का श्लिष्ट प्रयोग कैसा फबता है ! कुम्हलाई हुई लता पर ईषत् जल पड़ने से वह जैसे लहलहा उठती है, वैसे ही विकल विरहिणी का घनश्याम के दर्शन से सब दुःख दूर हो जायगा। सखी यह बात नायक से कैसी मार्मिकता के साथ कहती है ! विहारीलाल का विरह-निवेदन कितना समीचीन है !

बरुनी-बघंबर मैं गूदरी पलक दोऊ,
कोए राते बसन भगोहें भेष रखियाँ ;
बूड़ी जल ही मैं, दिन-जामिनि हूँ जागैं, भौंहैं
धूम सिर आयो बिरहानल बिलखियाँ।
अँसुवा फटिक-माल, लाल डोरी-सेल्ही पैन्हि,
भई हैं अकेली तजि चेली संग-सखियाँ ;
दीजिए दरस देव, कीजिए संजोगिनि, ये
जोगिनि ह्वै बैठी हैं बियोगिनि की अँखियाँ।

वियोगिनी के नेत्रों (अँखियाँ) और योगिनी का अपूर्व रूपक

बाँधने में देवजी ने अपनी प्रगाढ़ काव्य-प्रतिभा का परिचय दिया है। योगिनी के लिये उपयोगी सभी पदार्थों का छोटे-से नेत्र में आरोप कर ले जाना सरल काम नहीं है। बाघंबर, गुदड़ी, गेरुए वस्त्र, जल, धूम्र, अग्नि, स्फटिक-माला, सेल्ही (वस्त्र विशेष) आदि सभी आवश्यक पदार्थों का आरोप क्रम से वरुणी (बीच में अंतर होने से सफ़ेद और काली जान पड़ती हैं—बाघंबर में भी काले धब्बे रहते हैं), पलक, नेत्रों के कोए (रुदन के कारण लाल हो रहे हैं), अश्रु-जल, भौंहें, विरह, अश्रु और नेत्रों में पड़े हुए लाल डोरों पर किया गया है। आँखियाँ वियोगिनी योगिनी हैं। योग संयोग के लिये किया गया है। इसीलिये देव (इष्टदेव) से दर्शन देने की प्रार्थना है। विरहिणी दर्शन-संयोग में ही अपना अहोभाग्य मानती है। रोने से नेत्रों की दशा कैसी हो गई है, इसको नायिका की सखी ने बड़े ही मर्मस्पर्शी शब्दों में प्रकट किया है।

यह छंद देव के काव्य-कला-कौशल का उत्कृष्ट उदाहरण है विरह-निवेदन का प्रकृष्ट नमूना है। शृंगार-रसांतर्गत शुद्ध परकाया का पूर्वानुराग उद्वेग-दशा में झलक रहा है। सम-अभेद रूपक इसी का संकल्प-विकल्प-सा करता जान पड़ता है कि समता के लिये इसके समान अन्य उदाहरण पा सकेगा या नहीं। गौणी सारोपा लक्षणा भी स्पष्ट परिलक्षित है। एक अन्य रूपक में देवजी ने दोनों नेत्रों और सावन-भादों की समता दिखलाई है। निरंतर अश्रु-प्रवाह को लक्ष्य में रखकर यह रूपक भी देवजी ने परम मनोहर कहा है—

कोयन-जोति चहूँ चपला , सुरचाप सु-भ्रूलचे, कज्जल कादौं ;

× × × ×

× × × ×

तारे खुले न, घिरी बरुनी घन , नैन दोऊ भए सावन-भादौं ।

देव

६—प्रोषितपतिका

सुनत पथिक-मुँह माँह-निसि लुवैं चलै वाहि ग्राम ;
बिन बूझे, बिन ही सुने जियत बिचारी बाम।

विहारी

"विहारीलाल ने अतिशयोक्ति की टाँग तोड़ दी है।" प्रोषित-पतिका नायिका के विरह-श्वास के कारण माघ की निशा में गाँव-भर में ग्रीष्म की लुएँ चलती हैं ! अत्युक्ति की पराकाष्ठा है। एक के शरीर-संताप से गाँव-भर तपता है । बेचारे पथिक को भी मुसीबत है। लूह के डर से वह बेचारा गाँव के बाहर ही बाहर होकर निकला जा रहा है । रास्ते में उसे विरहिणी का पति मिलता है। पथिक को अपने गाँव की ओर से आते देखकर वह उससे पूछता है कि क्या उस गाँव से आ रहे हो । उत्तर में पथिक भी उस गाँव का नाम लेकर कहता है कि उसमें माघ की रात में भी लुएँ चलती हैं । बस पतिजी विना और पूछ-ताछ के समझ लेते हैं कि मेरी स्त्री जीवित है। पथिक से यह आशा करनी भी दुराशा-मात्र थी कि वह इनकी विरहिणी भार्या का पूरा पता दे सकेगा। फिर पति अपनी पत्नी के बारे में एक अनजान से विशेष जिज्ञासा करने में लज्जा से भी सकुचता होगा । ऐसी दशा में "बिन बूझे, बिन ही सुने" का प्रयोग बहुत ही उत्तम है।

संजीवन-भाष्यकार ने इस दोहे का अर्थ करने में यह भाव दिखलाया है कि अनेक पथिक बैठे हुए आपस में बातें कर रहे थे कि अमुक गाँव में आज कल लू चलती है। यही सुनकर पति ने विरहिणी के जीवित होने का अनुमान कर लिया। बहुत-से पथिकों का आपस में बातें करना दोहे के शब्दों से स्पष्ट नहीं है। विहारी-लाल सहज में ही "सुनि पथिकन-मुँह माँह-निसि" पाठ रखकर इस अर्थ को स्पष्ट कर सकते थे, पर उन्होंने ऐसा नहीं किया।

विज्ञ पाठक विचार सकते हैं, किस अर्थ में अधिक खींचा-तानी है।

कंत-बिन बासर बसंत लागे अंतक-से,
तीर-ऐसे त्रिबिध समीर लागे लहकन :
सान-धरे सार-से चँदन, घनसार लागे,
खेद लागे खरे, मृगमेद लागे महकन।
फाँसी-से फुलेल लागे, गाँसी-से गुलाब, अरु
गाज अरगजा लागे, चोवा लागे चहकन;
अंग-अंग आगि-ऐसे केसरि के नीर लागे,
चीर लागे जरन अबीर लागे दहकन।

देव

देव के उपर्युक्त छंद का अर्थ करके उसका सौंदर्य नष्ट करना हमें अभीष्ट नहीं है। पाठक स्वयं देख सकते हैं कि यह प्रोषितपतिका नायिका का कैसा उत्कृष्ट उदाहरण है।

७—प्रवत्स्यत्पतिका

रहिहैं चंचल प्रान ये कहि कौन के अगोट ?
ललन चलन की चित धरी कल न पलन की ओट।

बिहारी

कल न परति, कहूँ ललन चलन कह्यो,
बिरह-दवा सों देह दहकै दहक-दहक;
लागी रहै हिलकी, हलक सूखी, हालै हियो,
"देव" कहै गरो भरो आवत गहक-गहक।
दीरघ उसासैं लै-लै ससिमुखी सिसकैति,
सुलुप, सलोनो लंक लहकै लहक-लहक;
मानत न बरज्यो, सुबारिजाके नैनन ते
बारि को प्रबाह बह्यो आवत बहक-बहक।

देव

पति परदेश जाने को है। नायिका इसकी चर्चा सुन चुकी है। विहारी की प्रवत्स्यत्पतिका स्वयं अपना हाल कह रही है। देव की प्रवत्स्यत्प्रेयसी का वर्णन सखी कर रही है। वचन-वियोग की भीषण अवस्था के दो चित्र उपस्थित हैं। दोनों को परखिए।

८—आगतपतिका

प्रीतम के आते न-आते ही विरहिणी शुभ शकुन-सूचक नेत्र-स्पंदन से उमँगकर अपने कपड़े बदलने लगी—

मृग-नयनी दृग की फरक, उरु उछाह, तनु फूल ;
बिनहीं पिय-आगम उमँगि, पलटन लगी दुकूल।

विहारी

उधर प्रिय की अवाई सुनकर देवजी की नायिका जैसी आनंदित हो उठी है, वह भी दर्शनीय है। विरह-अवसान समीप है—

धाई खोरि-खोरि ते बधाई पिय आवन की
सुनि, कोरि-कोरि रस भामिनि भरति है ;
मोरि-मोरि बदन निहारति बिहार-भूमि
घोरि-घोरि आनँद घरी-सी उघरति है।
"देव" कर जोरि-जोरि बंदत सुरन, गुरु,
लोगनि के लोरि-लोरि पॉयन परति है ;
तोरि-तोरि माल पूरे मोतिन की चौक,
निवछावरि को छोरि-छोरि भूषन धरति है।

देव

× × ×

उभय कविवरों के विरह-वर्णन के जो उदाहरण पाठकों की सेवा में ऊपर उपस्थित किए गए हैं, उनसे पाठक अनुमान कर सकते हैं कि हृदय-द्रावी वर्णन किसके अधिक हैं। जिन अन्य कई दशाओं

के वर्णन हमने उद्धृत नहीं किए हैं, उनमें देवजी के प्रलाप आदि दशा के वर्णन, हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं, विहारीलाल-वर्णित उक्त दशा के वर्णनों से कहीं बढ़कर हैं। हम अतिशयोक्ति को बुरा नहीं कहते ; परंतु स्वभावोक्ति, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि के सत्प्रयोग हमें अतिशयोक्ति से अधिक प्रिय अवश्य हैं । आदरास्पद हाली साहब की भी यही सम्मति समझ पड़ती है एवं अँगरेज़ी-साहित्य के प्रधान लेखक रस्किन का विचार भी यही है । दोनों कवियों की कविताएँ, तुलना-कसौटी पर कसी जाकर, निश्चय दिखाती हैं कि विहारी देव की अपेक्षा अतिशयोक्ति के अधिक प्रेमी हैं एवं देव स्वभावोक्ति और उपमा का अधिक आदर करनेवाले हैं ।

तुलना

१—विषमतामयी

हमारे उभय कविवरों ने शृंगार-वर्णन में कवित्व-शक्ति को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया है। कहीं-कहीं पर तो उनके ऐसे वर्णन पढ़कर; अवाक् रह जाना पड़ता है। पाठकों के मनोरंजन के लिये यहाँ पर दोनों कवियों की पाँच-पाँच अनूठी उक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं। ध्यान से देखने पर जान पड़ेगा कि एक कवि की उक्ति दूसरे कवि की वैसी ही उक्ति की पूर्ति बहुत स्वाभाविक ढंग से करती है—

(१) एक गोपी ने कृष्णचंद्र की मुरली इस कारण छिपाकर रख दी कि जब मनमोहन इसे न पाकर ढूँढ़ने लगेंगे, तो मुझसे भी पूछेंगे। उस समय मुझसे-उनसे बातचीत हो सकेगी और मेरी बात करने की लालसा पूरी हो जायगी। मनमोहन ने मुरली खोई हुई जानकर इस गोपी से पूछा, तो पहले तो इसने सौगंद खाई, फिर भ्रू-संकोच द्वारा हास्य प्रकट किया, तत्पश्चात् देने का वादा किया, पर अंत में फिर इनकार कर गई। मनमोहन को इस प्रकार उलझाकर वह उनकी रसीली वाणी सुनने में समर्थ हुई। इस अभिप्राय को विहारीलाल ने निम्न-लिखित दोहे में प्रकट किया है—

बतरस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाय ;
सौंह करै, भौंहन हँसै, देन कहै, नटि जाय।

जान पड़ता है, कविवर देवजी को विहारीलाल की इस गोपी की ढिठाई अच्छी नहीं लगी। अपने मनमोहन को इस तरह तंग होते देखकर उनको बदले की सूझी। बदला भी उन्होंने बढ़ा ही बेढब लिया! घोर शीत पड़ रहा है। सूर्योदय के पूर्व ही गोपियाँ

नदी में स्नान करने को घुसी हैं। वस्त्र उतारकर तट पर रख दिए हैं। देव के मनमोहन को बदला लेने का उत्तम अवसर मिल गया। एक गोपी की शरारत का फल अनेक गोपियों को भोगना पड़ा। चीर-हरण के इस चमत्कार-पूर्ण चित्र का चित्रण देवजी ने नीचे-लिखे पद्य में अनोखे ढंग से किया है। दोहे के 'बतरस' शब्द को छंद में जिस प्रकार असली—जीता-जागता रूप प्राप्त हुआ है, वह भी अपूर्व है। प्रश्नोत्तर का ढंग बड़ी ही मार्मिकता से 'बतरस' को सजीव करके दिखला रहा है—

> कंपत हियो; न हियो कंपत हमारो;
> यों हँसी तुम्हें अनोखी नेकु सीत मैं ससन देहु;
> अंबर-हरैया, हरि, अंबर उजेरो होत;
> हेरि कै हँसै न कोई; हँसै, तो हँसन देहु।
> "देव" दुति देखिबे को लोयन में लागी रहै;
> लोयन में लाज लागै; लोयन लसन देहु;
> हमरे बसन देहु, देखत हमारे कान्ह,
> अजहूँ बसन देहु ब्रज मैं बसन देहु!

गोपियाँ कहती हैं—"हमारा हृदय काँप रहा है (कंपत हियो)।" उत्तर में कृष्णचंद्र कहते हैं—"पर हमारा हृदय तो नहीं काँपता है (न हियो कंपत हमारो)।" फिर गोपियाँ कहती हैं—"अरे चीर-हरण करनेवाले (अंबर-हरैया)! देखो, आसमान में सफ़ेदी छाती जाती है। (अंबर उजेरो होत)। लोग देखकर हँसेंगे।" कृष्णचंद्र कहते हैं—"हँसेंगे, तो हँसने दो; हमें क्या?" इत्यादि। अंत में कितनी दीन वाणी है—"हमरे बसन देहु, देखत हमारे कान्ह, अजहूँ बसन देहु ब्रज मैं बसन देहु।" गर्व का संपूर्ण खर्व होने के बाद एकमात्र शरण में आए हुए की कैसी करुण, दीन वाणी है! "सौंह करै, सौंहन हँसै, देन कहै, नटि जाय" का कैसा

भरपूर बदला है ! वास्तव में विहारी के 'लाल' को जिसने इस प्रकार खिझाया था, उसको देव के 'अंबर-हरैया कान्ह' ने खूब ही छकाया ! विहारीलाल के दुर्गम 'बतरस'-दुर्ग पर देव को जैसी विजय प्राप्त हुई है, क्या वह कुछ कम है ? इस छंद का आध्यात्मिक अर्थ तो और भी सुंदर है, पर स्थानाभाव-वश उसे यहाँ नहीं दे सकते हैं। देवजी, कौन कह सकता है कि तुम विहारीलाल से किसी बात में कम हो ?

(२) पावस का समय है। बादल उठे हैं। धुरवाएँ पड़ रही हैं। पर विरहिणी को यह सब अच्छा नहीं लग रहा है। उसे जान पड़ता है, संसार को जलाता हुआ प्रथम मेघ-मंडल आ रहा है। जलाने का ध्यान होने से वह उसे अग्नि के समान समझती है। सो स्वभावतः वह धुरवाओं को आनेवाले बादल का उठता हुआ धुआँ समझ रही है। जो मेघ आर्द्र करता है, वह जलानेवाला समझा जा रहा है। कैसी विषमता-पूर्ण उक्ति है ! विहारीलाल कहते हैं—

धुरवा होहिं न; लखि, उठे धुआँ धरनि चहुँ कोद ;
जारत आवत जगत को पावस प्रथम पयोद।

विहारीलाल की यह अनूठी उक्ति देखकर—'जगत को जारत' समझकर देवजी घबरा गए। सो उन्होंने रंग-बिरंगी, हरी-भरी लताओं का ज़ोर-ज़ोर से हिलना और पूर्वी वायु के झकोरों में झुक जाना, वन्य-भूमि का नवीन घटा देखकर अंकुरित हो उठना, चातक, मयूर, कोकिला के कलरव एवं अपने हरि को बाग़ में कुछ कर गुंजरनेवाले रागों का सानुराग आलाप-कार्य देखकर सोचा कि क्या ये सब दृश्य होते हुए भी विरहिणी का यह सोचना उचित है कि "जारत आवत जगत को पावस प्रथम पयोद।" इस प्रकृति-अभिषेक को जिस प्रकार संयोगशाली देखेंगे, उस प्रकार देखने के लिये देवजी ने अपने निम्न-लिखित छंद की रचना की। बादल

के आर्द्रकारी गुण की फिर से स्वीकृति हुई। वर्षा का सुंदर, यथार्थ रूप जगत् के सामने एक बार फिर रक्खा गया। प्रकृति की प्रसन्नता, पक्षियों का कलरव, संयोगी पुरुषों का प्रेमालाप सभी एक बार, अपने पूर्ण विकास के साथ, देवजी की कविता में झलक गए। देखिए—

सुनिकै धुनि चातक-मोरन की चहुँ ओरन कोकिल-कूकनि सों ,
अनुराग-भरे हरि बागनि मैं सखि, रागति राग अनूकनि सों।
"कवि देव" घटा उनई जु नई , बन-भूमि भई दल-दूकनि सों ;
रँगराती, हरी हहराती लता , झुकि जाती समीर के झूकनि सों।

(३) विरहिणी नायिका विरह-ताप से व्याकुल होकर तड़प रही है। उसकी यह विकट दशा देखकर पत्थर भी पसीज उठता है ! पर नायक की कृपा नहीं हो रही है। चतुर सखी नायिका की इस भीषण दशा को यकायक और चुपचाप चलकर देखने के लिये नायक से कहती है। कहने का ढंग बड़ा ही मर्मस्पर्शी है—

जो वाके तन की दसा देख्यो चाहत आप ,
तौ बलि, नेकु बिलोकिए चलि औचक, चुपचाप।

एक ओर विरहिणी नायिका की ऐसी दुर्दशा देखने का प्रस्ताव है, तो दूसरी ओर इसी प्रकार—चुपचाप—झाँककर वह चित्र देखने का आग्रह है, जो नेत्रों का जन्म सफल करनेवाला है। एक ओर कृशांगी, विरह-विधुरा और म्लान सुंदरी का चित्र देखकर हृदय-सरिता सूखने लगती है, तो दूसरी ओर स्वस्थ, मधुर और विकसितयौवना नायिका की कंदुक-क्रीड़ा दृष्टिगत होते ही हृदय-सरोवर लहराने लगता है। एक सखी भीषण, बीहड़, दग्ध-प्राय वन का दृश्य दिखलाती है, तो दूसरी सुरम्य, लहलहाता हुआ चंदन-वन सामने लाकर खड़ा कर देती है। एक ओर ग्रीष्म-ऋतु की [illegible]कारी कृति है, तो दूसरी ओर पावस का

आनंदकारी दृश्य है । छंद, दशा और भाव का वैषम्य होते हुए भी नायक से नायिका की दशा विशेष देखने का प्रस्ताव समान है । चित्र को दोनों ओर से देखने की आवश्यकता है । एक ओर से उसे विहारीलाल देखते हैं, तो दूसरी ओर से देवजी उसकी उपेक्षा नहीं करते हैं । दोनों के वर्णन ध्यान से पढ़िए । देवजी कहते हैं—

आवो ओट रावटी, झरोखा झाँकि देखौ "देव"
देखिबे को दाँव फेरि दूजे द्यौस नाहिने ;
लहलहे अंग, रंग-महल के अंगन में
ठाढ़ी वह बाल लाल, पगन उपाहने ।
लोने मुख-लचनि नचनि नैन-कोरन की ,
उरति न और ठौर सुरति सराहने ;
बाम कर बार, हार, अंचर सम्हारै, करै
कैयो फंद, कंदुक उछारि कर दाहिने ।

दाहने हाथ से गेंद उछालते समय बाएँ हाथ से नायिका को बाल, माला और आँचल सँभालना पड़ रहा है एवं इसी कंदुक-क्रीड़ा के कारण सलोने मुख का झुकना एवं नेत्र-कोरकों का संतत नृत्य कितना मनोरम हो रहा है ! यह भाव कवि ने बड़े ही कौशल

---

* मोतीगण-गूथी, गोल, सुघर, छबि-जाल रेशमी मेलन पर,
ऊँची-नीची हो प्राण हरै, द्युति-रूप-सुधा-रस झेलन पर,
बिन देखे समझै नहीं यार, चित पार हो गई हेलन पर,
इस लालविहारी जानी की कुरबान गेंद की खेलन पर ।"

सीतल

यह भाव भी ऊपर दिए देव के छंद की छाया है । सीतल-जैसे बड़े कवियों को देवजी के भाव अपनाने में लालायित देखकर पाठक देवजी की भावोत्कृष्टता का अंदाजा कर सकते हैं । इसके अतिरिक्त यह भी द्रष्टव्य है कि सुकवि खड़ी बोली में भी उत्तम कविता कर सकता है ।

से छंद में भर दिया है। लहलहाते हुए अंगोंवाली नायिका की, रंग-महल के आँगन में, ऐसी मनोहर कंदुक-क्रीड़ा झरोखे से झाँककर देखने के लिये बार-बार नहीं मिल सकती है। तभी तो कवि कहता है—"आवो ओट रावटी, झरोखा झाँकि देखौ 'देव'; देखिबे को दाँव फेरि दूजे द्यौस नाहिनै।"

(४) कर के मीड़े कुसुम-लौं गई बिरह कुँभिलाय;
सदा समीपिन सखिन हूँ नीठि पिछानी जाय।

बिहारी

इस पद्य में विरहिणी नायिका की समता हाथ से मसले हुए फूल से देकर कवि ने अपनी प्रतिभा-शक्ति का अच्छा नमूना दिखाया है। नायिका की विवर्णता, कृशता, निर्बलता एवं श्री-हीनता का प्रत्यक्ष "कर के मीड़े कुसुम-लौं" शब्द-समूह से भली भाँति हो जाता है; मानो "औचुक, चुपचाप" ले जाकर यही हृदय-द्रावी चित्र दिखलाने का प्रस्ताव सखी ने पिछले दोहे में किया था, क्योंकि वहाँ तो सखी ने केवल इतना ही कहा था—"जो वाके तन की दसा देख्यो चाहत आप।" बिहारी के इस चित्र को देखकर संभव है, पाठक अधीर हो उठे हों। अतः पहले के समान पुनः देव का एक छंद उद्धृत किया जाता है। इसमें दूसरे ही प्रकार का चित्र खचित है। मरु-भूमि से निकलकर शस्य-श्यामला भूमि-खंड पर दृष्टि पड़ने में जो आनंद है—प्यास से मरते हुए को अत्यंत शीतल जल मिल जाने में जो सुख है, वही दोहा पढ़ चुकने के बाद इस छंद के पाठक को है—

लागत समीर लंक लहकै समूल अंग,
फूल-से दुकूलनि सुगंध बिथुरो परै;
इंदु-सो बदन, मंद हाँसी सुधा-बिंदु,
अरबिंद ज्यों मुदित मकरंदनि मुरयो परै।

ललित लिलार, रंग-महल के आँगन के
मग मै धरत पग जावक घुरयो परै ;
"देव" मनि-नूपुर-पदुम-पदहू पर ह्वै
भूपर अनूप रंग-रूप निचुरयो परै।

देव

एक ओर मसलकर मुरझाया हुआ कोई फूल है ; दूसरी ओर मकरंद-परिपूरित, मुदित अरविंद है। एक में सुगंध का पता नहीं ; पर दूसरे में सुगंध 'बिथुरी' पड़ती है। एक का पहचानना भी कठिन है, परंतु दूसरे का 'अनूप रंग-रूप' निचुड़ा पड़ता है। एक दूसरे में महान् अंतर है। एक 'निदाघ' के चक्कर में पड़कर नष्टप्राय हो गया है, तो दूसरा शरद्-सुखमा में फूला नहीं समाता। एक ओर विहारी का विरह है, तो दूसरी ओर देव की दया है।

(५) स्याम-सुरति करि राधिका तकति तरनिजा-तीर ;
अँसुवन करति तरौंस को खिनक खरौंहीं नीर।

विहारी

आजु गई हुती कुंजनि लौं, बरसैं उत बूँद घने घन घोरत ;
"देव" कहै—हरि भीजत देखि अचानक आय गए चित चोरत।
ओटि भटू, तट ओट कुटी के लपेटि पटी सों, कटी-पट छोरत ;
चौगुनो रंगु चढ्यो चित मैं, चुनरी के चुचात, लला के निचोरत।

देव

इन दोनों पद्यों का भाव-वैषम्य स्पष्ट है। कहाँ तो कालिंदी-कूल पर पूर्व केलि का स्मरण हो आने से नायिका का अश्रु-प्रवाह और कहाँ घोर जल-वृष्टि के अवसर पर उसे भीगती देखकर नायक का कुंज में बचाने आना ! एक ओर अंधकारमय, दुःखद वियोग और दूसरी ओर आशा-पूर्ण, सुखद संयोग। एक ओर नायिका के अश्रु-

प्रवाहमात्र से यमुना-जल खरौंहीं (खारा) हो जाता है—अल्प कारण से बहुत बड़ा कार्य साधित हो जाता है, तो दूसरी ओर भी पानी से चुचाती चूनरी के निचोड़ने से रंग जाने की कौन कहे, चित्त में चौगुना रंग और चढ़ता है। कारण के विरुद्ध कार्य होता है और सो भी अन्यत्र। निचोड़ी जाती है चूनरी, पर रंग चढ़ता है नायिका के चित्त में और ऐसा हो भी, तो क्या आश्चर्य; क्योंकि 'लला के निचोरत' तो ऐसा होना ही चाहिए! दोनों पद्यों का शेष अर्थ स्पष्ट ही है। उभय कविवरों की उक्तियों पर ध्यान देने की प्रार्थना है।

उभय कविवरों के जो पाँच-पाँच छंद ऊपर दिए गए हैं, उनमें विशेषकर भाव-विषमता ही देखने योग्य है। पाठकों को आश्चर्य होगा कि इस प्रकार के उदाहरण पढ़कर उभय कविवरों के विषय में अपना मत स्थिर करना कैसे सरल हो सकेगा! उत्तर में कहना यही है कि इस प्रकार का उदाहरण-क्रम जान-बूझकर रक्खा गया है। गहराई देखे बिना जैसे ऊँचाई पर ध्यान नहीं जाता, भाद्र-मास की अमावस्या का अनुभव किए बिना जैसे शारदी पूर्णिमा प्रसन्नता का कारण नहीं होती, वैसे ही बिलकुल विरुद्ध भावों की कविताओं को सामने रक्खे बिना समान भाववाली कविताओं पर यकायक निगाह नहीं दौड़ती। काले और गोरे को एक बार भली भाँति देख चुकने के बाद ही हम कहीं कह सकते हैं कि काले की यह बात सराहनीय है, तो गोरे में यह हीनता है।

हमने देव के प्रायः सभी छंद संयोग-शृंगार संबंधी दिए हैं, क्योंकि संयोग-वर्णन देव ने अनूठा किया है। बिहारीलाल के विषय में भाष्यकार की राय है कि विरह-वर्णन में उनको कोई नहीं पाता। इस कारण उनके पाँच में से चार दोहे वियोग-संबंधी दिए गए हैं। कुछ लोगों की राय में बिहारीलाल के सभी दोहे अच्छे हैं। इस कारण हमने जो दोहे हमको अच्छे लगे, वही पाठकों के सम्मुख

उपस्थित किए। संयोग-दशा में कवि के वर्णन करने के ढंग को देखकर पाठक यह बात बखूबी जान सकते हैं कि वियोग-दशा में उसी की वर्णन-शैली कैसी होगी। वियोग-कुशल कवि के वियोग-संबंधी छंद उद्धृत हैं तथा संयोग-कुशल के संयोग-संबंधी।

छोटे छंद में आवश्यक बातें न छोड़ते हुए, उक्ति कैसे निभाई जाती है, यह चमत्कार विहारीलाल में है तथा बड़े छंद में, अनेक परंतु भाव और भाषा के सौंदर्य को बढ़ानेवाले कथनों के साथ, भाव विकास कैसे पाता है, यह अपूर्वता देवजी की कविता में है। विहारी-लाल की कविता यदि जूही या चमेली का फूल है, तो देवजी की कविता गुलाब या कमल-सुमन है। दोनों में सुवास है। भिन्न-भिन्न रुचि के लोग भिन्न-भिन्न सुगंध के प्रेमी हैं। रसिक, पारखी जिस सुगंध को उत्तम स्वीकार करें, वही आमोद-प्रमोद का कारण है। ऊपर उद्धृत पाँचों दोहों में 'बतरस', 'नटि', 'तरौंस', 'खरौहीं' और 'नीठि' शब्दों के माधुर्य पर ध्यान रखने के लिये भी पाठकों से प्रार्थना है। गुणाधिक्य, अलंकार-बाहुल्य, रस-परिपाक एवं भाव-चमत्कार कविता-उत्तमता की कसौटी रहनी चाहिए। विषमता से कवि की उक्ति में कोई भेद नहीं पड़ता बरन् परीक्षक को सम्मति देने में और भी सुबिधा रहती है, क्योंकि उसको पद्य के यथार्थ गुणों पर न्याय करना होता है। साम्य उपस्थित होने पर तुलना-समस्या निर्णय को और भी जटिल कर देती है। इन्हीं कारणों से पहले विरुद्ध भावों के उदाहरण देकर हम अब बाद को भाव-सादृश्य का निदर्शन करते हैं।

२—समतामयी

विहारी और देव के पद्यों में अनेक स्थलों पर भाव-सादृश्य पाया जाता है। कहीं-कहीं पर तो शब्द-रचना भी मिल जाती है। पर दोनों ने जो बात कही है, अपने-अपने ढंग की अनूठी कही है। यह

कहा जा सकता है कि ऐसे भाव-सादृश्य जहाँ कहीं हैं, वहाँ विहारी-लाल छाया-हरण करनेवाले नहीं हैं, क्योंकि वे देव के पूर्ववर्ती हैं तथा परवर्ती होने के कारण संभव है, देव ने भाव-हरण किए हों; परंतु यदि देवजी की कविता में भाव-हरण का दोष स्थापित किया जा सकता है, तो विहारी की अधिकांश कविता इस लांछन से मलिन पाई जायगी। क्या संस्कृत, क्या प्राकृत, क्या हिंदी सभी से विहारी-लाल ने भाव-हरण किए हैं। सूर और केशव की उक्तियाँ उड़ाने में तो विहारीलाल को संकोच ही नहीं होता था। भाव-सादृश्य में भी रचना-कौशल ही दर्शनीय है। विहारी और देव की कविता में इस प्रकार के भाव-सादृश्य अनेक स्थलों पर हैं। इस प्रकार के बहुत-से उदाहरण हमने, उभय कविवरों के काव्य से छाँटकर, एकत्रित किए हैं। भाव-सादृश्य उपस्थित होने का एक बहुत बड़ा कारण यह है कि दोनों कवियों ने प्रायः शृंगार-रसांतर्गत भाव, अनुभाव, नायिका-भेद, हाव, उद्दीपन आदि का समुचित रीति से वर्णन किया है। इस प्रकार के वर्णनों में स्वतः कुछ-न-कुछ समानता दिखलाई पड़ती है। पाठकों की तुलना-सुबिधा के लिये कुछ सुधा-सूक्तियाँ यहाँ पर उद्धृत की जाती हैं—

(१) बिहँसति-सकुचति-सी दिए कुच-आँचर-बिच बाँह ;
भीजे पट तट को चली न्हाय सरोवर-माँह।

विहारी

पीत रँग सारी गोरे अँग मिलि गई "देव",
श्रीफल-उरोज-आभा आभासै अधिक-सी ;
छूटी अलकनि झलकनि जल-बूँदनि की,
बिना बेंदी-बंदन बदन-सोभा बिकसी।
तजि-ताजि कुंज-पुंज ऊपर मधुप-पुंज
गुंजरत, मंजुबर बोलै बाल पिक-सी ;

नींबी उकसाय, नेक नैनन हँसाय, हँसि,
सासि-मुखी सकुचि सरोवर ते निकसी।

देव

सरोवर में स्नान करके, गीले वस्त्र पहने नायिका जल से निकलकर तट की ओर जा रही है। यही बात दोहा और घनाक्षरी दोनों में वर्णित है। दोहे में स्नानानंतर शीतलता-सुख से नायिका 'बिहँस' रही है, परंतु जिन कारणों से उसने 'कुच-आँचर-बिच बाँह" रक्खी है, उन्हीं कारणों से वह 'सकुच' भी रही है। 'बिहँसति-सकुचति', 'कुच-आँचर-बिच', 'पट तट' में शब्द-चमत्कार भी अच्छा है। दोहे में सरोवर से नहाकर गीले कपड़े पहने हुई नायिका का चित्र है। बरबस वह चित्र नेत्रों के सामने आ जाता है। पर नायिका कैसी है, इसका अंदाज़ा केवल इतना होता है कि वह युवती है, विहसित-वदना है और संकोचवती भी है। सौंदर्य-कल्पना का भार विहारीलाल पाठक की रुचि पर छोड़ देते हैं।

देवजी अपनी प्रखर प्रतिभा के प्रताप से कल्पना-सरिता में गहरा ग़ोता लगाते हैं। गौरांगी नायिका सामने आ जाती है। ऋतु, समय और शोभा के अनुकूल वह पीत रंग की ऐसी महीन साड़ी पहने हुए है, जो स्नानानंतर गोरे अंग में मिलकर रह जाती है। स्नान करते समय शरीर के कतिपय कृत्रिम श्रृंगार—शरीर में लगे हुए अंगराग धुलकर बह जाते हैं। इससे सौंदर्य में किसी प्रकार की कमी नहीं आ रही है। 'बेंदी' और 'बंदन' के विना भी शोभा विकसित हो रही है। छूटी हुई अलकावली में जल-बिंदु खूब ही झलक रहे हैं। नायिका पिकबैनी है। स्नान में ऊपर से लगाई हुई सुगंध के धुल जाने पर भी शरीर की सहज सुवास से आकृष्ट हो, कुंज के विकसित कुसुमों की गंध को त्यागकर अलि-पुंज नायिका के ऊपर गुंजार कर रहे हैं। भ्रमरों के इस उपद्रव से

नायिका डर गई है। वह उनके इस भ्रम को दूर करना चाहती है कि मैं कमलिनी हूँ। उधर सूखे वस्त्रों के लिये उसे सरोवर-तट पर खड़ी सखी को भी सचेत करना है। बस, वह दो-एक वचन कहकर भ्रमरों का भ्रम मिटाती और सखी को सचेत करती है तथा कवि को अपने पिकबैनी होने का परिचय देती है। अब वह पानी से निकलनेवाली है, कटि के नीचे का वस्त्र जलार्द्र होने के कारण भारी हो गया है; अतः वह स्वाभाविक रीति से नीचे को खिसक रहा है। इसी को सँभालने के लिये नायिका को नींबी (कटि-बंधन) उकसानी पड़ी है और नींबी उकसाने में हाथों के अटक जाने के कारण ही श्रीफल-उरोजों की गौर आभा, जिन पर पीत सारी चिपकी हुई है, अधिक-अधिक आभासित हो रही है। इस प्रकार नींबी-रक्षा करते हुए उसे सुरति-समय का स्मरण हो आया है, जिससे उसके नेत्रों में छिपी हुई ईषत् हँसी आभासित हो गई है। स्वाभाविक जल-केलि-जन्य आनंद से उसकी हँसी स्पष्ट भी है। नींबी उकसाने में उसे जो स्मृति आ गई है, उसे वह प्रकट नहीं होने देना चाहती एवं हाथों के, नींबी उकसाने के कार्य में, लग जाने के कारण उरोजों का गोपन नहीं हो सका है। अतएव नायिका को संकोच भी हो रहा है। 'पीत रँग सारी गोरे अँग मिलि गई' में मीलित, इस मेल के कारण 'श्रीफल-उरोज-आभा आभासै अधिक' में अनुगुन, 'बिना बेंदी-बंदन बदन-सोभा बिकसी' में विनोक्ति, 'तजि-तजि कुंज-पुंज ऊपर मधुप-पुंज गुंजरत' में भ्रांति-मान, 'बोलै बाल पिक-सी' में लुप्तोपमा, कुल छंद में स्वभावोक्ति, 'आभा आभासै' में यमक, 'तजि-तजि' में वीप्सा एवं स्थल-स्थल पर, छंद में, अनुप्रास का चमत्कार है। शरत्कालीन जल-केलि का दृश्य और हाव का रूप है। पद्मिनी नायिका शृंगार-रस की सर्वस्व हो रही है। प्रसाद, माधुर्य आदि गुणों से युक्त लाक्ष-

णिक पद भी अनेक हैं। घनाक्षरी और दोहे में बहुत अंतर है।

(२) नई लगन, कुल की सकुच; बिकल भई अकुलाय ;
दुहूँ ओर ऐंची फिरै; फिरकी-लौं दिन जाय।

विहारी

मूरति जो मनमोहन की, मन मोहनी कै, थिर ह्वै थिरकी-सी ;
"देव" गुपाल को नाम सुने सियराति सुधा छतियाँ छिरकी-सी ;
नीके झरोखा ह्वै झाँकि सकै नहि, नैनन लाज-घटा घिरकी सी ;
पूरन प्रीति हिये हिरकी, खिरकी-खिरकीन फिरै फिरकी-सी।

देव

नायिका की दशा फिरकी के सदृश हो रही है। जिस प्रकार फिरकी निरंतर घूमती है, ठीक उसी प्रकार नायिका भी अस्थिर है। विहारी-लाल की नायिका को एक ओर 'नई लगन' घसीटती है, तो दूसरी ओर 'कुल की सकुच'। फिरकी के समान उसके दिन बीत रहे हैं। देवजी की नायिका के 'हिये' में भी 'पूरन प्रीति हिरकी' है और नेत्रों में 'लाज-घटा' 'घिरकी' है। इसीलिये वह भी "खिरकी-खिरकीन फिरै फिरकी-सी"। देवजी ने 'लगन' के स्थान पर 'प्रीति' और 'सकुच' के स्थान पर 'लज्जा' रक्खी है। हमारी राय में विहारी-लाल की 'नई लगन' देवजी की 'पूरन प्रीति' से प्रकृष्ट है। 'नई लगन' में जो स्वभावतः अपनी ओर खींचने के भाव का स्पष्टीकरण है वह 'पूरन प्रीति' में वैसा स्पष्ट नहीं है। पर देवजी की 'लाज-घटा' 'कुल की सकुच' से कहीं समीचीन है! इस 'लाज-घटा' में कुल-संकोच, गुरुजन-संकोच आदि सभी घिरे हुए हैं। यह बड़ा ही व्यापक शब्द है। फिर 'लाज' में प्रियतम-प्रीति, प्रेम-पूर्ण, स्वभावतः उत्पन्न, अनिर्वचनीय संकोच (झिझक) का जो भाव है, वह बाहरी दबाव के कारण, अतः कुल की कृत्रिम सकुच में नहीं है

वातायन-द्वार पर विशेष वायु-संचार की संभावना से फिरकी की उपस्थिति जैसी स्वाभाविक है, उसे पाठक स्वयं विचार सकते हैं। अनुप्रास-चमत्कार एवं अन्य काव्य-गुणों में सवैया दोहे से उत्कृष्ट है। मनमोहन की मूर्ति 'मनमोहनी' की गई है, यह परिकरांकुर का रूप है। 'थिर ह्वै थिरकी' में असंगति-अलंकार है। नाममात्र सुनने से उरोजों का ठढा होना चंचलातिशयोक्ति-अलंकार का रूप है। उपमा की बहार तो दोनों छंदों में ही समान है। नई लगन के वश बिहारी-लाल की नायिका इँच जाती है और उसमें कुल-संकोचमात्र की लज्जा है, पर देवजी की नायिका में स्वाभाविक लज्जा है। इसी लज्जा-वश वह झरोखे से ही झाँककर अपना मनोरथ सिद्ध नहीं कर पाती। देवजी की नायिका विशेष लज्जावती है। उसमें मुग्धत्व भी विशेष है।

(३) पलन पीक, अंजन अधर, दिए महावर भाल,
आजु मिले सो भली करी; भले बने हौ लाल !

बिहारी

भारे हौ, भूरि भुराई-भरे अरु भाँतिन-भाँतिन के मन भाए ;
भाग बड़ो बरु भामती को, जेहि भामते लै रँग-भौन बसाए !
भेष भलोई भली बिध सों करि, भूलि परे किधौं काहू भुलाए ?
लाल भले हौ, भली सिख दीन्हीं; भली भई आजु, भले बनि आए !

देव

सापराधी नायक के प्रति खंडिता नायिका की अपूर्व भर्त्सना दोनों ही छंदों में समान हैं। देवजी की खंडिता कुछ विशेष वाक्चतुरा समझ पड़ती है। बिहारीलाल की नायिका देखते-न-देखते तुरंत कह उठती है—"पलन पीक, अंजन अधर, दिए महा-वर भाल"। नायक का सापराधत्व स्थापित करने में वह क्षणमात्र का भी विलंब नहीं होने देती। पर देवजी की नायिका उस चतुराई का आश्रय लेती है, जिससे अपराधी को पद-पद पर लज्जित होना

पड़े। "आप बड़े आदमी हैं, खूब ही भोले हैं, हमें तो आप अनेक प्रकार से अच्छे लगते हैं" यह कथन करके—ऐसा व्यंग्य-बाण छोड़कर पहले वह नायक को मानो सँभलने का इशारा करती है—उसे निर्दोषता प्रमाणित करने का अवसर देती है। फिर वह बड़े कौशल से, शिष्ट-जनानुमोदित वाक्प्रणाली का अनुसरण करते हुए, नायक पर जो दोष लगाना है, उसे स्पष्ट शब्दों में कहती है—"भाग बड़ो बरु भामती को, जेहि भामते लै रँग-भौन बसाए।" ऊपर से मृदु, परंतु यथार्थ में कैसी तीखी वचन-बाण-वर्षा है! कदाचित् नायक अपना निरपराधत्व सिद्ध करने का कुछ उद्योग करे, इसलिये नायिका उसको तुरंत "भेष भलोई भली बिध सों करि" का स्मरण दिलाकर किंकर्तव्य-विमूढ़ कर देती है। सिटपिटाए हुए नायक को उत्तर देते न देखकर वह फिर एक करारी चोट देती है—"भूलि परे किधौं काहू भुलाए?" यह ऐसी मार थी कि नायक पानी-पानी हो जाता है। तब शरण में आए को जिस प्रकार कुछ टेढ़ी-मेढ़ी बात कहकर छोड़ दिया जाता है, उसी प्रकार नायिका भी "लाल भले हौ, भली सिख दीन्हीं, भली भई आजु भले बनि आए" कहकर नायक को छोड़ देती है। देव इस भाव के प्रस्फुटन में क्या विहारी से दबते दिखलाई पड़ते हैं?

(४) कोहर-सी एड़ीन की लाली देखि सुभाय;
पाय महावर देन को आप भई बेपाय।

विहारी

आई हुती अन्हवावन नाइनि, सोंधे लिए वह सूधे सुभायनि;
कंचुकी छोरी उतै उपटैबे को ईंगुर-से अँग की सुखदायनि।
"देव" सुरूप की रासि निहारति पाँय ते सीस लौं, सीस ते पाँयनि;
ह्वै रही ठौर ही ठाढ़ी ठगी-सी, हँसै कर ठोढ़ी धरे ठकुरायनि।

देव

विहारीलाल कहते हैं कि "महावर के समान एड़ियों की स्वाभाविक लाली देखकर (जो नाइन) महावर देने आई थी, वह 'बेपाय' हो गई"। नाइन ऐसा रक्त वर्ण देखकर और महावर-प्रयोग की निष्प्रयोजनता सोचकर चकित रह गई। दोहे में 'नाइन' पद अपनी ओर से मिलाना पड़ता है। छोटे-से दोहे में यदि विहारीलाल पर न्यूनपद-दूषण का अभियोग न लगाया जाय, तो, हमारी राय में, वह क्षम्य है। देवजी के वर्णन में भी नाइन आती है और उसी प्रकार सौंदर्य-सुषमा देखकर चकित हो जाती है। दोहे में 'कोहर-सी एड़ीन' की लाली दिखलाई पड़ती है, तो सवैया में "ईंगुर-से अँग की सुखदायनि" है। दोहे में वह नाइन 'बे-पाय' हो जाती है, तो सवैया में "ह्वै रही ठौर ही ठाढ़ी ठगी-सी" दिखलाई पड़ती है। लेकिन देवजी उसे "पाँय ते सीस लौं, सीस ते पाँयनि सुरूप की रासि" भी दिखलाते हैं एवं एक बात और भी होती है। वह यह कि अपार सौंदर्य देखकर नाइन का चकित होना नायिका भाँप लेती है और इसी कारण 'हँसै कर ठोढ़ी धरे ठकुरायनि' भी छंद में स्थान पाता है। सौंदर्य-छटा देख सकने का सुयोग, अनुप्रास-चमत्कार, भाषा का स्वाभाविक प्रवाह और माधुर्य देखते हुए देवजी का सवैया दोहे से उठता हुआ प्रतीत होता है।

(५) पिय के ध्यान गही-गही, रही वही ह्वै नारि ;
आप आप ही आरसी लखि रीझति रिझवारि।

विहारी

राधिका कान्ह को ध्यान धरै, तब कान्ह ह्वै राधिका के गुन गावै ;
त्यों अँसुवा बरसै, बरसाने को, पाती लिखै, लिखि राधे को ध्यावै।
राधे ह्वै जाय घरीक में "देव", सु-प्रेम की पाती लै छाती लगावै ;
आपुने आपु ही मैं उरझै, सुरझै बिरुझै, समुझै, समुझावै।

देव

दोनों के भाव-साहश्य का अनुपम दृश्य कितना मनोरंजक है। प्रियतम के ध्यान में मग्न सुंदरी प्रियतममय हो रही है। दर्पण में अपना स्वरूप न दिखलाई पड़कर प्रियतम के रूप का नेत्रों के सामने नाचता हुआ प्रतिबिंब उसे प्रत्यक्ष-सा हो रहा है। उसी रूप को निहार-निहारकर वह रीझ रही है। विहारीलाल ने इस भाव को अनुप्रास-चमत्कार-पूर्ण दोहे में बड़ी ही सफ़ाई से बिठलाया है। 'रही वही है नारि' को देवजी ने स्पष्ट कर दिया है। राधिकाजी श्रीकृष्ण का ध्यान करती हैं। इसमें वे कृष्णमय हो जाती हैं। अब जो कुछ कृष्ण करते रहे हैं, वही वे भी करने लगती हैं। कृष्णचंद्र राधिका का गुण-गान किया करते थे; इस कारण राधिकाजी, जो इस समय कृष्ण हो रही हैं, राधिकाजी का गुणानुवाद करती हैं। उन्हें यह ज्ञान नहीं है कि वे अपने मुँह अपनी ही प्रशंसा कर रही हैं। इस समय तो उनमें तन्मयता है—वे राधिका न रहकर कृष्ण हो रही हैं। फिर उन्हीं कृष्ण-रूप से अश्रुपात करती हुई वे राधिकाजी को प्रेम-पत्र लिखती हैं। राधिका को प्रेम-पत्र मिलने पर कैसा लगेगा—उसका वे कैसे स्वागत करेंगी, इस भाव को व्यक्त करने के लिये कृष्णमय, पर वास्तविक राधिका एक बार फिर राधिका हो जाती हैं। पर इस अवसर पर भी उन्हें यही ज्ञान है कि मैं वास्तव में कृष्ण हूँ और पत्रिका-स्वागत-दशा का अनुभव करने के लिये राधिका बनी हूँ अर्थात् राधिकाजी को राधिका बनते समय इस बात का स्मरण नहीं है कि वास्तव में मैं राधिका ही हूँ।

देखिए, कितनी ध्यान-तन्मयता है और कवि की प्रतिभा का प्रवेश भी कितना सूक्ष्म है! "पिय के ध्यान गही-गही, रही वही है नारि" के शब्द-चमत्कार एवं भाव को देवजी का "आपुने

"आपु ही में उरझै, सुरझै, बिरुझै, समुझै, समुझावै" कैसा समुज्ज्वल कर रहा है ! "राधे ह्वै जाय घरीक में "देव", सु प्रेम की पाती लै छाती लगावै" विहारीलाल के "आप आप ही आरसी लखि रीझति रिझवारि" से हृदय पर अधिक चोट करनेवाला है। दोनों भाव एक ही हैं, कहने का ढंग निराला है। तल्लीनता का प्रस्फुटन दोहे की अपेक्षा सवैया में अधिक जान पड़ता है।

भाषा

भाषा का सबसे प्रधान गुण या खूबी यह समझी जाती है कि उसमें लेखक या कवि के भाव प्रकट कर सकने की पूर्ण क्षमता हो। जिस भाषा में यह गुण नहीं, वह किसी काम की नहीं। भाव प्रकट करने की पूर्ण क्षमता के विना भाषा अपना काम ही नहीं कर सकती। दूसरा गुण इससे भी अधिक आवश्यक है। भाषा का संगठन ऐसा होना चाहिए कि लेखक या कवि के अभिप्राय तक पहुँचने में अल्पतम समय लगे। यह न हो कि समर्थ भाषा में जो भाव व्यक्त है, उस तक पहुँचने में बेचारा पाठक इधर-उधर भटकता फिरे। भाषा का तीसरा प्रशंसनीय गुण यह है कि मतलब की बात बहुत थोड़े शब्दों में प्रकट हो जाय। इस प्रकार जो भाषा भाव प्रकट करने में पूर्णतया समर्थ है, पाठक को सीधे मार्ग से उस भाव तक तत्काल पहुँचा देती है, किंतु यह कार्य पूरा करने में अधिक और अनावश्यक शब्दों का आश्रय भी नहीं लेती, वही उत्तम भाषा है। ऐसी भाषा का प्रवाह नितांत स्वाभाविक होगा। उसके प्रत्येक पद से सरलता का परिचय मिलेगा। कृत्रि-मता की परछाहीं भी उसके निकट नहीं फटकने पावेगी। परिस्थिति के अनुकूल उसमें कहीं तो मृदुता के दर्शन होंगे, कहीं लोच की बहार दिखलाई पड़ेगी, और कहीं-कहीं वह खूब स्थिर और गंभीर रूप में सुशोभित होगी। उत्तम भाषा में अलंकारों का प्रादुर्भाव आप-ही-आप होता जाता है। लेखक या कवि को उनके लाने के लिये भगीरथ-प्रयत्न नहीं करना पड़ता। साथ ही वे अलंकार, भाव की स्पर्धा में, अपनी अलग सत्ता भी नहीं स्वीकृत करते। वे बेचारे

तो मुख्य भाव तक पाठक को और भी जल्दी पहुँचा देते हैं। भाषा का एक गुण माधुर्य भी है। जिस समय कानों में मधुर भाषा की पीयूष-वर्षा होने लगती है, उस समय आनंदातिरेक से हृदय द्रवित हो जाता है। पर 'श्रुति-कटु'-वर्ण-शून्य मधुर भाषा, व्यापक रूप से, सभी समय और सभी अवस्थाओं में समान आनंद देनेवाली नहीं कही जा सकती। प्रचंड रण-तांडव के अवसर पर तो ओजस्विनी कर्ण-कटु शब्दावली ही चमत्कार पैदा करती है—वही एक विशेष आनंद की सामग्री है।

उत्तम भाषा के अधिकाधिक नमूने सत्काव्यों में सुलभ हैं। एक समालोचक का कथन है कि कविता वही है, जिसमें सर्वोत्तम शब्दों का सर्वोत्तम न्यास हो (Poetry is the best words in their best orders)।

भाषा-सौंदर्य का एक नमूना लीजिए—

"हौं भई दूलह, वै दुलही, उलही सुख-बेलि-सी केलि घनेरी ;
मैं पहिरो पिय को पियरो, पहिरी उन री चुनरी चुनि मेरी।
"देव" कहा कहौं, कौन सुनै री, कहा कहे होत, कथा बहुतेरी ;
जे हरि मेरी धरैं पग-जेहरि, ते हरि चेरी के रंग रचे री।"

लेखक और कवि, दोनों ही के लिये उत्तम भाषा की परमावश्यकता है। उनकी सफलता के साधनों में उत्तम भाषा का स्थान बहुत ऊँचा है। साधारण-सी बात भी उत्तम भाषा के परिच्छद में जगमगा उठती है। किंतु उत्तम भाषा लिख लेना हँसी-खेल नहीं है। इसके लिये प्रतिभा और अभ्यास, दोनों ही अपेक्षित हैं। फिर भी अनवरत परिश्रम करने से, वैसी कुछ प्रतिभा न होते हुए भी, अभ्यास द्वारा उत्तम भाषा लिखी जा सकती है।

कविवर विहारीलाल एवं देव दोनों ने मधुर 'ब्रजबानी' में कविता की सरस कहानी कही है। किसकी 'बानी' विशेष रसीली तथा

मधुर है, इसके साक्षी सहृदय सज्जनों के श्रवण हैं। आइए पाठक, आपके सामने दोनों कविवरों की कुछ सुधा-सूक्रियाँ उपस्थित की जाती हैं। कृपा करके आस्वादनानंतर बतलाइए कि किसमें मिठाई और सरसता की अधिकता है—

१—विहारी

ह्वै कपूर-मनिमय रही मिलि तन-दुति मुकतालि ;
छन-छन खरी बिचच्छनौ लखति छ्वाय तृन आलि।
लै चुभकी चलि जात तित, जित जल-केलि अधीर ;
कीजत केसर-नीर सों तित-तित केसर-नीर।
मरिबे को साहस कियो, बढ़ी बिरह की पीर ;
दौरति है समुहे ससी, सरसिज, सुरभि, समीर।
किती न गोकुल कुल-बधू ? काहि न को सिख दीन ?
कौने तजी न कुल-गली, ह्वै मुरली-सुरलीन ?
अरी ! खरी सटपट परी बिधु आधे मग हेरि ;
सग लगे मधुपन, लई भागन गली अँधेरि।

विहारीलाल के ऊपर उद्धृत पद्य-पंचक में जैसे प्रतिभा का प्रकाश प्रकट है, वैसे ही शब्द पीयूष-प्रवाह भी पूर्णता प्राप्त कर रहा है। प्रथम दोहे में "मनिमय, मिलि, मुकतालि" एवं "छन-छन, बिचच्छनौ, छ्वाय" में अपूर्व शब्द-चमत्कार है। उसी प्रकार दूसरे दोहे के प्रथमांश में "चुभकी चलि", "जात तित, जित जल-केलि" में अनुप्रास का उत्तम शासन सुदृढ़ करके मानो द्वितीयांश में कविवर ने "कीजत केसर-नीर सों तित-तित केसर-नीर"-सदृश अनुप्रासयुक्त वाक्य द्वारा शब्द-समृद्धि लूट ली है। तीसरे दोहे में "समुहे ससी, सरसिज, सुरभि, समीर" शब्दों का सन्निवेश सुंदर, सरस, समुचित और सफलता-पूर्ण है। ऐसा शब्द-चमत्कार निर्जीव तुकबंदी में जान डाल देता है ; रसात्मक वाक्य की तो बात ही निराली है।

"अरी, खरी, सटपट परी बिधु आधे" में भी जो शब्द-संगठन हुआ है, वह अत्यंत दृढ़ है। खाँड़ की रोटी के सभी टुकड़े मीठे होंगे। अतएव ऊपर दिए हुए दोहे चाहे पुप्पुर और कठोर किनारे ही क्यों न हों, परंतु उनकी मिठाई में किसी को संदेह न होना चाहिए। यद्यपि शर्माजी ने इन 'अंगूरों' को चख लेने के बाद शेष सभी मीठे फलों को निमकौरी-सदृश कटु बतलाकर उन्हें न छूने की आज्ञा दी है, तो भी स्वादु-परिवर्तन-रुचिरा होने के कारण जिह्वा विविध रसोपभोग के लिये सर्वदा समुद्यत रहती है; अतएव देव-सदृश साहित्य-सूद-संपादित स्वादीयसी सुधा-संभोग से वह कैसे विरत रह सकती है? सुनिए—

२—देव

पीछे परबीनै बीनै संग की सहेली, आगे
भार-डर भूषन डगर डारै छोरि-छोरि;
मोरै मुख मोरनि, त्यों चौंकत चकोरनि, त्यों
भौरनि की ओर भीरु देखै मुख मोरि-मोरि।
एक कर आली-कर-ऊपर ही धरे, हरे-हरे
पग धरै, "देव" चलै चित चोरि-चोरि;
दूजे हाथ साथ लै सुनावति बचन,
राज-हंसन चुनावति मुकुत-माल तोरि-तोरि।

पीछे परबीनै, परबीनै बीनै, संग की सहेली, भार भूषन, डर डगर, डारै छोरि छोरि, मोरै मुख मोरनि, मोरनि चकोरनि, भौंरनि चौंकत चकोरनि, भौंरनि भीरु, मुख मोरि-मोरि, ही हरे-हरे, धरे धरै, चलै चित चोरि-चोरि, हाथ साथ, सुनावति चुनावति, मुकुत-माल, तोरि-तोरि आदि में अनुप्रास का न्यास जैसा विकास-पूर्ण है, वैसा ही उसका न्यास भी अनायास वचन-विलास-वर्धक है। यों तो "जीभ निंबौरी क्यों लगै, बौरी! चाखि अँगूर" की दुहाई देनेवालों से कुछ कहने

की हिम्मत नहीं पड़ती, पर क्या शर्माजी सहृदयतापूर्वक "छन-छन बिचच्छनौ छाय" को "मन मैं लाय" कह सकते हैं कि ऊपर दिया हुआ छंद "खाँड़ की रोटी" का ईषत् भी स्वादु उत्पन्न नहीं करता है ? क्या कोमल-कांत-पदावली, सुकुमारता, माधुर्य एवं प्रसाद का आह्लाद निर्विवाद यह सिद्ध नहीं करता है कि जिसको कोई 'निंबौरी' समझे हुए थे, वह यदि विदेशी 'अंगूर' नहीं ठहरता है, तो व्रजभाषा का 'दाख' निश्चय है। कहते हैं, किसी स्थल विशेष पर एक महात्मा की कृपा से कुस्वादु रीठे मीठे हो गए थे। सो यदि देवजी ने 'कटुक निंबौरी' में दाख की साख ला दी हो, तो आश्चर्य ही क्या ! एक बार मधुरिमा का अनुभव कर चुकने के बाद निडर स्वाद लेते चलिए। कम-से-कम मुख का स्वाद न बिगड़ने पाएगा—

आपुस मैं रस मै रहसैं, बहसैं, बनि राधिका कुंज-बिहारी ;
स्यामा सराहत स्याम की पागहि, स्याम सराहत स्यामा कि सारी।
एकहि आरसी देखि कहै तिय, नीको लगो पिय, प्यो कहै, प्यारी ;
"देव" सु बालम-बाल को बाद बिलोकि भई बलि हौं बलिहारी।

हम भी कवि की रचना-चातुरी पर 'बलिहारी' कहते हुए छंद की मधुरिमा तथा शब्द-गुण-गरिमा का अन्वेषण-भार सहृदय पाठकों की रुचि पर छोड़ते हैं। जौहरी की दूकान का एक दूसरा रत्न परखिए—

कोऊ कहौ कुलटा, कुलीन, अकुलीन कहौ,
कोऊ कहौ रंकिनि, कलंकिनि, कुनारी हौं ;
कैसो नरलोक, परलोक बरलोकनि मैं ?
लीन्हीं मैं अलीक लोक-लीकन ते न्यारी हौं।
तन जाउ, मन जाउ, "देव" गुरु-जन जाउ,
प्रान किन जाउ, टेक टरत न टारी हौं ;

वृंदाबनवारी बनवारी की मुकुट-वारी,
पीत पटवारी वहि मूरति पै वारी हौं।

संभव है, उपर्युक्त पद्य-पीयूष भी भिन्न रुचि के भाषाभिमानियों की तृषा निवारण न कर सके। अतः एक छंद और उद्धृत किया जाता है—

पाँयन नूपुर मंजु बजैं, कटि-किंकिनि मैं धुनि की मधुराई ;
साँवरे-अंग लसै पट पीत, हिये हुलसै बनमाल सुहाई ;
माथे किरीट, बड़े दृग चंचल, मंद हँसी, मुख-चंद जुन्हाई ;
जै जग-मंदिर-दीपक सुंदर, श्रीब्रज-दूलह देव-सहाई।

उपर्युक्त उदाहरणों के चुनने में इस बात का किंचित् विचार नहीं किया गया है कि उनमें केवल अनुप्रास ही अनुप्रास भरा हो, क्योंकि भाषा-माधुर्य के लिये अनुप्रास कोई आवश्यक वस्तु नहीं है। हाँ, सहायक अवश्य है। कविवर देवजी अनुप्रास अपनाने में भी अपूर्व कौशल दिखलाते हैं और सबसे प्रशंसनीय बात तो यह है कि इस हस्त-लाघव में न तो उन्हें व्यर्थ के शब्द भरने की आवश्यकता पड़ती है और न शब्दों के रूप ही विकृत होने पाते हैं। इस प्रकार का एक उदाहरण उपस्थित किया जाता है—

जोतिन के जूहनि दुरासद, दुरूहनि,
प्रकास के समूहनि, उजासनि के आकरनि;
फटिक अटूटनि, महारजत-कूटनि,
मुकुत-मनि-जूटनि समेटि रतनाकरनि।
छूटि रही जोन्ह जग लूटि दुति "देव"
कमलाकरनि फूटि, फूटि दीपति दिवाकरनि;
नभ-सुधासिंधु-गोद पूरन प्रमोद ससि
समोद-बिनोद चहुँ कोद कुमुदाकरनि।

प्रतिभा-पूर्ण पद्य के लिये जिस प्रकार अर्थ-निर्वाह, सुष्ठु योजना, माधुर्य एवं औचित्य परमावश्यक हैं, उसी प्रकार पुनरुक्ति-दोष-परि-

हार भी सर्वदा अपेक्षित है। हमारे हृदय-पटल पर आनंद और सौंदर्य के प्रति सदा सहानुभूति खचित रहती है। इस सहानुभूति का सूचक शब्द-समुदाय प्रकृति में कोमलता और सुकुमारता अभिव्यक्त करनेवाला प्रसिद्ध है। कोमलता और सुकुमारता की समता मधुरता में संपुटित है। यही माधुर्य है। सुष्ठु योजना से यह अभिप्राय है कि कवि की भाषा स्वाभाविक रीति से प्रवाहित होती रहे—पद्य में होने के कारण शब्दों के स्वाभाविक स्थान छुड़ाकर उन्हें अस्वाभाविक स्थानों पर न बिठलाना पड़े एवं उनके रूप-परिवर्तन में भी गड़बड़ी न हो। निरी तुकबंदी में सुष्ठु योजना की छाया भी नहीं पड़ती। औचित्य से यह अभिप्राय है कि पद्य में बेढंगापन न हो अर्थात् वर्ण्य विषय का अंग विशेष आवश्यकता से अधिक या न्यून न वर्णन किया जाय। ऐसा न हो कि "मुँह से बड़े दाँत" दिखलाई पड़ने लगें। सब यथास्थान इस प्रकार सज्जित रहें कि मिलकर सौंदर्य-वर्धन कर सकें। इन सबके ऊपर अर्थ-निर्वाह परमावश्यक है। कविता-संबंधी रीति-प्रदर्शक ग्रंथों में अर्थ-व्यक्ति-गुण का विवेचन विशेष रीति से दिया गया है। प्रसाद-गुण से पूरित पद्य का भाव पाठक तत्काल समझ लेता है। जहाँ भाव समझने में भारी श्रम उठाना पड़ता है, वहाँ क्लिष्टता-दोष माना गया है।

कविवर विहारीलालजी की सतसई खाँड़ की रोटी के समान होने के कारण सर्वथा मीठी है ही; अब पाठक कृपया कविवर देवजी की भाषा के भी ऊपर उद्धृत नमूने पढ़कर निश्चय करें कि उनका भाषाधिकार कैसा था? उनकी योजना कैसी थी? उनका औचित्य कहाँ तक ग्राह्य था? अर्थ-व्यक्ति-गुण वे कहाँ तक अभिव्यक्त कर सके? इसी प्रकार यह भी विचारणीय है कि उद्धृत पद्यों में दोषावह रीति से उन्होंने उसी को बार-बार दोहराकर पुनरुक्ति-दोष से अपनी उक्तियों को मलिन तो नहीं कर दिया है? क्या उनके पद्यों

के अर्थ समझने में आवश्यकता से अधिक परिश्रम तो नहीं करना पड़ता ? उनमें क्लिष्टता की कालिमा तो नहीं लग गई है ? माधुर्य का मनोमोहक सौंदर्य दिखलाई पड़ता है या नहीं ? यदि ये गुण देवजी की कविता में हैं, तो भाषा-विचार से देवजी का स्थान ऊँचा रहेगा । केवल शब्द-सुषमा को लक्ष्य में रखकर विहारी और देव के पद्य-पीयूष का आचमन कीजिए । हमें विश्वास है, देव का पीयूष आपको विशेष संतोष देगा ।

उपसंहार

देव और विहारी की तुलनात्मक समालोचना इस ग्रंथ में अत्यंत स्थूल दृष्टि से की गई है। देवजी के ग्रंथों में माया, ज्ञान, संगीत एवं नीति का भी विवेचन है। देवजी के कविता और उसके अंगों को समझानेवाले लक्षण-लक्ष्य-संबंधी कई ग्रंथ बहुत ही उच्च कोटि के हैं। परंतु इस प्रकार के ग्रंथों की यथार्थ समालोचना प्रस्तुत पुस्तक में नहीं हो सकती। विहारीलाल ने इन विषयों पर कोई स्वतंत्र रचना नहीं की। ऐसी दशा में इन विषयों की तुलना 'देव और विहारी' में कैसे स्थान पा सकती है? अतएव जो लोग इस पुस्तक में आचार्य, संगीतवेत्ता एवं ज्ञानी देव का दर्शन करने की अभिलाषा रखते हैं, उन्हें यदि निराश होना पड़े, तो कोई आश्चर्य नहीं। कविवर विहारीलाल के साथ अन्याय किए बिना हम देवजी की ऐसी रचनाओं की समालोचना कैसे करते? जिन विषयों पर उभय कविवरों की रचनाएँ हैं, उन्हीं पर हमने समालोचना लिखने का साहस किया है। यदि संभव हुआ, तो 'देव-माया-प्रपंच-नाटक', 'राग-रत्नाकर', 'नीति—वैराग्य-शतक' तथा 'शब्द-रसायन' आदि पर एक पृथक् पुस्तक लिखी जायगी। इस पुस्तक में तुलनात्मक समालोचना के लिये विहारी को छोड़कर और ही कवियों का सहारा लेना पड़ेगा।

इस पुस्तक में जो कुछ समालोचना लिखी गई है, उससे यह स्पष्ट है कि-

(१) भाषा-माधुर्य और प्रसाद-गुण देवजी की कविता में विहारीलालजी की कविता से अधिक पाया जाता है। भाषा का

समुचित नियंत्रण करते हुए गंभीरतापूर्वक भाव का निर्वाह करने में देवजी अद्वितीय हैं।

(२) देवजी की रचनाओं में सहज ही अलंकार, रस, व्यंग्य, भाव आदि विविध काव्यांगों की झलक दिखलाई पड़ती है। यह गुण विहारीलाल की कविता में भी इसी प्रकार पाया जाता है। अतिशयोक्ति के वर्णन में विहारीलाल के साथ सफलतापूर्वक टक्कर लेते हुए भी स्वभावोक्ति और उपमा के वर्णन में देवजी अपना जोड़ नहीं रखते।

(३) मानुषी प्रकृति का और प्राकृतिक वर्णन करने में देवजी की सूक्ष्मदर्शिता देखकर मन मुग्ध हो जाता है। बारीक-बीनी में विहारीलाल देवजी से कम नहीं हैं ; पर दोनों में भेद केवल इतना ही है कि देवजी का काव्य तो हृदय को पूर्ण रूप से वश में कर लेता है—एक बार देव का काव्य पढ़कर अलौकिक आनंद का उपभोग किए बिना सहृदय पाठक का पीछा नहीं छूटता, लेकिन विहारीलाल में यह अपूर्व बात न्यून मात्रा में है।

(४) देवजी की व्यापक बहुदर्शिता एवं विस्तृत अनुभव का पूर्ण प्रतिबिंब इनकी कविता पर पड़ा है। इसी कारण इनके वर्णनों में स्वाभाविकता है। अधिक कहने पर भी इनकी कविता में शिथिलता नहीं आने पाई है। एकमात्र सतसई के रचयिता के कुछ दोहे कोई भले ही शिथिल कह ले, पर दर्जनों ग्रंथ बनानेवाले देवजी के शिथिल छंद कहीं ढूँढ़ने पर मिलेंगे !

(५) व्यक्ति विशेष की प्रतिभा का प्रमाण जीवन की आरंभिक अवस्था में ही मिलता है। ज्यों-ज्यों अवस्था बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों विद्या एवं अनुभव-वृद्धि के साथ प्रतिभा की उज्ज्वलता भी रमणीय होती जाती है। १६ वर्ष की अवस्था में 'भाव-विलास' की रचना करके देवजी ने अंत समय तक साहित्य-जगत् में

प्रतिभा के अद्भुत खेल दिखलाए हैं। देवजी 'पैदायशी' कवि थे।

क्या विहारीलाल के विषय में भी यही बात कही जा सकती है ?

(६) शृंगार-कविता के अंतर्गत सानुराग प्रेम के वर्णन में देवजी का सामना हिंदी-भाषा का कोई भी कवि नहीं कर सकता।

सारांश यह कि हमारी राय में शृंगारी कवियों में देवजी का स्थान पहले है और विहारीलाल का बाद को। जिन कारणों से हमने यह मत दृढ़ किया है, उनका उल्लेख पुस्तक में स्थल-स्थल पर है।

आइए, पुस्तक समाप्त करने के पूर्व देवजी की कविता के ऊपर दिखलाए हुए गुण स्मरण रखने के लिये निम्न-लिखित छंद याद कर लीजिए—

डारद्रुम-पालन, बिछौना नव पल्लव के,
सुमन-झिंगूला सोहै तन-छबि भारी दै ;
पवन झुलावै, केकी-कीर बतरावै "देव",
कोकिल हलावै-हुलसावै कर तारी दै।
पूरित पराग सों उतारो करै राई-नोन
कुंद-कली-नायिका लतान सिर सारी दै ;
मदन-महीपजू को बालक बसंत, ताहि
प्रातहि जगावत गुलाब चटकारी दै

परिशिष्ट

१—देवजी के एक छंद की परीक्षा

सखी के सकोच, गुरु सोच मृग-लोचनि रि-
सानी पिय सों, जु उन नेकु हँसि छुयो गात;
"देव" वै सुभाय मुसुकाय उठि गए, यहिं
सिसिकि-सिसिकि निसि खोई रोय पायो प्रात।
को जानै री बीर बिनु बिरही बिरह-बिथा?
हाय-हाय करि पछिताय न कछू सोहात;
बड़े-बड़े नैनन सों आँसू भरि-भरि ढरि,
गोरो-गोरो मुख आजु ओरो-सो बिलानो जात।

देव

यह रूपघनाक्षरी छंद है, जिसमें ३२ वर्ण होते हैं और प्रथम यति सोलहवें वर्ण पर रहती है। "एक चरन को बरन जहँ दुतिय चरन में लीन, सो जति-भंग कवित्त है; करै न सुकबि प्रवीन।" यहाँ 'रिसानी' शब्द का 'रि' अक्षर प्रथम चरन में है और 'सानी' दूसरे में। इस हेतु छंद में यति-भंग-दूषण है।

चतुर्थ पद में आँसू भर-भरकर तथा ढरकर के पीछे वाक्य-कर्ता द्वारा कोई अन्य कर्म माँगता है, परंतु कवि ने कर्ता-संबंधी कोई क्रिया न लिखकर "गोरो-गोरो मुख आजु ओरो-सो बिलानो जात"-मात्र लिखा है, जिससे छंद में दुःप्रबंध-दूषण लगता है। 'को जानै री बीर' में कई गुरु वर्ण साथ एक स्थान पर आ गए हैं, जिनसे जिह्वा को क्लेश होने से प्रबंध-योजना अच्छी नहीं है।

यहाँ अंतरंगा सखी का वचन बहिरंगा सखी से है। जिस बहि-

रंगा सखी के सम्मुख गात छुआ गया था, वह चली गई थी। वचन दूसरी बहिरंगा से कहा गया है, जो वह हाल नहीं जानती है। केवल अंतरंगा सखी के सम्मुख यदि गात छुआ गया होता, तो नायिका को संकोच न लगता; क्योंकि अंतरंगा सखी को आचार्यों ने सभी भेदों की जाननेवाली माना है, जिसमें पूरा विश्वास रक्खा जाता है।

यहाँ "गुरु सोच" से गुरु-जनों से संबंध रखनेवाला शोक नहीं माना जा सकता, क्योंकि एक तो शब्द गुरु-जनों को प्रकट नहीं करते और दूसरे उनके सम्मुख गात्र-स्पर्श आदि बहिरति-संबंधिनी भी कोई क्रियाएँ नहीं हो सकतीं। एतावता संकोच-भव भारी शोक का प्रयोजन लेना चाहिए।

मृग-लोचनि में वाचक-धर्मोपमान-लुप्तोपमा है। यहाँ उपमेयमात्र कहा गया है। पूर्ण उपमा है मृग के लोचन-समान चंचल लोचन-वाली स्त्री, परंतु यहाँ धर्म (चंचलता), वाचक एवं उपमान का प्रकाश-कथन नहीं है।

थोड़ा ही-सा गात छूने से क्रोध करने का भाव नायिका का मुग्धत्व प्रकट करता है। नायक अच्छे भाव से मुसकराकर उठ गया। यहाँ "सुभाय" एवं "मुसुकाय" शब्द जुगुप्सा को बचाते हैं, क्योंकि यदि नायक अप्रसन्न होकर उठता, तो बीभत्स-रस का संचार हो जाता, जो शृंगार का विरोधी है। नायक के उठ जाने के पीछे नायिका ने जितने कर्म किए हैं, उन सबसे मुग्धत्व प्रकट होता है।

निशि खोने एवं प्रात पाने में रूढ़ि लक्षणा है। न निशि अपने पास का कोई पदार्थ है, जो खोया जा सके और न प्रात कोई पदार्थ है, जो मिल सके। इस प्रकार के कथन संसार में प्रचलित हैं, जिससे रूढ़ि लक्षणा हो जाती है। 'गोरो-गोरो मुख आजु ओरो-सो बिलानो जात' में गौणीसारोपा प्रयोजनवती लक्षणा एवं पूर्णोपमा-

लंकार है। मुख में गुण देखकर ओलापन स्थापित किया गया है। उपमा में यहाँ गोराई और बिलाने के दो धर्म हैं। बिलानेवाले गुण में दुःप्रबंध-दूषण लगने का भय था, क्योंकि ओला बिलकुल लोप हो जाता है, किंतु मुख नहीं। कवि ने इसी कारण बिलकुल बिला जाना न कहकर केवल "बिलानो जात" कहा है।

बरि, बिरही, बिथा, सकोच, गुरु सोच, मृगलोचनि, गोरो-गोरो, ओरो, भाय, मुसकाय, भरि-भरि, ढरि आदि शब्दों से वृत्यानुप्रास का चमत्कार प्रकट होता है। भरि-भरि, गोरो-गोरो, सिसिकि-सिसिकि, बड़े-बड़े और हाय-हाय वीप्सित पद हैं। वीप्सा का यहाँ अच्छा चमत्कार है।

इस छंद में शृंगार-रस पूर्ण है। "नेकु हँसि छुयो गात" में रति स्थायी होता है। "नेकु जु प्रिय जन देखि सुनि आन भाव चित होय, अति कोबिद पति कबिन के सुमति कहत रति सोय।" प्रिया को देखकर नायक के चित्त में दर्शन-भव आनंद से बढ़कर क्रीड़ा-संबंधी भाव उत्पन्न हुआ। इस भाव ने इतनी वृद्धि पाई कि उसने हँसकर पत्नी का गात छुआ। सो यह भाव केवल आकर चला नहीं गया, वरन् ठहरा। यह था रति का भाव। सो हमें स्थायी रति का भाव प्राप्त हुआ। यही शृंगार-रस का मूल है। रस के लिये आलंबन की आवश्यकता है। यहाँ पति और पत्नी रस के आलंबन हैं। रस जगाने के लिये उद्दीपन का कथन हो सकता है, परंतु वह अनिवार्य नहीं है। इस छंद में कवि ने उद्दीपन नहीं कहा है। नायक का हँसकर गात छूना और मुसकराना संयोग-शृंगार के अनुभाव हैं तथा नायिका का रिसाना मानचेष्टा होने से वियोग-शृंगार का अनुभाव है। सिसिकि-सिसिकि निशि खोना तथा रोकर प्रात पाना संचारी नहीं हैं, क्योंकि ये समुद्र-तरंगों की भाँति नहीं उठे हैं, वरन् बहुत देर स्थिर रहे हैं। हाय-हाय करके

पछताना और कुछ भी अच्छा न लगना भी ऐसे ही भाव हैं। इनको एक प्रकार से अनुभाव मान सकते हैं। आँसुओं का ढलना तन-संचारी है। अतः यहाँ शृंगार-रस के चारों अंग पूर्ण हुए, सो प्रकाश-शृंगार-रस पूर्ण है। पहले संयोग था, परंतु पीछे से वियोग हो गया, जिसकी प्रबलता रहने से छंद में संयोगांतर्गत वियोग-शृंगार है। बहिरंगा सखी के सम्मुख नायक ने कुछ हँसकर गात छुआ, जिससे हास्य-रस का प्रादुर्भाव छंद में होता है, परंतु दृढ़ता-पूर्वक नहीं। शृंगार का हास्य मित्र है, सो उसका कुछ आना अच्छा है। थोड़ा हँसकर गात छूने और मुसकराकर उठ जाने से मृदु हास्य आया है, जिसका स्वरूप उत्तम है, मध्यम अथवा अधम नहीं। शृंगार में क्रोध का वर्णन अप्रयुक्त नहीं है।

यहाँ मुग्धा कलहांतरिता नायिका है। पात्र-भेद में यह वाचक-पात्र है, जिसकी शुद्धस्वभावा स्वकीया आधार है। सखी का वर्णन स्वकीया के साथ होता है और दूती का परकीया के साथ। कुछ ही गात के छूने से क्रोध करना भी स्वकीयत्व प्रकट करता है और रात-भर रोना-धोना स्थिर रहने से उसी की अंग-पुष्टि होती है।

वाचक-पात्र होने से छंद में अभिधा का प्राधान्य है, जिसका भाव लक्षणा के रहते हुए भी सबल है। यहाँ अर्थांतर संक्रमित वाच्य ध्वनि निकलती है, क्योंकि कलहांतर्गत पश्चात्ताप की विशेषता है, जिससे चित्त का यह भाव प्रकट होता है कि क्रोध का न होना ही रुचिकर था। नायिका मुग्धत्व-पूर्ण स्वभाव से क्रोध करने पर विवश हुई। उसकी इच्छा नायक के मनाने की है, परंतु लज्जा के कारण वह ऐसा कर नहीं सकती। वाचक से जाति, यदृच्छा, गुण तथा क्रिया-नामक चार मूल होते हैं। यहाँ उसका जाति-मूल है। नायिका स्वभाव से ही गात के छुए जाने से क्रोधित

हो गई। इस छंद में गौण रूप से समता, प्रसाद एवं सुकुमारता-गुण आए हैं, परंतु उनमें अर्थ-व्यक्त का प्राधान्य है।

छंद में कैशिकी वृत्ति और नागर नायिका हैं, क्योंकि उसने ज़रा-सा गात छुए जाने से सखी के संकोच-वश लज्जा-जनित क्रोध किया और नायक के उठ जाने से थोड़े-से अनरस पर ऐसा शोक किया कि रात-भर रोदन, हाय-हाय, पछताना, आँसुओं का बाहुल्य आदि जारी रक्खा। एतावता छंद-भर में नागरत्व का प्राधान्य है, सो ग्रामीणता-सूचक रस में अनरस होते हुए भी नायिका नागर है।

छंद में दो स्थानों पर उपमालंकार आया है, जिसका चमत्कार अन्यत्र नहीं देख पड़ता। इससे यहाँ एकदेशोपमा समझनी चाहिए। यहाँ विषादन और उल्लास का आभास है, परंतु वह दृढ़ नहीं होते। 'को जानै री बीर बिन बिरही बिरह-बिथा' में लोकोक्ति-अलंकार है और कुछ गात छुए जाने से रिसाने के कारण स्वभावोक्ति आती है। यह नहीं प्रकट होता कि नायक ने कोई लज्जा का अंग छुआ, परंतु फिर भी नायिका क्रुद्ध हुई। सुतरां अपूर्ण कारण से पूर्ण काज हो गया, जिससे दूसरा विभावना-अलंकार हुआ। नायक उत्तम है, क्योंकि वह नायिका के क्रोध से मुसकराता ही रहा। नायिका मध्यमा है। नायिका पहले सिसकी, फिर रोई, फिर उसने हाय-हाय किया और अंत में उसके आँसू बहने लगे। इसमें उत्त-रोत्तर शोक-वृद्धि से सारालंकार आया। नायिका के क्रोध से नायक में सुंदर भाव हुआ, सो अकारण से कारज की उत्पत्ति होने के कारण चतुर्थ विभावना-अलंकार निकला। नायक के हँसकर गात छूने से नायिका हँसने के स्थान पर क्रोधित हुई, अर्थात् कारण से विरुद्ध काज उत्पन्न हुआ, सो पंचम विभावना-अलंकार आया। "अलंकार यक ठौर में जहँ अनेक दरसाहिं, अभिप्राय कवि को जहाँ,

सो प्रधान तिन माहिं।" इस विचार से छंद में उपमा का प्राधान्य है।

सखी के मुख से मृगलोचनि एवं बड़े-बड़े नैन कहे गए, जिससे सखी-मुख-गर्व प्रकट है। वाचक प्राधान्य से यहाँ प्राचीन मत से उत्तम काव्य है।

कुल मिलाकर छंद बहुत अच्छा है। इसमें दोष बहुत कम और सद्गुण अनेक हैं।

[मिश्र-बंधु-विनोद]

२—पाठांतर पर विचार

मिश्र-बंधु-विनोद से लेकर जिस छंद की व्याख्या परिशिष्ट नं० १ में दी गई है, उस छंद के अंतिम पद में जो शब्दावली है, वह इस प्रकार है—

"बड़े-बड़े नैनन सों आँसू भरि-भरि ढरि,
गोरो-गोरो मुख आजु ओरो-सो बिलानो जात।"

पाठांतर रूप में यह पद इस प्रकार भी मिलता है—

"बड़े-बड़े नैनानि सों आँसू भरि-भरि ढरि,
गोरे मुख परि आजु ओरे लौं बिलाने जात।"

एक समालोचक का आग्रह है कि दूसरा पाठ ही समीचीन है और पहला त्याज्य। पहले में ओले की उपमा मुख से तथा दूसरे में आँसुओं से दी गई है। आँसू कपोलों पर गिर रहे हैं। कपोल विरह-ताप के कारण उत्तप्त हैं; सो उन पर आँसू पड़ते और सूख जाते हैं। यह सब ठीक, पर द्रव आँसुओं और दृढ़ ओलों का साम्य ठीक नहीं बैठता। रंग का साम्य भी विचारणीय है। फिर नायिका का दुःख क्षण-क्षण पर उत्तरोत्तर बढ़ रहा है, यह भाव आँसू और ओले की उपमा से प्रकट ही नहीं होता। यदि अश्रु-प्रवाह ज्यों-का-त्यों जारी है, तो इससे अधिक-से-अधिक यही सूचित

होता है कि नायिका का दुःख भी वैसा ही बना हुआ है—न उसमें कमी हुई है, न वृद्धि। उधर मुख और ओले की उपमा से दुःख-वृद्धि का भाव बहुत अधिक दृढ़ हो जाता है। जैसे गलने के कारण और धूलि-धूसरित होने से ओला प्रतिक्षण पहले की अपेक्षा छोटा और मलिन दिखलाई पड़ता है, वैसे ही नायिका का मुख भी वर्धमान दुःख के कारण एवं अश्रुओं के साथ कज्जल आदि के बह आने से अधिक विवर्ण और म्लान होता जाता है। छंद में यही भाव दिखलाया गया है। ओले और मुख की उपमा एकदेशीय है। शब्द-रसायन में एकदेशीयोपमा के उदाहरण में ही यह छंद दिया गया है। इसलिये यह प्रश्न उठता ही नहीं कि ओला पूरा गल जायगा, पर नायिका का मुख न गलेगा। 'आँसू भरि-भरि ढरि' इस अधूरे वाक्य को लिखकर कवि ने अपनी वर्णन-कला-चातुरी का अच्छा परिचय दिया है। दुःखाधिक्य दिखलाने का यह अच्छा ढंग है। ओले की उपमा या तो उसके उज्ज्वल वर्ण को लेकर दी जाती है, या उसके जल्दी-जल्दी गलनेवाले गुण का आश्रय लेकर। सरस्वतीजी को जब हम तुषार-हार-धवला कहते हैं, तो हमारा लक्ष्य तुषार की उज्ज्वलता पर ही रहता है। अंगों के क्षीण होने के वर्णन में ओले की उपमा का आश्रय प्राचीन कवियों* ने भी लिया है। ऐसी दशा में ओले और मुख की

---

*१. कौशिक गरत तुषार-ज्यों तकि तेज तिया को।—तुलसी

२. रथ पहिंचानि, बिकल लखि घोरे ; गरहिं गात जिमि आतप ओरे।—तुलसी

३. अब सुनि सूरस्याम के हरि बिनु गरत गात जिमि ओरे।—सूर

४. आगि-सी झँवाति है जू, ओरो-सी बिलाति है जू।—आलम

५. ओरती-से नैना आँसु ओरो-सो ओरातु है।—आलम

६. या कुन्देन्दुतुषारहारधवला इत्यादि—

उपमा में हमें किसी प्रकार का अनौचित्य नहीं दिखलाई पड़ता, वरन् हम तो इसे आँसू और ओले की उपमा की अपेक्षा अच्छा ही पाते हैं। जो हो, ऊपर दिए दोनों पाठों में से हमें पहला पसंद है और हम उसी को शुद्ध मानते हैं। हमारे इस कथन का समर्थन निम्न-लिखित कारणों से और भी हो जाता है—

(१) देवजी के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध मुद्रित अथवा अमुद्रित ग्रंथों में भी पहला ही पाठ पाया जाता है, जैसे रस-विलास, भवानी-विलास, सुजान-विनोद, सुखसागर-तरंग तथा शब्द-रसायन आदि। हमारे पास शब्द-रसायन की जो हस्त-लिखित प्रति है, वह संभवतः देवजी के मरने के ५० वर्ष बाद लिखी गई है। दूसरा पाठ देवजी के किसी ग्रंथ में नहीं है, उसका अस्तित्व कविता-संबंधी संग्रह-ग्रंथों में ही बतलाया जाता है। देवजी के मूल ग्रंथों के सामने संग्रह-ग्रंथों का मूल्य कुछ भी नहीं है।

(२) देवजी ने इस छंद को एकदेशीयोपमा के उदाहरण में रक्खा है। इस उपमा का चमत्कार ओले और मुख के साथ ही अधिक है। एकदेशीयता की रक्षा यहीं अधिक होती है।

(३) अन्य कई विद्वानों ने भी पहले ही पाठ को ठीक ठहराया है।

२—महाकवि देव *

महाकवि देव का जन्म सं० १७३० विक्रमीय में संभवतः इटावा नगर में हुआ था। कुछ विद्वान् इनका जन्मस्थान मैनपुरी बतलाते हैं। कुछ समय तक मैनपुरी और इटावा-ज़िले एक में सम्मिलित रहे हैं। संभव है, जब देवजी का जन्म हुआ हो, उस समय भी ये दोनों ज़िले एक में हों। ऐसी दशा में मैनपुरी ज़िले को देव का जन्मस्थान बतलानेवाले भी भ्रांत नहीं कहे जा सकते। देवजी देवशर्मा (द्यौसारिहा=दुसरिहा) थे। यह बात विदित नहीं कि

* यह लेख कानपुर के हिंदी-साहित्य-सम्मेलन में पढ़ा गया था।

इनके पिता का नाम क्या था तथा वह जीविका-उपार्जन के लिये किस व्यवसाय के आश्रित थे। देवजी का पूरा नाम देवदत्त प्रसिद्ध है। बाल्यावस्था में देवजी की शिक्षा का क्या क्रम रहा, उनके विद्यागुरु कौन-से महानुभाव थे, ये सब बातें नहीं मालूम, पर यह बात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है कि यह बड़े ही कुशाग्रबुद्धि एवं प्रतिभावान् बालक थे। इनके बुद्धि-चमत्कार की प्रशंसा दूर-दूर तक फैल गई थी और इतनी थोड़ी उम्र में ही देवजी में इस दैवी विभूति का दर्शन करके लोग कहने लगे थे कि इनको सरस्वती सिद्ध है।

जिस समय देवजी के प्रतिभा-प्रभाकर की किरणें चारों ओर प्रकाश फैला रहा थीं, उस समय दिल्ली के सिंहासन पर विश्व-विख्यात औरंगज़ेब विराजमान था। इसके तीसरे पुत्र आज़मशाह की अवस्था इस समय प्रायः ३६ वर्ष की थी। आज़मशाह बड़ा ही गुणज्ञ, शूर और विद्या-व्यसनी था। वह गुणियों का समुचित आदर करता था। जिस समय की बात कही जा रही है, उस समय औरंगज़ेब की उस पर विशेष कृपा थी। उसका बड़ा भाई मोअज़्ज़मशाह एक प्रकार से नज़रबंद था। धीरे-धीरे आज़मशाह ने भी बाल-कवि देव की प्रतिभा का वृत्तांत सुना। उन्होंने देव को देखने की इच्छा प्रकट की। शीघ्र ही देवजी का और उनका साक्षात्कार हुआ और षोड़श वर्ष में पैर रखनेवाले बाल-कवि देव ने उन्हें अपना रचित 'भाव-विलास' एवं 'अष्टयाम' पढ़कर सुनाया। आज़मशाह इन ग्रंथों को सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने देवजी की कविता की परम सराहना की। यह बात सं० १७४६ की है। देव और आज़मशाह का साक्षात्कार दिल्ली में हुआ या दक्षिण में, यह बात ठीक तौर से नहीं कही जा सकती। आज़मशाह उस समय अपने पिता के साथ शाही लश्कर में था और दक्षिण देश में युद्ध-संचालन के काम में अपने पिता का सहायक था, इसलिये

अधिक संभावना यही समझ पड़ती है कि साक्षात्कार दक्षिण देश में ही कहीं पर हुआ होगा। इसी समय छत्रपति शिवाजी के पुत्र शंभाजी का वध हुआ था। कदाचित् आज़मशाह-जैसा आश्रयदाता पाकर देवजी को फिर दूसरे आश्रयदाता की आवश्यकता न पड़ती, परंतु विधि-गति बड़ी विचित्र होती है। संवत् १७४१ के लगभग औरंगज़ेब की सुदृष्टि मोअज़्ज़मशाह की ओर फिरी और आज़मशाह का प्रभाव कम होने लगा। अब से वह दिल्ली से दूर गुजरात-प्रांत के शासक नियत हुए। संवत् १७६४ में औरंगज़ेब की मृत्यु हुई और उसी साल आज़मशाह और मोअज़्ज़मशाह में दिल्ली के सिंहासन के लिये घोर युद्ध हुआ। इस युद्ध में आज़मशाह मारे गए। इसके बाद दिल्ली के सिंहासन पर वह पुरुष आसीन हुआ, जो आज़मशाह का प्रकट शत्रु था। ऐसी दशा में देवजी का संबंध दिल्ली-दरबार से अवश्य ही छूट गया होगा।

आज़मशाह के अतिरिक्त भवानीदत्त वैश्य, कुशलसिंह, राजा उद्योतसिंह, राजा भोगीलाल एवं अकबरअलीख़ाँ द्वारा देवजी का समादृत होना इस बात से सिद्ध होता है कि उन्होंने इन सज्जनों के लिये एक-एक ग्रंथ निर्माण किया है। खेद है, देवजी ने इन लोगों का भी विस्तृत वर्णन नहीं दिया। सुना जाता है, इन्होंने भरतपुर-नरेश की प्रशंसा में भी कुछ छंद बनाए हैं।

वह कृष्णचंद्र के अनन्य उपासक थे। उनके ग्रंथों के देखने से जान पड़ता है कि वह वेदांत और आत्मतत्त्व से भी अवगत थे। देवजी ने उत्तम भाषा में प्रेम का संदेशा दिया है। हिंदी-कवियों में उन्होंने ही सबसे पहले यह मत दृढ़तापूर्वक प्रकट किया कि शृंगार-रस सब रसों में श्रेष्ठ है। उनकी कविता शृंगार-रस-प्रधान है। वह संगीतवेत्ता भी अच्छे थे। उनके विषय में जो

किंवदंतियाँ प्रचलित हैं, उनके आधार पर यह कहा जाता है कि वह स्वरूप के बड़े ही सुंदर तथा मिष्टभाषी थे, पर उनको अपने मानापमान का विशेष ध्यान रहता था। कहते हैं, ये जो जामा पहनते थे, वह बड़ा ही विशाल और घेरदार रहता था और राज-दरबारों में जाते समय कई सेवक उसको भूमि में घिसलने से बचाने के लिये उठाए रहते थे। प्रसिद्ध है कि उनको सरस्वती सिद्ध थी—उनके मुख से जो बात निकल जाती थी, वह प्रायः वैसी ही हो जाती थी। कहते हैं, एक बार वे भरतपुर-नरेश से मिलने गए। उस समय क़िले का निर्माण हो रहा था। महाराज ने इनसे कहा—कविजी कुछ कहिए। इन्होंने कहा—महाराज, इस समय सरस्वती कुछ कहने की आज्ञा नहीं देती। महाराज ने आग्रह न किया। इसके कुछ समय बाद इन्होंने महाराज को कुछ छंद पढ़कर सुनाए। इनमें से एक इस आशय का भी था कि डीग के क़िले में मनुष्यों की खोपड़ियाँ लुढ़कती फिरेंगी। इस स्पष्ट कथन के कारण देवजी को तादृश अर्थ-लाभ नहीं हुआ, पर कहा जाता है कि बाद को यह भविष्यद्वाणी बिलकुल ठीक उतरी।

देवजी ५२ अथवा ७२ ग्रंथों के रचयिता कहे जाते हैं। इन्होंने काव्य-शास्त्र के सारे अंगों पर प्रकाश डाला है। इनकी कविता रस-प्रधान है। इन्हें अपनी रचना में अलंकार लाने का प्रयत्न नहीं करना पड़ता, वरन् वे आप-ही-आप आते जाते हैं। इनकी भाषा टकसाली है और इन्होंने उचित नियमों के अनुसार नवीन शब्द भी निर्माण किए हैं। प्राचीन कवि अलंकारों को ही सबसे अधिक महत्त्व देते थे, इनकी कविता में भाव भाषा द्वारा नियंत्रित किया जाता था। लक्ष्य कला की परिपूर्णता थी, भाव का संपूर्ण विकास नहीं। भाव को बँधकर चलना पड़ता था। कला के नियम उसे जिस ओर ले जाते थे, वह उसी ओर जाने को विवश था।

इसके बाद दृष्टिकोण बदल गया। आगे से यह मत स्थिर हुआ कि कला के नियम कवितागत भाव के पथप्रदर्शकमात्र हैं, भाव को बाँध रखने के अधिकारी नहीं। हिंदी-भाषा के कवियों में कवि-कुल-कलश केशवदासजी प्राचीन अलंकार-प्रधान प्रणाली के कवि थे, तथा देवजी उसके बाद की प्रणाली के। इसके अनुसार भाव ही सर्वस्व है। इसे विकसित करने के लिये भाव-सागर में रसावेग की ऐसी उत्तुंग तरंगें उठती हैं कि थोड़ी देर के लिये सब कुछ उसी में अंतर्लीन हो जाता है। जो हो, देवजी रस-प्रधान कवि थे।

देवजी का संदेशा प्रेम का संदेशा है। इस प्रेम में उषाकाल की प्रभा का प्रभाव है। दो आत्माओं का आत्मनिलय होकर एक हो जाना आदर्श है, दूसरे के लिये सर्वस्व त्यागने में आनंद है एवं स्वार्थ का अभाव इसकी विजय है। यह सुंदर, सत्य, सर्वव्यापी एवं कभी न नाश होनेवाला है। इसी की बदौलत देवजी कहते हैं—

"औचक अगाध सिंधु स्याही को उमँगि आयो,
तामैं तीनौं लोक लीन भए एक संग मैं;
कारे-कारे आखर लिखे जु कोरे कागद,
सु न्यारे करि बाँचै कौन, जाँचै चित-भंग मैं।
आँखिन मैं तिमिर अमावस की रैन-जिमि
जंबू-रस-बुंद जमुना-जल-तरंग मैं;
यों ही मेरो मन मेरे काम को रह्यो न माई,
स्याम रंग ह्वै करि समान्यो स्याम रंग मैं।"

जिस समय देवजी ने काव्य-रचना प्रारंभ की, उस समय उर्दू-साहित्य-गगन के उज्ज्वल नक्षत्र, रेखता के पथ-प्रदर्शक और औरंगाबाद-निवासी शायर वली की धूम थी। मराठी-साहित्य-

संसार को उस समय कविवर श्रीधर का अभिमान था एवं प्रेमानंद भट्ट द्वारा गुजराती-साहित्य का शृंगार, अनोखे ढंग से, हो रहा था। हिंदी-भाषा के गौरव-स्वरूप सुखदेव, कालिदास, वृंद, उदयनाथ एवं लाल कवि की पीयूषवर्षिणी वाणी की प्रतिध्वनि चारों ओर गूँज रही थी।

इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि अपने समय में ही देवजी को कवि-मंडली एवं विद्वत्समाज ने भली भाँति सम्मानित किया था। देवजी का रस-विलास सं० १७८४ में बना। सं० १७९२ में दलपतराय वंशीधर ने उदयपुर-नरेश महाराणा जगतसिंह के लिये अलंकार-रत्नाकर-नामक ग्रंथ बनाया। इस ग्रंथ में देवजी के अनेकानेक उत्तम छंदों को सादर स्थान मिला है। कविवर भिखारीदास ने संवत् १८०३ में अपना सुप्रसिद्ध काव्य-निर्णय ग्रंथ रचा। इसमें एक छंद द्वारा उन्होंने कतिपय कवियों की भाषा को आदर्श भाषा मानने की सलाह दी है। इस छंद में भी देवजी का नाम आदर के साथ लिया गया है। प्रवीण कवि के सार-संग्रह ग्रंथ में देवजी के बहुत-से छंद मौजूद हैं। संवत् १८१४में सूदनजी ने सुजान-चरित्र ग्रंथ की रचना की थी। इसमें उन्होंने १७९ कवियों को प्रणाम किया। इस कवि-नामावली में भी देवजी का नाम है। संवत् १८२६ के लगभग सुकवि देवकीनंदनजी ने कविता करनी प्रारंभ की। इनकी कविता में देव की कविता की झलक मौजूद है। बस, इसी बात को लेकर लोग यह कहने लगे कि 'देव मरे, भए देवकीनंदन'। संवत् १८३६ से १८७६ तक के बोधा, बेनीप्रवीण, पद्माकर तथा अन्य कई प्रसिद्ध कवियों की कविता पढ़ने से स्पष्ट प्रकट होता है कि उपर्युक्त कवियों ने भाषा, भाव तथा वर्णन-शैली में देवजी का बहुत कुछ अनुकरण किया है। संवत् १८८७ में रचित

अपने काव्य-विलास ग्रंथ में सुकवि प्रतापसाहि ने सत्काव्य के उदाहरण में देवजी के बहुत-से छंद रक्खे हैं। बाद के सभी संग्रह-ग्रंथों में देव के छंदों का समावेश हुआ है। सरदार ने शृंगार-संग्रह में, भारतेंदुजी ने 'सुंदरी-तिलक' में एवं गोकुलप्रसाद ने 'दिग्विजै-भूषण' में देवजी के छंदों को भली भाँति अपनाया है। नवीन कवि का संग्रह बहुत प्राचीन नहीं, परंतु इसमें भी देवजी के छंदों की छाप लगी हुई है। पाठकगण इस ऐतिहासिक सिंहावलोकन से देखेंगे कि देवजी का सत्कवियों में सदा से आदर रहा है। इधर संवत् १६०० के बाद से तो उनका यश अधिकाधिक विस्तृत होता जाता है। धीरे-धीरे उनकी कविता के अनुरागियों की संख्या बढ़ रही है। भारतेंदुजी ने सुंदरी-सिंदूर ग्रंथ की रचना करके उनकी ख्याति बहुत कुछ बढ़ा दी है। वह देवजी को कवियों का बादशाह कहा करते थे, और सुंदरी-सिंदूर के आवरण-पृष्ठ पर उन्हें 'कवि-शिरोमणि' लिखा भी है। स्वर्गीय चौधरी बदरीनारायणजी इस बात के साक्षी थे। अयोध्याप्रसादजी वाजपेयी, सेवक, गोकुल, द्विज बलदेव तथा ब्रजराजजी की राय भी वही थी, जो भारतेंदुजी की थी। एक बार सुकवि सेवक के एक छंद में 'काम की बेटी' ये शब्द आ गए थे, जिन पर उस समय की कवि-मंडली ने आपत्ति की। उसी बीच में हमारे पितृव्य स्वर्गवासी ब्रजराजजी की सेवक से भेंट हुई। सेवकजी ने अपने बूढ़े मुँह से हमारे चचा को वह छंद सुनाया और कहा कि देखो भइया, लोग हमारे इन शब्दों पर आपत्ति करते हैं। इस पर हमारे पितृव्य ने कहा कि यह आक्षेप व्यर्थ है। देवजी ने भी "काम की कुमारी-सी परम सुकुमारी यह" इत्यादि कहा है। सेवकजी यह सुनकर गद्गद हो गए। उन्होंने कहा कि यदि देव ने ऐसा वर्णन किया है, तो मैं अब किसी प्रकार के आक्षेपों की परवा न करूँगा,

क्योंकि मैं 'देव को कवियों का शिरमौर' मानता हूँ। संवत् १६०० के पश्चात् महाराजा मानसिंह ने 'द्विजदेव' के नाम से कविता करने में अपना गौरव समझा। इस उपनाम से इस बात की सूचना मिलती है कि उस समय देव-नाम का खूब आदर था। संवत् १६३४ में शिवसिंह सेंगर ने शिवसिंह-सरोज ग्रंथ प्रकाशित किया। उसमें उन्होंने देवजी को इन शब्दों में स्मरण किया है—"यह महाराज अद्वितीय अपने समय के भाम मम्मट के समान भाषा-काव्य के आचार्य हो गए हैं। शब्दों में ऐसी समाई कहाँ है, जिनमें इनकी प्रशंसा की जाय।" संवत् १६५०-५१ में सबसे पहले बाबू रामकृष्ण वर्मा ने अपने भारतजीवन-यंत्रालय से देवजी के भाव-विलास, अष्टयाम और भवानी-विलास ग्रंथ प्रकाशित किए। संवत् १६५४ में कविराज मुरारिदान का 'जसवंत-जसोभूषण' प्रकाशित हुआ। इसमें भी देवजी के उत्तमोत्तम छंदों के दर्शन होते हैं। संवत १६५६ और ५८ में क्रम से 'सुख-सागर-तरंग' और 'रस-विलास' भी मुद्रित हो गए। इसके पश्चात् पूज्यपाद मिश्रबंधुओं ने 'हिंदी-नवरत्न' में देवजी पर प्रायः ४५ पृष्ठ का एक निबंध लिखा। इसमें लेखकों ने तुलसी और सूर के बाद देवजी को स्थान दिया है। संवत् १६७० में काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने 'देव-ग्रंथावली' के नाम से देवजी के सुजान-विनोद, राग-रत्नाकर एवं प्रेमचंद्रिका नामक तीन ग्रंथ और भी प्रकाशित कराए। हमारा विचार है, तब से देवजी की कविता के प्रति लोगों की श्रद्धा बहुत अधिक हो गई है। यहाँ पर यह कह देना भी अनुचित न होगा कि विगत दो-एक साल के भीतर एकआध विद्वान् ने देव की कविता की समालोचना करते हुए यहाँ तक लिखा है कि देव-जैसे तुकड़ सरस्वती-कुपुत्र को महाकवि कहना कविता का अपमान करना है। विदेशी विद्वानों में डॉक्टर ग्रियर्सन

ने संवत् १६४७ में अपना Modern Vernacular Literature of Hindustan-नामक ग्रंथ प्रकाशित कराया था। इस ग्रंथ में इन्होंने देवजी के विषय में लिखा है कि "according to native opinion he was the greatest poet of his time and indeed one of the great poets of India" अर्थात् देवजी के देशवासी उन्हें अपने समय का अद्वितीय कवि मानते हैं और वास्तव में भारतवर्ष के बड़े कवियों में उनकी भी गणना होनी चाहिए। संवत् १६७४ में जयपुर से देवजी का वैराग्य-शतक भी प्रकाशित हो गया। खेद का विषय है कि देवजी का काव्य-रसायन ग्रंथ अब तक नहीं प्रकाशित हुआ। शिवसिंहजी का कहना है कि उनके समय में हिंदी-कविता पढ़नेवाले विद्यार्थी इस ग्रंथ को पाठ्य पुस्तक की भाँति पढ़ते थे। संवत् १६४४ में बाँकीपुर के खड्गविलास-प्रेस से शृंगार-विलासिनी नामक एक पुस्तक प्रकाशित हुई। पुस्तक संस्कृत में है और विषय नायिका-भेद है। इसको पं० अंबिकादत्त व्यासजी ने संशोधित किया है। इसके आवरण-पृष्ठ पर "इष्टिकापुर-निवासी श्रीदेवदत्त कवि-विरचिता" इत्यादि लिखा है तथा अंत में यह पद्य है—

देवदत्तकविरिष्टिकापुरवासी स चकार ;
ग्रंथमिमं वंशीधरद्विजकुलधुरं बभार।

इस पुस्तक को हमने काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में देखा था। उक्त पुस्तकालय के पुस्तकाध्यक्ष पं० केदारनाथजी पाठक कहते थे कि इस पुस्तक की एक हस्त-लिखित प्रति छत्रपुर के मुंशी जगन्नाथप्रसादजी के पास है। उसमें कविवंश-संबंधी और कई बातें दी हुई हैं, जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पुस्तक महाकवि देवजी की बनाई है। इटावे को ही संस्कृत में इष्टिकापुर कहा गया है। यदि यही बात हो, तो मानना पड़ेगा कि देवजी को संस्कृत का अच्छा अभ्यास था।

महाकवि शेक्सपियर की कविता को लेकर प्रसिद्ध विद्वान् एबट ने प्राय. ५०० पृष्ठों की एक शेक्सपीरियन ग्रामर की रचना की है। इसकी भूमिका में लेखक ने लिखा है कि शेक्सपियर की भाषा में व्याकरण की प्रत्येक प्रकार की स्पष्ट भूलें पाई जाती हैं * तथा संज्ञा, क्रिया, सर्वनाम और विशेषण आदि का प्रयोग शेक्सपियर ने मनमाने ढंग से किया है। महामति रैले ने भी शेक्सपियर पर एक दो सौ पृष्ठ का ग्रंथ लिखा है। उनकी भी राय है कि शेक्सपियर ने मनमाने शब्द गढ़े हैं तथा उनका अर्थ भी अत्यंत विचित्र लगाया है। रैले महोदय का कहना है कि जैसे बालक अपनी विचित्र भाषा बनाया करते हैं, वही बात शेक्सपियर ने भी की है। यही नहीं, शेक्सपियर के उष्ण मस्तिष्क से जो भाषा निकली है, वह व्याकरण के नियमों की भी पाबंद नहीं है। एक स्थान पर इन्हीं समालोचक महोदय ने कहा है कि शेक्सपियर के अनेक पद्य ऐसे हैं, जिनका व्याकरण की दृष्टि से विश्लेषण किया जाय, तो कोई अर्थ ही न निकले। उनकी राय है कि ऐसे पद्यों को जल्दी-जल्दी पढ़ते जाने में ही आनंद आता है। फिर भी इन दोनों समालोचकों ने पाठकों को यह सलाह दी है कि शेक्सपियर के समय में प्रचलित भाषा एवं महावरों का अभ्यास करके ही शेक्सपियर की कविता का अध्ययन करें। जो हो, एबट और रैले के मत से परिचित होने के बाद पाठकगण इस बात का अंदाज़ा कर सकते हैं कि महाकवि-शेक्सपियर की भाषा कैसी होगी? पर भाषा-संबंधी उच्छृंखलता ने शेक्सपियर के महत्त्व को नहीं कम किया। अँगरेज़ लोग उन्हें संसार का सर्व-श्रेष्ठ कवि मानते हैं। कार्लाइल की राय में शेक्सपियर के सामने भारतीय साम्राज्य भी

* Every variety of apparent grammatical mistake meets us.

Abott

तुच्छ है। निष्कर्ष यह निकलता है कि थोड़े-से भाषा-संबंधी अनौचित्य के कारण शेक्सपियर के यश को बहुत कम धक्का लगा है।

महाकवि देवजी पर भी शब्दों को गढ़ने, उनके मनमाने अर्थ लगाने तथा व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग प्रचलित करने का दोष लगाया गया है। यदि ये सब दोष ठीक ठहरते, तो भी हमारी राय में देवजी के यशःशरीर को किसी प्रकार की क्षति न पहुँचती। परंतु हर्ष के साथ लिखना पड़ता है कि उन पर लगाए गए आक्षेप वास्तव में ठीक नहीं हैं। ऐसे संपूर्ण आक्षेपों पर हमने अन्यत्र विचार किया है। यहाँ दो-चार उदाहरण ही अलम् होंगे—

(१) देवजी ने 'गुझाई' और 'गूझत' शब्दों का प्रयोग किया है। इस पर आक्षेप यह है कि ये शब्द गढ़े गए हैं। यदि यह आक्षेप ठीक माना जाय, तो प्रश्न यह उठता है कि क्या नए शब्द निर्माण करने का स्वत्व लेखक और कवि को नहीं है। यदि है, तो विचारिए कि 'गुझाई' और 'गूझना' का निर्माण उचित रीति से हुआ है या नहीं। युध् और बुध् धातु एक ही गण की हैं। युध् से युद्ध रूप बनता है। युद्ध का प्राकृत रूप 'जुज्झ' है एवं क्रिया रूप में 'जूझना' प्रचलित है। इसी प्रकार बुध् से बुद्धि या बुद्ध और फिर प्राकृत में 'बूझ' बनता है और वही 'बूझना' रूप से क्रिया का काम करता है। परिवेष्टन के अर्थ में 'गुध्' धातु भी इसी गण में है। इस गुध् से गुद्ध, गुज्झ और फिर 'गूझना' रूप नितांत स्वाभाविक रीति से निर्मित हो जाते हैं, किसी प्रकार की खींचातानी की नौबत नहीं आती। 'गूझना' का प्रयोग और कवियों ने भी किया है।

(२) देवजी ने टेसू के लिये 'किंसु' और नवीन के लिये 'नूत' शब्द का प्रयोग किया है। इस पर आक्षेप यह है कि देवजी को 'किंसुक' का 'क' उड़ाकर 'किंसु' रूप रखने का कोई अधिकार

न था और इसी प्रकार 'नूतन' के 'न' को हटाकर 'नूत' रखना भी अनुचित हुआ है। प्राकृत में 'किंशुक' को 'किंसुअ' कहते हैं। हिंदी में शब्दांत में स्वर प्रायः व्यंजन के साथ रहता है, अलग नहीं। सो यदि 'किंसुअ' के 'अ' को हिंदी ने अस्वीकार किया और 'किंसु' रूप मान लिया, तो आश्चर्य की कोई बात नहीं हुई। इसी 'किंसु' से 'केसू' रूप भी बना है और व्रजभाषा-कविता में प्रचलित है। संस्कृत में 'नूतन' और 'नूत्न' ये दो शब्द हैं। हिंदी में ये दोनों शब्द क्रम से नूतन और नूत रूप में व्यवहृत होते हैं। "अरुन, नूत पल्लव धरे रंग-भीजी ग्वालिनी" और "दूत बिधि नूत कबहूँ न उर आनहीं", इन दो पद्यांशों में क्रम से सूरदास और केशवदास ने 'नूत' शब्द का प्रयोग किया है। छंद में खपाने के लिये यदि किसी शब्द का कोई अक्षर कवि छोड़ दे, तो छंदःशास्त्र के नियमों के अनुसार उसका यह काम क्षम्य है। यदि देवजी पर भी ऐसा कोई अभियोग प्रमाणित हो जाय, तो उनको भी कदाचित् क्षमा प्राप्त करने में देर न लगे। सूरदासजी ने 'खंजन' के लिये खंज (आलिंगन दै, अधर-पान कै खंजन खंज लरे) और विद्युत् के लिये विद्यु का व्यवहार किया है। कविवर विहारीलाल ने एक अक्षर की कौन कहे, दो अक्षर छोड़कर 'घनसार' के लिये केवल 'घन' शब्द का प्रयोग किया है (भजत भार भयभीत ह्वै, घन चंदन बनमाल)।

(३) देवजी ने 'वंशी' को 'बाँसी' लिखा है। इस पर आक्षेप है कि उन्होंने शब्द को बेतरह बिगाड़ दिया है। 'वंशी' शब्द 'वंश' से बना है। 'वंश' को हिंदी में 'बाँस' कहते हैं। 'बाँस' से 'बाँसी' का बनना बहुत-से लोगों को कदाचित् नितांत स्वाभाविक जँचे। सूरदास को 'बाँसी' में कोई विचित्रता न समझ पड़ी होगी, इसीलिये उन्होंने लिखा है—

आए ऊधौ, फिरि गए आँगन, डारि गए गर फाँसी ;
केसरि को तिलक, मोतिन की माला, बृंदाबन की बाँसी।

(४) देवजी के एक छंद में चारों तुकों में क्रम से घहरिया, छह-रिया, थहरिया और लहरिया शब्दों का प्रयोग हुआ है। इस पर आक्षेप यह है कि देवजी ने लहरिया के तुकांत के लिये घहरिया, छहरिया और थहरिया बना डाले हैं। इस संबंध में हमें इतना ही कहना है कि यदि देवजी ने ऐसा किया है, तो उसका उत्तरदायित्व उन पर न होकर उनके पूर्ववर्ती कवियों पर है। सूर और तुलसी ने जो मार्ग प्रशस्त कर दिया था, देवजी ने उसका अनुगमनमात्र किया है। सूरदास ने 'नागरिया' के तुकांत के लिये धरिया, भरिया, जरिया, करिया और दुलरिया शब्दों का प्रयोग किया है (नवल किशोर, नवल नागरिया—सूरसागर) तथा तुलसीदास ने मा-रिया, भरिया, करिया आदि शब्द लिखे हैं।

(५) देवजी की कविता में व्याकरण के अनौचित्य भी बहुत-से स्थापित किए गए हैं। निम्न-लिखित छंद के संबंध में समालोचक का मत है कि उसमें पूर्ण रीति से व्याकरण की अवहेलना की गई है—

माधुरी-भौरानि, फूलनि-भौरनि, बौरनि-बौर न बेलि बची है ;
केसरि, किसु, कुसुंभ, कुरौ, किरवार, कनरानि-रंग रची है।
फूले अनारानि, चंपक-डारनि, लै कचनारानि नेह-तची है ;
कोकिल-रागानि, नूत परागानि, देखु री बागनि फागु मची है।

यद्यपि आक्षेप इस बात का है कि व्याकरण की अवहेलना की गई है, पर हमें तो यह छंद बिलकुल शुद्ध दिखलाई देता है। इसी फाग की ब॰ ॰ बत भौरों की बौरनि (बौर निकलने की क्रिया) से कोई भी बेलि नहीं बची है—सभी में बौर आ गया है। इसी फाग की शोभा किरवार और कनैर से हो रही है। यही फाग कचनार के स्नेह में विकल हो रही है। कवि कोकिला की वाणी सुनता और

उसे पराग के दर्शन होते हैं। उसे जान पड़ता है कि प्रत्येक बाग़ में फाग मची हुई है। इसमें व्याकरण का अनौचित्य कहाँ ? 'फागु' का व्यवहार देवजी ने स्त्रीलिंग में किया है और बहुत ठीक किया है। ठाकुर, रघुनाथ, शंभु, शिवनाथ, बेनीप्रवीन एवं पजनेस आदि अनेक कवियों ने भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न स्थानों पर कविता की है। इन सबने तथा हिंदी के अन्य कवियों ने 'फागु' को स्त्री-लिंग में रक्खा है। उदाहरण लीजिए—

(१) फागु रची कि मची बरषा है (२) मचि रही फागु और सब सब ही पै घालैं रंग (३) फाग रची वृषभान के द्वार पै (४) साँझ ही ते खेलत रसिक रस-भरी फागु (५) लीन्हें ग्वाल-बाल स्याम फागु आय जोरी है (६) राची फागु राधा रौन (७) फागु मची बरसाने मैं आजु इत्यादि। स्वयं समा-लोचक ने अपने सूक्ति-सरोवर में पृष्ठ १८६, १८७ और १९१ पर क्रम से 'खूब फाग हो रही है', 'बरसाने में फाग हो रही है', 'फाग हो रही है' आदि वाक्य लिखकर स्वीकार कर लिया है कि 'फागु' का व्यवहार स्त्रीलिंग में ही अधिकतर होता है। तब देव ने भी यदि स्त्रीलिंग में लिखा, तो क्या अपराध किया ?

(६) देवजी पर यह भी आक्षेप है कि उन्होंने मुहावरों की मिट्टी पलीद की है। उसका भी एक उदाहरण लीजिए। चला नहीं जाता है, इसके स्थान पर देवजी ने 'चल्यो न परत' प्रयोग किया है। ऐसा प्रयोग अशुद्ध बतलाया गया है, पर हम 'कहा नहीं जाता', 'सहा नहीं जाता' आदि प्रयोगों के स्थान में 'कह्यो न परै', 'सह्यो न परै' आदि प्रयोग बड़े-बड़े कवियों की कविता में पाते हैं। 'चल्यो न परत' प्रयोग भी वैसा ही है। उदाहरण लीजिए—

जीरन जनम जात, जोर जुर घोर परि,
पूरन प्रकट परिताप क्यों कह्यो परै ;

सहिहौं तपन-ताप पति के प्रताप, रघु-
बीर को बिरह बीर मोसों न सह्यो परै।

खेद है, हम यहाँ देवजी की भाषा पर लगाए गए आक्षेपों पर विशेष विचार करने में असमर्थ हैं, केवल उदाहरण के लिये दो-एक बातें लिख दी हैं। यहाँ पर यह कह देना अनुचित न होगा कि छापे की अशुद्धियों एवं लेखक की असावधानी से देवजी की भाषा में प्रकट में जो कई त्रुटियाँ समझ पड़ती हैं, उनके ज़िम्मेदार देवजी कदापि नहीं हैं।

देवजी की भाषा विशुद्ध व्रजभाषा है। वह बड़ी ही श्रुति-मधुर है। उसमें मीलित वर्ण एवं रेफ-संयुक्त अक्षर कम हैं। टवर्ग का प्रयोग भी उन्होंने कम किया है। प्रांतीय भाषाओं—बुंदेलखंडी, अवधी, राजपूतानी आदि—के शब्दों का व्यवहार भी उन्होंने और कवियों की अपेक्षा न्यून मात्रा में किया है। उनकी भाषा में अशिष्ट प्रयोगों (Slang expressions) का एक प्रकार से अभाव है। कुछ विद्वानों की राय है कि जिस भाषा में लोच हो, जिसमें काव्यांगों एवं अलंकारों को स्वयं आश्रय मिलता जाय, वही उत्तम भाषा है। हमारी राय में देवजी की भाषा में ये दोनों ही गुण मौजूद हैं। बिहारीलाल और देव दोनों की भाषाओं में कुछ लोग देवजी की भाषा को अच्छा मानते हैं। हमारा भी यही मत है। जिन कारणों से हमने यह मत स्थिर किया है, उनमें से कुछ ये हैं—

देव और बिहारी की प्राप्त कविता को देखते हुए देव की रचना कम-से-कम दसगुनी अधिक है। इस बात को ध्यान में रखकर यदि हम दोनों कवियों के भाषा-संबंधी अनौचित्यों पर विचार करें, तो जो औसत निकलेगा, वह हमारे मत का समर्थन करेगा। सतसई में कम-से-कम १६० पंक्तियाँ ऐसी हैं, जिनमें टवर्ग की भरमार है।

हम यह बात यों ही नहीं कह रहे हैं वरन् हमारे पास ये पंक्तियाँ संगृहीत भी हैं। एक उदाहरण लीजिए—

ढराकि ढार ढरि ढिंग भई ढीठ ढिठाई आइ।

इस पंक्ति में १८ अक्षर हैं, जिनमें से आठ टवर्ग के हैं। श्रुति-मधुर भाषा के लिये टवर्ग का अधिक प्रयोग घातक है।

दोहा छंद में अधिक शब्दों की गुंजाइश न होने के कारण विहारीलाल को असमर्थ शब्दों से अधिक काम लेना पड़ा है—

"लोपे कोपे इंद्र लौं, रोपे प्रलय अकाल"

इस पंक्ति में 'लोपे' का अर्थ 'पूजालोपे' का है, परंतु अकेला 'लोपे' इस अर्थ को प्रकट करने में असमर्थ है। •

विहारीलाल की सतसई में बुंदेलखंडी, राजपूतानी एवं अन्य प्रांतीय भाषाओं के शब्द अधिक व्यवहृत हुए हैं। देवजी की कविता में ऐसे शब्दों का औसत कम है। इसी प्रकार तोड़े-मरोड़े, अप्रचलित शब्द भी विहारी ने ही अधिक व्यवहृत किए हैं। अशिष्ट (Slang) एवं ग्राम्य शब्दों का जमघट भी औसत से विहारी की कविता में अधिक है। दोहे से घनाक्षरी अथवा सवैया प्रायः तीनगुना बड़ा है। यदि देवजी के प्राप्त ग्रंथों में प्रत्येक ग्रंथ में औसत से १२५ छंदों का होना माना जाय, तो २५ ग्रंथों में ३१२५ छंद मिलेंगे। इन छंदों में से सवैया और घनाक्षरी छाँट लेने तथा बार-बार आ जानेवाले छंदों को भी निकाल डालने के पश्चात् प्रायः २५०० घनाक्षरी और सवैया रह जाते हैं। सो स्पष्ट ही विहारी से देव की काव्य रचना कम-से-कम दसगुनी अधिक है। अतएव यदि देव की कविता में विहारीलाल की कविता से भाषा-संबंधी अनौचित्य दसगुने अधिक निकलें, तो भी उनकी भाषा विहारी की भाषा से बुरी नहीं ठहर सकती। पर पूर्ण परीक्षा करने पर विहारी की कविता में ही भाषा-संबंधी अनौचित्यों का औसत अधिक

आता है। ऐसी दशा में हम विहारी की भाषा की अपेक्षा देव की भाषा को अच्छा मानने को विवश हैं।

देवजी की अच्छी भाषा का एक नमूना लीजिए—

धार मैं धाय धँसी निरधार ह्वै, जाय फँसी, उकसीँ न अधेरी ;
री अँगराय गिरीँ गहिरी, गहि फेरे फिरीँ न घिरीँ नहिँ घेरी।
"देव" कछू अपनो बसु ना, रस-लालच लाल चितै भईं चेरी ;
बेगि ही बूड़ि गईं पँखियाँ, अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी।

भाषा का एक यह भी बड़ा भारी गुण है कि वह प्रचलित मुहावरों एवं लोकोक्तियों को स्वाभाविक रीति से दृढ़ करती रहे। देवजी ने अपनी रचनाओं में इस बात का भी विचार रक्खा है—

को न भयो दिन चारि नयो नवजोबन-जोतिहिँ जात समाते ;
पै अब मेरी हितू, हमैं बूझै को, होत पुरानेन सों हित हाते,
देखिए "देव" नए नित भाग, सुहाग नए ते भए मद-माते ;
नाह नए औ नई दुलही, भए नेह नए औ नए-नए नाते।

सुंदर भाषा का एक नमूना और लीजिए—

हौं भई दूलह, वै दुलही, उलही सुख-बेलि-सी केलि घनेरी ;
मैं पहिरो पिय को पियरो, पहिरी उन री चुनरी चुनि मेरी ;
"देव" कहा कहौं, कौन सुनै री, कहा कहे होत, कथा बहुतेरी ;
जे हरि मेरी धरैं पग-जेहरि ते हरि चेरी के रंग रचे री।

उपर्युक्त छंद में एक भी मीलित वर्ण नहीं है। टवर्ग का कोई अक्षर कहीं ढूँढने से भी नहीं मिलता। कोई तोड़ा-मरोड़ा शब्द नहीं है। केवल दो-दो और तीन-तीन अक्षरों से बने शब्द सानुप्रास प्रशस्त मार्ग पर, स्वाभाविक रीति से, जीते-जागते चलते-फिरते दिखलाई देते हैं।

प्रसंग इस बात की अपेक्षा करता है कि यहाँ पर देवजी की दो-चार उत्तम उक्तियों से भी पाठकों का परिचय करा दिया

जाय। पाठकों के सम्मुख देवजी की कौन-सी उक्ति रक्खें और कौन-सी न रक्खें, इसके चुनने में हमें बड़ी कठिनता है। देवजी के प्रत्येक छंद-सागर में हमें रमणीयता की मृदुल अथच अटूट तरंगें प्रवाहित होती हुई दृष्टिगत होती हैं; फिर भी यहाँ पर चार छंद दिए जाते हैं। इन पर यहाँ विस्तार के साथ विचार करना असंभव है, इसलिये हम उनको केवल उद्धृत कर देना ही अलम् समझते हैं।

देवजी के वात्सल्य प्रेम का एक सजीव उदाहरण लीजिए—

(१) "छलके छबीले मुख अलकै चुपरि लेउ,
बल के पकरि हिय-अंक मैं उकसि लै;
माखन-मलाई को कलेऊ न करयो है आज;
और जॉन कौर, लाल, एक ही बिहँसि लै।
बलि गई, बलि; चलि भैया की पकरि बाँह;
मया के घरीकु रे कन्हैया, उर बसि लै;
मुरली बजाई मेरे हाथ लै लकुट; माथे
मुकुट सुधारि, कटि पीत-पट कसि लै।"

उपर्युक्त छंद में माता यशोदा अपने सर्वस्व कृष्ण के प्रति किस स्वाभाविक ढंग से प्रार्थना करती हैं, इस बात को मनुष्य-हृदय के सच्चे पारखी कवि के अतिरिक्त और कौन कह सकता है। कपट-शून्य एवं पवित्र पुत्र-प्रेम के ऐसे चित्र साधारण कवियों की कृति नहीं हो सकते।

(२) देवजी के किसी-किसी छंद में संपूर्ण घटना का चित्र खींचा गया है। मधुवन में सखियाँ राधिकाजी को राजपौरिया का परिच्छद पहनाती हैं। इस रूप में वृषभाननंदिनी उस स्थान पर आती हैं, जहाँ कृष्णचंद्र गोपियों को दधि-दान देने पर विवश कर रहे हैं। यह नक़ली राजपौरिया भौंहें तानकर डाटता हुआ कृष्ण से कहता है—चलिए, आपको महाराज कंस बुलाते हैं, यह

दान आप किसकी आज्ञा से वसूल कर रहे हैं ? राजकर्मचारी को देखकर कृष्ण के और साथी डर से इधर-उधर तितर-बितर हो जाते हैं। राजपौरिया कृष्ण का हाथ पकड़कर उन्हें अपने वश में कर लेता है। इसके बाद निगाह के मिलते-न-मिलते छबीली का सारा छल दूर हो जाता है; लज्जामयी मुस्कुराहट के साथ-साथ भौंहें ढीली पड़ जाती हैं। कितना स्वाभाविक चित्र है !

राजपौरिया को रूप राधे को बनाय लाई,
गोपी मथुरा ते मधुबन की लतानि मैं;
टेरि कह्यो कान्ह सों—चलो हो, कंस चाहे तुम्हें,
काके कहे लूटत सुने हो दधि-दान मैं।
संग के न जाने, गए, डगरि डराने 'देव'',
स्याम ससवाने-से पकरि करे पानि मैं;
छूटि गयो छल सो छबीली की बिलोकनि मैं;
ढीली भई भौंहैं वा लजीली मुसकानि मैं।

(३) एक और ऐसा ही चित्र लीजिए। व्याख्या की आवश्यकता नहीं समझ पड़ती—

लोग-लोगाइनि होरी लगाई, मिलामिली-चारु न मेटत ही बन्यो ;
"देवजू" चंदन-चूर-कपूर लिलारन लै-लै लपेटत ही बन्यो।
ए इहि औसर आए इहाँ, समुहाय हियो न समेटत ही बन्यो ;
कीनी अनाकनियो मुख मोरि, पै जोरि भुजा भटू भेंटत ही बन्यो।

(४) एक स्थान पर देवजी ने आँखों के अंतर्गत पुतली को कसौटी का पत्थर मानकर किसी के स्वर्ण-तुल्य गौरांग शरीर की उस पर परीक्षा करवाई है। कसौटी पर जैसे सोने को घिसते हैं, उसी प्रकार मानो पुतली में भी गोराई का कर्षण हुआ है और उसकी एक रेखा परीक्षा होने के बाद भी पुतली-कसौटी पर लगी रह गई है—

ओझिल ह्वै आई, झुकि उझकी झरोखा, रूप-
झरसी झलकि गई झलकनि झाँई की;
पैने, अनियारे कै सहज कजरारे चख,
चोट-सी चलाई चितवनि-चंचलाई की।
कौन जाने कोही उड़ि लागी डीठि मोही, उर
रहे अवरोही "देव" निधि ह्वी निकाई की;
अब लगि आँखिन की पूतरी-कसौटिन मैं,
लागी रहे लीक वाकी सोने-सी गोराई की।

देवजी की कविता में जिन विषयों का वर्णन है, ठीक उन्हीं विषयों का वर्णन देवजी के कई पूर्ववर्ती कवियों ने भी किया है। इस कारण पूर्ववर्ती और परवर्ती कवियों की कविता में सदृश-भाववाले पद्य प्रचुर परिमाण में पाए जाते हैं। ऐसा होना नितांत स्वाभाविक भी है। संसार का ऐसा कोई भी कवि नहीं है, जो अपने पूर्ववर्ती कवियों के भावों से लाभान्वित न हुआ हो। शेक्सपियर के हेनरी छठे-नामक नाटक में लगभग ६,००० पंक्तियाँ हैं। इनमें से प्रायः एक-तिहाई तो मौलिक हैं; शेष दो-तिहाई पूर्ववर्ती कवियों की कृति से अपनाई गई हैं। हमारे कालिदास और तुलसीदास की भी यही दशा है। व्रजभाषा-कविता के सर्वस्व सुकवि विहारीलाल की सतसई का भी यही हाल है। एक अँगरेज़ समालोचक ने क्या ही ठीक कहा है कि यदि कोई कवि केवल इस इरादे से कविता लिखने बैठे कि मैं सर्वथा मौलिक* भावों की ही रचना करूँगा, तो अंत में उसकी रचना में कविता की अपेक्षा विचित्रता के ही दर्शन अधिक होंगे। बड़े-बड़े कवि जब कभी अपने पूर्ववर्ती कवियों के भाव लेते हैं, तो उनमें

* If a poet resolves to be original, it will end commonly in his being merely peculiar (James Russel Lowell on Wordsworth.)

नूतनता पैदा कर देते हैं ; पहले की अपेक्षा भाव की रमणीयता बिगड़ने नहीं पाती और कहीं-कहीं तो बढ़ भी जाती है। इस प्रकार के भावापहरण को संस्कृत एवं अँगरेज़ी के विद्वान् समालोचकों ने बुरा नहीं माना है, वरन् उसकी सराहना की है। साहित्य-संसार में कुछ भाव ऐसे प्रचलित हो गए हैं, जिनका प्रयोग सभी सुकवि सर्वदा समान भाव से किया करते हैं। ऐसे भावों को साहित्यिक सिक्के समझिए। इनका प्रचार इतना बे रोक-टोक है कि इनको बार-बार परवर्ती कवियों के पास देखकर भी उन पर किसी प्रकार का अनुचित अभियोग नहीं लगाया जा सकता। सारांश, भावापहरण अथवा भाव-सादृश्य के ये तीन प्रकार तो साहित्य-संसार में समादृत हैं, पर पूर्ववर्ती के भाव को लेकर परवर्ती उसमें अनुचित विकार पैदा कर देता है, उसकी रमणीयता घटा देता है, तो उस समय उस पर साहित्यिक चोरी का अभियोग लगाया जाता है। ऐसा भाव-सादृश्य दूषित है और उसकी सर्वथा निंदा की जाती है। हर्ष की बात है कि देवजी की कविता में इस अंतिम प्रकार के भाव-सादृश्य के उदाहरण बहुत ही न्यून मात्रा में ढूँढ़ने से मिलेंगे। उन्होंने तो जो भाव लिए हैं, उन्हें बढ़ा ही दिया है। इस विषय पर भाव-सादृश्यवाले अध्याय में अनेक उदाहरण दिए जा चुके हैं, इसलिये यहाँ उनका फिर से दोहराना व्यर्थ है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, कुछ भाव हमारी कविता में इतने व्यापक और प्रचलित हो रहे हैं कि उन्हें साहित्यिक सिक्का कहा जा सकता है। ऐसे भावों को पूर्ववर्ती और परवर्ती कवियों की कविता में समान रूप से पाने पर परवर्ती पर साहित्यिक चोरी का अभियोग नहीं लगाया जा सकता। यदि विहारीलाल "चैत-चंद की चाँदनी डारत किए अचेत" ऐसा कहते हैं और देवजी उसी को "देखे दुख

देत चैत-चंद्रिका अचेत करि'' इन शब्दों में प्रकट करते हैं, तो यह कथन साहित्यिक चोरी नहीं कहा जा सकता। विरहिणीमात्र को चैत्र मास की चाँदनी दुख देती है। इस सीधी बात को सूर, तुलसी, केशव, बिहारी, मतिराम, देव तथा दास आदि सभी ने कहा है। यह भाव साहित्यिक सिक्के के रूप में साहित्य-बाज़ार में बे-रोक-टोक जारी है, इस पर बिहारीलाल या अन्य किसी कवि की कोई छाप नहीं है। इसलिये ऐसे भाव-सादृश्य के सहारे किसी कवि पर साहित्यिक चोरी का दोष नहीं लगाया जा सकता। एक समालोचक महोदय ने देव की कविता में ऐसे बहुत-से साहित्यिक समान भाव एकत्रित करके उन पर अनुचित भावापहरण का दोष लगाया है; पर हमारी राय में ऐसे साहित्यिक सिक्कों के व्यवहार से यदि कोई कवि चोर कहा जा सकता है, तो सूर, केशव, तुलसी, मतिराम सभी इसी अभियोग में अभियुक्त पाए जायँगे।

पूर्ववर्ती और परवर्ती कवि की कविता में भाव-सादृश्य रहते हुए भी कभी-कभी ऐसा हो सकता है कि परवर्ती को वही भाव अपनेआप ही सूझा हो, उसने पूर्ववर्ती का भाव न देखा हो। बहुत-से ऐसे भाव हैं, जिनको शेक्सपियर ने प्रकट किया है और अँगरेज़ी से नितांत अपरिचित कई भारतवासी कवियों ने भी कहा है। ऐसी दशा में एक दूसरे के भाव देखने की संभावना कहाँ थी? कहने का तात्पर्य यह कि देवजी के कई भाव ऐसे भी हो सकते हैं, जो उनके पूर्ववर्ती कवियों ने लिखे अवश्य हैं; पर बहुत संभव है, देवजी को वे स्वयं सूझे हों। जो हो, देवजी की कविता में उनके पूर्ववर्ती कवियों के भावों की झलकमात्र दिखला देने से उनके महत्त्व में कमी नहीं उपस्थित की जा सकती।

देवजी अपने समय के अद्वितीय कवि थे। उनमें स्वाभाविक प्रतिभा थी और इसी के बल पर उन्होंने सोलह वर्ष की अवस्था में भावविलास बना डाला था। उनका आदर उनके समय में ही होने लगा था और इधर सं० १६०० के बाद से तो उनकी कविता पर लोगों की रुचि विशेष रूप से आकृष्ट हो रही है। देवजी की भाषा उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। भाषा की दृष्टि से हिंदी के किसी भी कवि से उनका स्थान नीचा नहीं है। इनकी कविता में रस का प्राधान्य है। सभी प्रकार के प्रेम का इन्होंने सजीव और सच्चा वर्णन किया है। इनकी कविता पर इनके पूर्ववर्ती कवियों का भी प्रभाव पड़ा है। इधर इनके परवर्ती कवियों ने इनके भावों को अपनाया है। हिंदी-भाषा के कवियों—पूर्ववर्ती और परवर्ती दोनों—की कविता का इनकी कविता से ओत-प्रोत संबंध है। यदि हिंदी-कविता-संसार से देवजी निकाल डाले जायँ, तो उसमें बड़ी भारी न्यूनता आ जाय। जिस शीघ्रता के साथ इस समय हिंदी-संसार देवजी का आदर कर रहा है, उसे देखते जान पड़ता है कि उनको शीघ्र ही हिंदी-संसार में उचित स्थान प्राप्त होगा। एवमस्तु।

४—देव और केशव

परिचय

देवजी देवशर्मा (द्यौसरिया या दुसरिहा) ब्राह्मण थे, जो अपने को कान्यकुब्ज बतलाते हैं। केशवजी सनाढ्य ब्राह्मण थे। इन्होंने अपने वंश का जो विवरण दिया है, उससे जान पड़ता है कि इनके पिता काशीनाथ और पितामह कृष्णदत्त संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। केशवदास के जीवन-काल का विशेष संबंध बुंदेलखंड से रहा है। देवजी का जन्म इटावा में हुआ था। सुनते हैं, उनके वंशज ग्राम कुसमरा, तहसील शिकोहाबाद, ज़िला मैनपुरी में

अब भी रहते हैं। उन्होंने अपने वंश का विशेष विवरण अपने किसी ग्रंथ में नहीं दिया। अनुमान से केशवदास का जन्म-संवत् १६१२ माना गया है और देव का जन्म-संवत् १७३० था, सो जिस समय देव का जन्म हुआ था, उस समय केशवदास का जन्म हुए ११८ वर्ष बीत चुके थे। केशवदास का मृत्यु-काल संवत् १६७६ के लगभग माना गया है, अतएव देव के जन्म और केशवदास की मृत्यु के बीच में ५४ वर्ष का अंतर पड़ता है। जिस समय देव ने कविता करनी प्रारंभ की, उस समय केशवदास को स्वर्गवासी हुए ७० वर्ष बीत चुके थे। देवजी का मृत्यु-काल हम संवत् १८२५ के बाद मानते हैं। महमदी राज्य के अकबरअलीख़ाँ का शासन-काल यही था।

केशवदास ने जिन बड़े लोगों द्वारा सम्मान अथवा अर्थ-लाभ किया है, उनमें से कुछ के नाम ये हैं—इंद्रजीत, वीरसिंह देव, बीरबल, मानसिंह, अमरसिंह तथा अकबर; पर केशवदास का प्रधान राज-दरबार ओड़छा था। इस दरबार के वह कवि, सलाहकार एवं योद्धा सभी कुछ थे और राजों की भाँति अपना समय व्यतीत करते थे। हमारी सम्मति में कविता द्वारा हिंदी-कवियों में केशवदास से अधिक धनोपार्जन अन्य किसी कवि ने नहीं किया। इस बात के पुष्ट प्रमाण हैं कि भूषण को केशवदास से अधिक धन-प्राप्ति नहीं हुई। देव को जिन लोगों ने यों ही अथवा धन देकर सम्मानित किया, उनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—आज़मशाह, भवानीदत्त वैश्य, उद्योतसिंह, कुशलसिंह, अकबरअलीख़ाँ, भोगीलाल तथा भरतपुर-नरेश। जहाँ तक पता चलता है, धन-प्राप्ति में देवजी को तादृश सफलता कहीं नहीं प्राप्त हुई। हाँ, कदाचित् राजा भोगीलाल ने इस दृष्टि से औरों की अपेक्षा उनका अधिक सम्मान किया।

केशवदास संस्कृत के पूर्ण पंडित थे। उनकी भाषा पर संस्कृत की पूर्ण रीति से छाप लगी हुई है। बुंदेलखंडवासी होने से उक्त प्रांत के शब्द भी उनकी कविता में बहुतायत से पाए जाते हैं। इस प्रकार संस्कृत और बुंदेलखंडी से ओत-प्रोत व्रजभाषा में केशवदास ने कविता की है। देव की भाषा अधिकांश में व्रजभाषा है। जान पड़ता है, पूर्ण विद्योपार्जन करके प्रौढ़ वयस में केशवदास ने कविता करना प्रारंभ किया था। इधर देवजी ने षोड़श वर्ष की किशोरावस्था में ही रचना-कार्य आरंभ कर दिया था। केशवदास की मृत्यु के संबंध में यह किंवदंती प्रसिद्ध है कि वह मरकर भूत हुए थे। जान पड़ता है, देवजी के समय में भी यह बात प्रसिद्ध थी ; क्योंकि उनके एक छंद में इस बात का उल्लेख है—

अकबर बीरबर बीर, कबिबर केसौ,
गंग की सुकबिताई गाई रस-पाथी नै ;
× × ×
× × ×
× × ×
× × ×
एक दल-सहित बिलाने एक पल ही मैं,
एक भए भूत, एक मींजि मारे हाथी नै।

उपर्युक्त वर्णन में बीरबल का दलबल-समेत मारा जाना, केशवदास का भूत होना एवं गंगकवि का हाथी से कुचला जाना स्पष्ट शब्दों में वर्णित है। देवजी की मृत्यु के संबंध में किसी विशे घटना को आश्रय नहीं मिला है।

भाषा-विचार

केशव और देव की भाषा में बहुत कुछ भेद है। मुख्यतया दोनों ही कवियों ने व्रजभाषा में कविता की है, पर केशव की भाषा में

संस्कृत एवं बुंदेलखंडी शब्दों को विशेष आश्रय मिला है। संस्कृत शब्दों की अधिकता से केशव की कविता में व्रजभाषा की सहज माधुरी कुछ न्यून हो गई है। संस्कृत में मीलित वर्ण एवं टवर्ग विशेष आक्षेप के योग्य नहीं माने जाते, परंतु व्रजभाषा में इनको श्रुति-कटु मानकर यथासाध्य इनका कम व्यवहार किया जाता है। केशवदास ने इस पाबंदी पर विशेष ध्यान नहीं दिया है। इधर देवजी ने मीलित वर्ण, टवर्ग एवं रेफ़-संयुक्त वर्णों का व्यवहार बहुत कम किया है; सो जहाँ तक श्रुति-माधुर्य का संबंध है, देव की भाषा केशव की भाषा से अच्छी है। केशवदास की भाषा कुछ क्लिष्ट भी है, पर अर्थ-गांभीर्य के लिये कभी-कभी क्लिष्ट भाषा लिखनी ही पड़ती है। संस्कृत के पंडित होने के कारण केशवदास का व्याकरण-ज्ञान दिव्य था, इससे उनकी भाषा भी अधिकतर व्याकरण-संगत है। शब्दों के रूप-परिवर्तन-कार्य को भी केशवदास ने स्वल्प मात्रा में ही किया है। इन दोनों ही बातों में अर्थात् शब्दों की तोड़-मरोड़ कम करने तथा व्याकरणसंगत भाषा लिखने में वह देव से अच्छे हैं। देवजी अनुप्रास-प्रिय हैं, व्याकरण को उन्होंने भाव का पथ-प्रदर्शकमात्र रक्खा है, जहाँ व्याकरण द्वारा भाव बँधता हुआ दिखलाई दिया है, वहाँ उन्होंने भाव को स्वेच्छापूर्वक प्रस्फुटित किया है। देव की भाषा में लोच, अलंकार-प्रस्फुटन की सरलता एवं स्वाभाविकता अधिक है। हिंदी-भाषा के मुहाविरे एवं लोकोक्तियाँ भी देव की भाषा में सहज सुलभ हैं। शेक्सपियर के कई वर्णनों के संबंध में समालोचक रैले ने लिखा है—"इन वर्णनों की विशेष छान-बीन न करके जो कोई इन्हें बिना रुकावट के पढ़ेगा, उसी को इनमें आनंद मिलेगा।" ठीक यही बात देवजी के भी कई वर्णनों के विषय में कही जा सकती है। उधर केशव का काव्य बिना रुके, सोचे एवं मनन किए सहज बोधगम्य

नहीं है। देव की भाषा में एक विशेषता यह भी है कि उसे जितनी बार पढ़िए, उतनी ही बार नवीनता जान पड़ेगी। केशव की भाषा में पांडित्य की आभा है, इसी कारण कहीं-कहीं पर वह कृत्रिम जान पड़ती है। देव ने पोषण करने के अर्थ में 'पुषोत है' ऐसा प्रयोग चलाया है। केशव ने ऐसी क्रियाएँ बहुत-सी व्यवहृत की हैं। उन्होंने शोभा पाने के लिये 'शोभिजति', स्मरण करने और कराने के लिये 'स्मरावै, स्मरै' तथा चित्र खींचने के लिये 'चित्रे' (ऊपर तिनके तहाँ चित्रे चित्र बिचार) आदि प्रयोग किए हैं। देव ने 'झालर' तुकांत के लिये 'विशालर' और 'मालर' शब्द गढ़ लिए हैं, तो केशव ने भी ढालैं के अनुप्रास के लिये 'विशाल' को 'विशालैं' और 'लाल' को 'लालैं' रूप दे डाला है। जैसे—"कारी-पीरी ढालैं लालैं, देखिए बिसालैं अति हाथिन की अटा घन-घटा-सी अरति है" (वीरसिंहचरित्र, पृष्ठ ४२)। जेहि-तेहि और जिन-तिन के प्रयोग देव और केशव की भाषा में समान ही पाए जाते हैं— "जिन-जिन ओर चितचोर चितवति प्यारी, तिन-तिन ओर छिन तोरति फिरति है।" देव के इस पद पर एक समालोचक की राय है कि 'जिन' और 'तिन' के स्थान पर 'जेहि' और 'तेहि' चाहिए, परंतु केशव के ऐसे ही प्रयोग देखकर देव का ही मत ठीक समझ पड़ता है। उदाहरणार्थ "मन हाथ सदा जिनके, तिनको बनु ही घर है, घर ही बनु है।" देव के "चल्यो न परत" महाविरे पर भी ऐसा ही आक्षेप किया गया है, पर उसका समर्थन भी केशव के काव्य से हो जाता है, जैसे—"सहिहौं तपन-ताप पति के प्रताप, रघुबीर को बिरह बीर मोसों न सह्यो परै।" यदि 'चला नहीं जाता' के स्थान पर 'चल्यो न परै' ठीक नहीं है, तो 'सहा नहीं जाता' के स्थान पर 'न सह्यो परै' भी ठीक नहीं है। बिहारी ने 'करके' की जगह 'करके' लिखा है, देव ने देकर के स्थान पर 'दै दै' लिखा है, तो केशव ने लेकर के स्थान

पर 'लखै' लिखा है। इन सब बातों पर विचार करके हम देव की भाषा केशव की भाषा से अच्छी मानते हैं।

मौलिकता

केशव और देव की कविता के प्रधान विषय वही हैं, जो देववाणी संस्कृत की कविता में पाए जाते हैं। इन भावों से लाभान्वित होने का दोनों ही कवियों को समान अवसर था। फिर भी केशवदास ने ही संस्कृत-साहित्य से विशेष लाभ उठाया है। इसके कारण भी हैं। केशव ने जिस समय कविता करनी आरंभ की थी, उस समय हिंदी में कोई बड़े कवि और आचार्य नहीं थे, और केशवदास स्वयं संस्कृत के धुरंधर विद्वान् थे और उनके घर में कई पुश्त से बड़े-बड़े पंडित होते आए थे। इसलिये केशवदास ने स्वयं संस्कृत-साहित्य का आश्रय लेकर इस मार्ग को प्रशस्त किया। देव ने जिस समय कविता आरंभ की, तो उनको अपने पूर्ववर्ती सूर, तुलसी, केशव और विहारी-जैसे सुकवि प्राप्त थे एवं केशव, मतिराम तथा भूषण-जैसे आचार्यों के ग्रंथ भी सुलभ थे। कदाचित् केशव के समान वह संस्कृत के अगाध साहित्य-सागर के पारदर्शी न थे। तो भी वह बड़े उत्कृष्ट कवि थे और अँगरेज़ी के एक विद्वान् समालोचक की यह राय उन पर बिलकुल ठीक उतरती है कि जब कभी कोई बड़ा लेखक अपने पूर्ववर्ती के भावों को लेता है, तो उन्हें बढ़ा देता है।

केशवदास के मुख्य ग्रंथ रसिकप्रिया, कविप्रिया और रामचंद्रिका हैं। इन तीनों ही ग्रंथों में आचार्यत्व तथा कवित्व दोनों ही दृष्टियों से केशवदास ने अपने अगाध पांडित्य का परिचय दिया है। कवि-प्रिया को पढ़कर लाखों कवि हो गए हैं और रामचंद्रिका के पाठ ने जगत् का बहुत बड़ा उपकार किया है; परंतु यह सब होते हुए भी केशवदास ने संस्कृत-साहित्य से जो सामग्री एकत्र की है, उसमें उन्होंने अपनी कोई विशेष छाप नहीं बिठाली है। उन्होंने

अपहृत सामग्री की उपयोगिता में कोई विशेष चमत्कार नहीं पैदा किया है। रामचंद्रिका को ही लीजिए। इसमें कई अंक-के-अंक प्रसन्नराघव नाटक के अनुवादमात्र हैं। अनुवाद करना कोई बुरी बात नहीं; पर उपालंभ यह है कि यह कोरा अनुवाद है, केशवदास ने भावों को अपनाया नहीं है। इस कथन के समर्थन में दो-चार उदाहरण लीजिए—

अङ्गैरङ्गीकृता यत्र षड्भिः सप्तभिरष्टभिः ;
त्रयी च राज्यं लक्ष्मीश्च योगविद्या च दीव्यति।

जयदेव

अंग छ-सातक-आठक सों भव तीनिहुँ लोक में सिद्धि भई है ;
बेदत्रयी अरु राजसिरी परिपूरनता सुभ योगमई है।

केशव

यः काञ्चनमिवात्मानं निक्षिप्याग्नौ तपोमये ;
वर्णोत्कर्ष गतः सोऽयं विश्वामित्रो मुनीश्वरः।

जयदेव

जिन अपनो तन-स्वर्ण मेलि तपोमय अग्नि मैं,
कीन्हों उत्तम वर्ण, तेई विश्वामित्र ये।

केशव

देव ने इस प्रकार का अनुवाद-कार्य बहुत कम किया है। आचार्यत्व-प्रदर्शक ग्रंथों में भी उन्होंने अपने मानसिक बल का परिचय देते हुए अपना नवीन मत अथवा प्रणाली अवश्य निर्धारित की है। उनके मास्तिष्क में मौलिकता के बीज थे और उन्होंने समय-समय पर अपने विचार-क्षेत्र में उनका वपन भी किया है। एक संस्कृत-कवि का भाव लेकर उन्होंने उसे कैसा अपनाया है, इसे देखिए—

मांसं कार्श्यादभिगतमपां बिन्दवो बाष्पपाता-
तेजः कान्तापहरणवशाद्वायवः श्वासदैर्घ्यात् ;
इत्थं नष्टं विरहवपुषस्तन्मयत्वाच्च शून्यं,
जीवत्येवं कुलिशकठिनो रामचन्द्र किमेतत् ।

"साँसन ही सो समीर गयो, अरु आंसुन ही सब नीर गयो ढरि ;
तेज गयो गुन लै अपनो, अरु भूमि गई तन की तनुता करि ।
"देव" जियै मिलिबेई कि आस कि आसहू पास अकास रह्यो भरि ;
जा दिन ते मुख फेरि, हरे हँसि, हेरि हियो जु लियो हरिजू हरि ।

रामचंद्र के आश्चर्य को देव ने कैसा हल कर दिया ! 'देव जियै मिलिबेई कि आस' में अपूर्व चमत्कार है !

निदान मौलिकता की दृष्टि से देव का पद केशव के पद से ऊँचा है। केशव और देव कवि भी हैं और आचार्य भी। हमारी सम्मति में केशव में आचार्यत्व-गुण विशिष्ट है और देव में कवित्व-गुण। अस्तु। कवित्व-गुण की परीक्षा में जहाँ तक भाषा और भावों की मौलिकता का संबंध है, वहाँ तक हमने यही निश्चय किया है कि देवजी केशवदास से बढ़कर हैं।

रस और अलंकार

केशव का काव्य अलंकार-प्रधान है। अलंकार-निर्वाह केशवदास का मुख्य लक्ष्य है। प्राचीन साहित्याचार्यों का मत था—

"अलङ्कारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्"

स्वयं केशवदास ने कहा है—

"भूषण-बिन न बिराजई कविता-बनिता मित्त !"

उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकारों का सुंदर चमत्कार केशव के काव्य में अपूर्व है। हमारी राय में संदेहालंकार का विकास जैसा केशव के काव्य में है, वैसा हिंदी के अन्य किसी कवि के काव्य में नहीं है। केशवदास की परिसंख्याएँ भी विशेषतामयी

हैं। सारांश, केशवदास ने अलंकार का प्रस्फुटन वास्तव में बड़े ही मार्के का किया है। उधर देव कवि का काव्य रस-प्रधान है। उनका लक्ष्य रस का परिपाक है। उनके ऐसे छंद औसत में बहुत अधिक हैं, जिनमें रस का संपूर्ण निर्वाह हुआ है। रसों में भी शृंगार-रस ही उनका प्रधान विषय है। हमारे इस कथन का यह तात्पर्य नहीं कि अलंकार-प्रधान होने से केशव के काव्य में रस-चमत्कार नहीं है, न हमारा यही मतलब है कि रस-प्रधान होने से देव की कविता अलंकार-शून्य है। कहने का तात्पर्य केवल यह है कि एक कवि का प्रधान लक्ष्य अलंकार है तथा दूसरे का रस। रूपक, उपमा एवं स्वभावोक्ति के सैकड़ों अनूठे उदाहरण देव की कविता में भरे पड़े हैं। जो हो, नवीन आचार्यों का सम्मान रस की ओर अधिक है, यहाँ तक कि एक आचार्य ने तो रसात्मक काव्य को ही काव्य माना है। ऐसी दशा में केशव और देव की कविता के संबंध में वही विवाद उपस्थित हो जाता है, जो रस और अलंकार के बीच उठता है। यहाँ इतना स्थान नहीं कि इस बात का निर्णय किया जाय कि अलंकार श्रेष्ठ है या रस। हाँ, संक्षेप में हम यह कह देना चाहते हैं कि हम रस को ही प्रधान मानते हैं। भाव रस पर अवलंबित है, अलंकार पर नहीं। अलंकार तो भाव की शोभा बढ़ानेवाला है। सारांश, देव का काव्य रस-प्रधान होने के कारण भी हम देव ही में कवित्व-गुण का आधिक्य पाते हैं। आचार्यत्व में केशवदास देव से बढ़कर हैं। देव से ही नहीं, वरन् हमारी सम्मति में, इस दृष्टि से, उनका पद सबसे ऊँचा है। कविता का ढंग सिखलानेवाला ग्रंथ कवि-प्रिया से बढ़कर और कौन है? देव के 'काव्य-रसायन' में प्रौढ़ विचार भले ही हों; पर विद्यार्थी के लिये जिस सुगम बोधगम्य मार्ग की आवश्यकता है, वह कविप्रिया में ही है।

देव और केशव कवि और आचार्य तो थे ही, साथ ही

उनका विचार-क्षेत्र भी विस्तृत था। केशवदास की 'विज्ञान-गीता' और देव का 'देव-माया-प्रपंच' नाटक इस बात को सूचित करते हैं कि अन्य शास्त्रीय और धार्मिक बातों पर भी इन दोनों कवियों ने अच्छा विचार किया था। केशवदास को रामचंद्र का इष्ट था और देव ने हितहरिवंश-संप्रदाय के मुख्य शिष्य होकर कृष्ण का गुण-गान किया है। वीरसिंह-देव-चरित्र देखने से पता चलता है कि केशवदास को ऐतिहासिक कथाएँ लिखने में रुचि थी। इधर देव का 'राग-रत्नाकर' देखने से जान पड़ता है कि देवजी का संगीत पर भी अच्छा अधिकार था।

तुलना

केशव के काव्य में कला के नियम भाव का नियंत्रण करते हैं। भाव नियमों के वश में रहता है; नियमों को तोड़कर अपना दर्शन नहीं दे सकता। देव के काव्य में कला के नियम भाव के पथ-प्रदर्शकमात्र हैं; उसे अपने बंधन में नहीं रख सकते। भाव नियमों की अवहेलना नहीं करता, परंतु उनकी परतंत्रता में भी नहीं रहना चाहता। संक्षेप में केशव और देव के काव्य में इसी प्रकार का पार्थक्य है। केशव और देव के काव्य की तुलना करते हुए एक मर्मज्ञ समालोचक ने दोनों कवियों के निम्न-लिखित छंद उद्धृत कर लिखा था कि देव ने केशव का भाव लिया है, परंतु उनके भाव-चमत्कार को नहीं पा सके—

प्रेत की नारि-ज्यों तारे अनेक चढ़ाय चलै, चितवै चहुँघातो ;
कोढ़िनि-सी कुकरे कर-कंजनि, "केशव" सेत सबै तन तातो।
भेटत ही बरै ही, अब हीं तौ बरयाय गई ही सुखे सुख सातो ;
कैसी करौं, कब कैसे बचौं, बहुरयो निसि आई किए मुख रातो।

केशव

वा चकई को भयो चित-चीतो, चितौत चहूँ दिसि चाय सों नाची;
ह्वै गई छीन छपाकर की छबि, जामिनि-जोति मनो जम जाँची।
बोलत बैरी बिहंगम "देव", सँजोगिनि की भई संपति काँची;
लोहू पियो जु बियोगिनि को, सु कियो मुख लाल पिसाचिनि-प्राची।

देव

दोनों छंदों में पाठकगण देख सकते हैं कि जो कुछ सादृश्य है, वह 'प्रेत की नारि' और 'पिसाचिनी' का है। केशव ने निशि को 'प्रेत की नारि' माना है और देव ने प्राची को 'पिसाचिनी'। केशव का वर्णन रात्रि का है और देव का प्रभात का। अतएव दोनों कवियों के भावों को सदृश कहना ठीक नहीं है। परंतु केशव-भक्त विज्ञ समालोचकों ने इन वर्णनों को सदृश मानकर इन पर विचार किया है, इसलिये हम भी इन छंदों द्वारा देव और केशव की कविता के संबंध में अपने विचार प्रकट करेंगे।

पहले दोनों छंदों की भाषा पर विचार कीजिए। देव के छंद में मीलित वर्ण दो बार आया है—प्राची का 'प्रा' और 'ह्वै'। टवर्ग का सर्वथा अभाव है। भाषा अनुप्रास के चमत्कार से परिपूर्ण है। उसमें स्वाभाविक पद्य-प्रवाह, प्रसाद-गुण एवं श्रुति-माधुर्य का समागम है। 'चित-चीतो भयो', 'चाय सों नाची' तथा 'भई संपति काँची'-सदृश महाविरों को भी स्थान मिला है। पक्षी के 'बिहंगम' शब्द का प्रयोग विदग्धता-पूर्ण है। छंद में जिस भय का दर्शन है, वह 'बिहंगम' में भी पाया जाता है। 'संयोगियों की संपत्ति' शब्दावली में 'संपत्ति' शब्द मार्के का है। केशव के छंद में प्रेत की 'प्रे', ज्यों, बरयाय की 'र्या', बहुर्यो की 'र्यो' ये चार मीलित वर्ण रेफवाले हैं। चढ़ाय, कोढ़िनि और भेटत में टवर्ग भी तीन बार व्यवहृत हुआ है। 'चहुँघातो' और 'सुख सातो' प्रयोग अच्छे नहीं। 'कुकरे' शब्द प्रांतीय अथवा कम

प्रचलित होने के कारण कानों को अच्छा नहीं लगता। 'बरस्याय गई' प्रयोग तो बहुत ही खटकनेवाला है। भाषा का कोई चमत्कार-पूर्ण महाविरा छंद में नहीं है। प्रसाद-गुण स्वल्प तथा माधुर्य अति स्वल्प है। अनुप्रास का चमत्कार देव के छंद से बिलकुल कम है।

अब भाव को लीजिए। हम संस्कृत-साहित्य से बहुत कम परिचित हैं। हिंदी-साहित्य-सागर भी हमें दुस्तर है; फिर भी जहाँ तक हमारी पहुँच है, देव ने जो भाव प्रकट किया है, वह उनका है या उन्होंने उसे ऐसा अपनाया है कि अब तो वह उन्हीं का हो रहा है। उधर केशव ने निशा को जो 'प्रेत की नारि' बनाया है, वह भाव वाग्भट्टालंकार में स्पष्ट दिया है—

कीर्णान्धकारालकशालमाना निबद्धतारास्थिमणिः कुतोऽपि ;
निशा पिशाची व्यचरद्दधाना महन्त्युलूकध्वनिफेत्कृतानि।

कहा गया है, 'कोढ़िनि-सी कुकरे कर-कंजनि' कहकर केशव ने अपनी प्रकृति-निरीक्षण-पटुता का परिचय दिया है, यह ठीक है; किंतु क्या कोढ़िन का कथन चित्त में बीभत्स-रस का संचार नहीं करता और क्या विप्रलंभ-शृंगार के साथ बीभत्स-रस के भावों का ऐसा स्पर्श विशेष शोभनीय है?

काव्यांगों की दृष्टि से देव के संपूर्ण छंद में स्वभावोक्ति का प्राधान्य है। दूसरे पद में एक अच्छी उत्प्रेक्षा है। चतुर्थ पद में उत्कृष्ट अनुमानालंकार है तथा तृतीय में लोकोक्ति और पर्यायोक्ति की थोड़ी-सी झलक। विप्रलंभ-शृंगार तो दोनों छंदों में है ही। केशव के छंद में दो बार उपमा (प्रेत का नारि-ज्यों, कोढ़िनि-सा) की तथा कर-कंजनि में रूपक की झलक है। तारे निकल चुके। कमल मुँद गए। यह सब हो चुकने के बाद भी अंत को निशा का 'रोता मुख' कहा गया है। किंतु शायद कुछ

रात बीतने के बाद फिर निशा की कालिमा नहीं रह जाती। देव के छंद में प्रभात-वर्णन बिलकुल स्वाभाविक है। भारतेंदुजी ने देव के छंद को पसंद करके अपनी सहृदयता का परिचय दिया है।

यहाँ पर इतना स्थान नहीं कि देव और केशव के सदृश-भाववाले छंदों पर विस्तार के साथ विचार किया जा सके, इसलिये यहाँ केवल एक-एक छंद देते हैं। इन दोनों छंदों में किसका छंद बढ़िया है, इस विषय में हम केवल इतना ही लिखना चाहते हैं कि एक छंद में विषय-मार्ग में सहायता पहुँचानेवाली दूती का कथन है तथा दूसरे में अपना सर्वस्व न्योछावर करनेवाली नायिका की मर्म-भेदिनी उक्ति। एक में दूती का आदेश है कि जिस नायिका को आज मुश्किल से फाँस लाई हूँ, उसे खूब सँभालकर रखना, जिसमें विरक्त न हो जाय। दूसरे में प्राणेश्वर की अनुपस्थिति में भी उसके प्रति प्रेम की यह दशा है कि श्याम रंग के अनुरूप ही सब वस्तुएँ व्यवहार में लाई जाती हैं। ये दोनों छंद भी हमने केशव-भक्त विज्ञ समालोचक की समालोचना से ही लिए हैं—

नैनन के तारन मैं राखौ प्यारे, पूतरी कै,
मुरली-ज्यों लाय राखौ दसन-बसन मैं;
राखौ भुज-बीच बनमाली बनमाला करि,
चंदन-ज्यों चतुर, चढ़ाय राखौ तन मैं।
"केसोराय" कल कंठ राखौ बलि, कठुला कै,
करम-करम क्यों हूँ आनी है भवन मैं;
चंपक-कली-सी बाल सूँघि-सूँघि देवता-सी,
लेहु प्यारे लाल, इन्हें मेलि राखौ तन मैं।

केशव

"देव" मैं सीस बसायो सनेह कै, भाल मृगम्मद-बिंदु कै राख्यो ;
कंचुकी मैं चुपरो करि चोवा, लगाय लयो उर मैं अभिलाख्यो ।
लै मखतूल गुहे गहने, रस मूरतिवंत सिँगार कै चाख्यो ;
साँवरे लाल को साँवरो रूप मै नैनन को कजरा करि राख्यो ।

देव

सारांश

कुछ लोग कवि-कुल-कलश केशवदास को बहुत साधारण कवि समझते हैं । उनसे हमारा घोर मतभेद है । केशवदास की कविता में प्राचीन काव्य-कला के आदर्श का विकास है । अँगरेज़ी-भाषा में जिन कवियों को 'क्लासिकल पोएट' कहते हैं, केशव भी वही हैं । हिंदी के काव्य-शास्त्र के आचार्यों में उनका आसन सर्वोच्च है । कवित्व-गुण में वह सूर, तुलसी, देव और बिहारी के बाद हैं । इन चारों कवियों की भाषा केशवदास की भाषा से अच्छी है । इन चारों के काव्य रस-प्रधान हैं । देव में मौलिकता है । केशवदास को अर्थ-प्राप्ति हिंदी के सभी कवियों से अधिक हुई है । हिंदी-भाषा-भाषियों को केशवदास का गर्व होना चाहिए । देव कवि की भाषा अपूर्व है । हिंदी के किसी भी कवि की भाषा इनकी भाषा से अच्छी नहीं । इनका काव्य रस-प्रधान है । कुछ लोग देव को महाकवि मानने में कविता का अपमान समझते हैं । वह देव को सरस्वती का कुपुत्र बतलाते हैं । हमारी सम्मति में विद्वानों को ऐसे कथन शोभा नहीं देते । ऐसे कथनों की उपेक्षा करना—उनके प्रत्युत्तर में कुछ न लिखना ही—हमारी समझ में इनका समुचित उत्तर है । हमारा विश्वास है, देवजी पर जितनी ही प्रतिकूल आलोचनाएँ होंगी, उतना ही हिंदी-जगत् में उनका आदर बढ़ेगा । हिंदी-भाषा महाकवि देव के ऋण से कभी भी उऋण नहीं हो सकती ।

काव्य-जगत् में जब तक भाव-विकास और कला के नियमों में संघर्ष रहेगा, जब तक गंभीर, प्रौढ़ और सुसंस्कृत भाषा का प्रवाह एक ओर से और प्रसाद-पूर्ण, मधुर, भावमयी भाषा की निर्झरिणी दूसरी ओर से आकर टकरावेगी, जब तक अलंकार को सर्वस्व मानने का आग्रह एक ओर से और रस की सर्वप्रधानता का सत्याग्रह दूसरी ओर से जारी रहेगा, तब तक देव और केशव की सत्ता बनी रहेगी। देव और केशव अमर हैं और उनकी बदौलत ब्रजभाषा की साहित्य-सुधा भी सुरक्षित है।

देव की दिव्य दृष्टि

ब्रजभाषा-काव्य के शृंगारी कवियों के शिरोमणि महाकवि देव का विचार-क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है। उनके काव्य की इतिश्री नायिका-भेद से संबंध रखनेवाले वर्णनों ही से नहीं हो जाती। उन्होंने इस विशाल विश्व के प्रपंच को भली भाँति समझा था। उनकी कविता में स्थल-स्थल पर इस बात के प्रमाण विद्यमान हैं। ईश्वर-संबंधी ज्ञान और मत-मतांतरों के सिद्धांतों का स्पष्टी-करण भी देवजी की कविता में मौजूद है। ईश्वर के अवतार और साकारोपासना का चमत्कार देखना हो, तो देवजी का 'देव-चरित्र' ध्यान से पढ़ना चाहिए। इसी प्रकार अनेक प्रकार के धार्मिक मतभेदों की बहार 'देव-माया-प्रपंच' नाटक में देखने को मिलती है। 'वैराग्य-शतक' में निराकारोपासना, वेदांत का निदर्शन एवं सच्चा जगद्दर्शन नेत्रों के सामने नाचने लगता है। पाठकों के मनोरंजन के लिये देवजी की इस प्रकार की कविता के कुछ नमूने यहाँ पर उद्धृत किए जाते हैं।

पहले साकारोपासना को ही लीजिए। श्रीकृष्ण-जन्म का भव्य चित्र देखिए। देखिए, यशोदा माता की गोद में ब्रह्मराशि का कैसा सुंदर प्रादुर्भाव हुआ है—

सूनो के परम पदु, ऊनो के अनंत मदु,
दूनो कै नदीस-नदु इंदिरा फुरै परी;
महिमा मुनीसन की, संपति दिगीसन की,
ईसन की सिद्धि, ब्रज बीथी बिथुरै परी।
भादौं की अँधेरी अधराति, मथुरा के पथ,
आई मनोरथ, "देव" देवकी दुरै परी;
पारावार पूरन, अपार, परब्रह्मरासि,
जसुदा के कोरे एक बारक कुरै परी।

देवजी ने श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी की सौभाग्यमयी शोभा का जो चित्र खींचा है, वह कितना आनंददायक है, इसके साक्षी सहृदयों के हृदय हैं। साकार भगवान् की लीलाओं का संक्षेप में अन्य विवरण देखिए। भक्तों के संतोष के लिये उन्हें क्या-क्या करना पड़ा है, इसको विचारिए। भगवान् का वह ब्रज-मंडल का विहार और गोप-गोपियों के बीच का वह आनंद-नृत्य क्या कभी भुलाया जा सकता है। एक बार हम भगवान् को विकराल विषधर कालीनाग के फणों पर थिरकते पाते हैं, तो दूसरी बार घमासान युद्ध के अवसर पर अर्जुन के रथ का संचालन करते हुए देखते हैं। कहाँ मदनमोहन का वह मनोमोहन रूप और कहाँ अत्यंत भयंकर हिरण्यकशिपु की रौद्र-मूर्ति! उधर गजोद्धार के समय सबसे निराला दर्शन! कवि साकार भगवान् की किस-किस बात का वर्णन करे! देखिए, महाराज दुर्योधन की अमृत-तुल्य भोजन-सामग्री की उपेक्षा करके कृष्ण भगवान् विदुरजी के साग को कितने प्रेम से खा रहे हैं! भक्त-शिरोमणि सुदामा तुम धन्य हो! क्या और भी कोई ऐसे रूखे-सूखे तंदुल भगवान् को चबवा सकता था! और, शबरी माता! तुमने तो अपनी भक्ति को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया। वाह! भगवान् रामचंद्र कितने प्रेम और आनंद के

साथ तुम्हारे जूठे बेर खा रहे हैं । ऐसे भक्त-वत्सल भगवान् के रहते भक्तों का कौन बाल बाँका कर सकता है । देखो न, चीर-हरण के समय पांचाली की लज्जा किस प्रकार बाल-बाल बच गई !

धाए फिरौ ब्रज में, बधाए नित नंदजू के,
गोपिन सधाए नचौ गोपन की सीर में ;
"देव" मति मूढ़े तुम्हें ढूँढ़ै कहाँ पावै, चढ़े-
पारथ के रथ, पैठे जमुना के नीर में।
आँकुस ह्वै दौरि हरनाकुस को फारयो उर,
साथी न पुकारयो, हते हाथी हिय तीर मैं ;
बिदुर की भाजी, बेर भीलनी के खाय,
बिप्र-चाउर चबाय, दुरे द्रौपदी के चीर में।

साकारोपासना के ऐसे उज्ज्वल चित्र खींचनेवाले देवजी नास्तिकों के तर्क से भी अपरिचित न थे। उन्हें मालूम था, नास्तिक लोग वेद, पुराण, नरक, स्वर्ग, पाप, पुण्य, तप और दान इत्यादि कुछ नहीं मानते। उनके एक छंद में नास्तिकता के विचारों का समावेश इस प्रकार हुआ है—

को तप कै सुरराज भयो, जमराज को बंधन कौने खुलायो ?
मेरु मही मैं सही करिकै, गथ ढेर कुबेर को कौने तुलायो ?
पाप न पुन्य, न नर्क न स्वर्ग, मरो सु मरो, फिरि कौने बुलायो ?
झूठ ही बेद-पुरानन बाँचि लबारन लाग भले के भुलायो।

एक दूसरे छंद में पुण्य के विश्वास से नास्तिक ने दान की खूब ही निंदा की है। इसी छंद में, मृतक-श्राद्ध के संबंध में, जो विचार प्रकट किए गए हैं, वे आज कल के हमारे आर्यसमाजी भाइयों के विचारों से भली भाँति मिल जाते हैं—

मूढ़ कहै—मरिकै फिरि पाइए, ह्यां जु लुटाइए भौन-भरे को ;
सो खल खोय खिस्यात खरे, अवतार सुन्यो कहुँ छार-परे को !

जीवत तौ व्रत-भूख सुखौत सरीर-महासुर-रूख हरे को ;
ऐसी असाधु असाधुन की बुधि, साधन दंत सराध मरे को।

आज कल संसार में साम्यवाद की लहर बड़े वेग से बह रही है। समता के सिद्धांतों का घोष बड़े-बड़े साम्राज्यों की नींव हिला रहा है। इँगलैंड में भी मज़दूर-दल शासन कर चुका है, पर यह सब वर्तमान शताब्दी की बातें हैं। आज से तीन-चार सौ वर्ष पहले तो संसार में ऐसे विचार भी विरले थे, पर देवजी के एक छंद में उन्हीं को देखकर हमारे आश्चर्य की सीमा नहीं रहती। कवि कहता है कि सभी की उत्पत्ति "रज-बीज" से हुई है। मरने पर भी सभी की दशा एक ही-सी होती है। देखने में भी सब एक ही प्रकार के हैं। फिर यह ऊँच-नीच का भेद-भाव कैसा? पाँड़ेजी महाराज क्यों पवित्र हैं और अन्य सज्जन शूद्र क्यों अपवित्र? यह सब प्रबल स्वार्थियों की लीला है। उन्हीं लोगों ने वेदों का गोपन करके ऐसी मनमानी धाँधली मचा रक्खी है—

हैं उपजे रज-बीज ही ते, बिनसेहू सबै छिति छार कै छाँड़े ;
एक-से देखु कछू न बिसेखु, ज्यौं एकै उन्हारि कुँभार के भाँड़े ;
तापर आपुन ऊँच ह्वै, औरन नीच कै, पाँय पुजावत चाँड़े ;
बेदन मूँदि, करी इन दूँदि, सुसूद अपावन, पावन पाँड़े।

मत-मतांतरों के विचारों का वर्णन 'देव-माया-प्रपंच'-नाटक में अधिक है। स्थल-संकोच के कारण हम यहाँ पर उसके अधिक उदाहरण देने में असमर्थ हैं।

'वैराग्य-शतक' में भगवान् के विश्व-रूप एवं वेदांत-तत्त्व का स्पष्टीकरण परम मनोहर हुआ है। उस प्रकार के कुछ वर्णन भी पाठकों की भेंट किए जाते हैं।

देवजी की राम-पूजा कितनी भव्य है! उनका विचार कितना विश्व-व्यापी और उन्नत है! उनके राम साधारण मंदिर में नहीं

विराजमान हैं। देवजी अपने राम को पृथ्वी-पृष्ठ पर बने हुए आकाश-मंदिर में बिठलाते हैं, संसार-व्यापी समस्त सलिल से उनको स्नान कराते हैं, और विश्व-मंडल में प्राप्त सारे सुगंधित फल-फूलों की भेंट चढ़ाते हैं। उनको धूप देने के लिये अनंत अग्नि है, और अखंड ज्योति से ही उनकी दीपार्चना की जाती है। नैवेद्य के लिये सारा अन्न उनके सामने है। वायु का स्वाभाविक प्रवाह देवजी के राम-देव पर चँवर झलता हुआ पाया जाता है। देवजी की पूजा निष्काम है; वह किसी समय विशेष पर नहीं की जाती, सदैव होती रहती है। ऐसी पवित्र, विशाल और भावमयी पूजा का वर्णन स्वयं देवजी के ही शब्दों में पढ़िए—

"देव" नभ-मंदिर में बैठारयो पुहुमि-पीठ,
सिगरे सलिल अन्हवाय उमहत हौं;
सकल महीतल के मूल-फल-फूल-दल-
सहित सुगंधन चढ़ावन चहत हौं।
आगिनि अनंत, धूप-दीपक अखंड जोति,
जल-थल-अन्न दै प्रसन्नता लहत हौं;
ढारत समीर चौंर, कामना न मेरे और,
आठौ जाम, राम, तुम्हैं पूजत रहत हौं।

देवजी को इन्हीं राम ने सुमति सिखलाई (दी) है, जिससे उन्हें नख के अग्र भाग में सुमेरु का वैभव दिखलाई पड़ता है; सुई के छेद में स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल के दर्शन होते हैं; एक भूखे भुनगे में चतुर्दश लोक व्याप्त पाए जाते हैं; चींटी के सूक्ष्माति-सूक्ष्म अंडे में सारा ब्रह्मांड समा रहा है; सारे समुद्र जल के एक क्षुद्र-बिंदु में हिलोरें मारते हुए दिखलाई पड़ते हैं; एक अणु में सब भूतगण विचर रहे हैं; स्थूल और सूक्ष्म मिल-

कर सब एकाकार हो रहा है। देवजी में आप-ही-आप इस सुमति का प्रादुर्भाव हुआ है—

नाक, भू, पताल, नाक-सूची ते निकसि आए,
चौदहौ भुवन भूखे भुनगा को भयो हेत;
चींटी-अंड-भंड में समान्यो ब्रह्मंड सब,
सपत समुद्र बारि-बुंद मैं हिलोरे लेत।
मिलि गयो मूल थूल-सूच्छम समूल कुल,
पंचभूतगन अनु-कन मैं कियो निकेत;
आप ही तैं आप ही सुमति सिखराई "देव",
नख-सिखराई मैं सुमेरु दिखराई देत।

देवजी को राम की अनूठी, भावमयी उपासना का जैसा विशाल फल मिला, जिस प्रकार उनकी सुमति फिर गई, वह सब तो पाठकों ने देखा; अब यह भी तो जानना चाहिए कि आखिर यह राम हैं कौन? सुनिए, देवजी स्वयं बतलाते हैं—

तुही पंचतत्त्व, तुही सत्त्व, रज, तम तुही,
थावर औ जंगम जितेक भयो सब मैं;
तेरे ये बिलास लोटि तो ही मैं समाने, कछू
जान्यो न परत, पहिचान्यो जब-जब मैं।
देख्यो नहीं जात, तुही देखियत जहाँ-तहाँ,
दूसरो न देख्यो "देव", तुही देख्यो अब मैं;
सबकी अमर-मूरि, मारि सब धूरि करै,
दूरि सब ही ते भरपूरि रह्यो सब मैं।

परंतु ऐसे राम के दर्शन क्या सबको सुलभ हो सकते हैं? क्या सब लोग ऐसे राम के यथार्थ स्वरूप को जान सकते हैं? क्या हमारे ये साधारण नेत्र इस दिव्य प्रकाश से आलोकित हो सकते हैं? अहो! इन पार्थिव चक्षुओं में तो माया का ऐसा

माड़ा व्याप रहा है कि कुछ सूझता ही नहीं । ठहरिए, देवजी की विशाल-प्रार्थना को पढ़िए, उसे बार-बार दुहराइए, सच्चे मन से अपने को ईश्वर के अर्पण कर दीजिए, फिर मूढ़ता नष्ट हो जायगी, अज्ञानांधकार का कहीं पता नहीं रहेगा, कोमल अमल-ज्योति के दर्शन होंगे, आँखों में पड़ा हुआ माया का माड़ा छूट जायगा, इंद्रिय-चोर भाग जायगा और आप सदा के लिये सब प्रकार से निरापद हो जायँगे—

मूढ़ है रह्यो है, गूढ़ गति क्यों न ढूँढ़त है,
गूढ़चर इंद्रिय अगूढ़ चार मारि दै;
बाहर हू भीतर निकारि अंधकार सब,
ज्ञान की अगिनि सों अयान-बन बारि दै।
नेह-भरे भाजन मैं कोमल अमल जोति,
ताको हू प्रकास चहूँ पुंजन पसारि दै;
आवै उमड़ा-सो मोह-मेह घुमड़ा-सो "देव",
माया को मड़ा-सो अँखियन तें उघारि दै।

देवजी के जिस ज्ञान की चर्चा ऊपर की गई है, उसका विकास योग्य पात्र के हृदय-पटल पर ही संभव है। कुपात्र के सामने उसकी चर्चा व्यर्थ है। जहाँ देव के इन भावों का परीक्षक अंधा है, उसके पिट्ठू गूँगे हैं तथा अन्य दर्शक बहरे हैं, वहाँ इनका आदर क्या हो सकता है? स्वयं देवजी कहते हैं—

साहेब अंध, मुसाहेब मूक, सभा बहिरी, रँग रीझ को माच्यो;
भूल्यो तहाँ भटक्यो भट औघट, बूड़िबे को कोउ कर्म न बाच्यो।
भेष न सूझयो, कह्यो समुझयो न, बनायो सुन्यो न, कहा रुचि राच्यो;
"देव" तहाँ निबरे नट की बिगरी मति को सिगरी निसि नाच्यो।

पर यदि ज्ञान-चर्चा की कृषि किसी सुपात्र के भावुक-उर्वर हृदय-क्षेत्र में की गई, तो सुफल फलने में भी संदेह नहीं हो सकता।

फिर तो संसार के सभी प्राणियों में उसी सच्चिदानंद के दर्शन होते हैं। उसी की माया से प्रेरित सृष्टि और प्रलय के खेल समझ में आ जाते हैं। यह बात चित्त में जम जाती है कि भोक्ता और भक्ष्य वही है, निर्गुण और सगुण भी वही है; मूर्ख और पंडित सभी में वह विराजमान है। अस्त्र-शस्त्र में भी वही है। उनके चलानेवालों में भी वही है। उनके आघात से जिनकी मृत्यु होती है, उनमें भी वही है। जो धन के मद से उन्मत्त, तोंदवाले सेठ पालकी पर चढ़े-चढ़े घूम रहे हैं, उनमें भी वही है और उसी पालकी को ढोनेवाले बेचारे कहारों में भी उसी का वास है। कैसा विमल विज्ञान है! वेदांत के सिद्धांत का कैसा संक्षिप्त निदर्शन है!

अग, नग, नाग, नर, किन्नर, असुर, सुर,
प्रेत, पसु, पच्छी, कीट कोटिन कढ़्यो फिरै;
माया-गुन-तत्त्व उपजत, बिनसत सत्त्व,
काल की कला को ख्याल खाल में मढ़्यो फिरै।
आप ही भखत भख, आप ही अलख लख,
'देव' कहूँ मूढ़, कहूँ पंडित पढ़्यो फिरै;
आप ही हथ्यार, आप मारत, मरत आप,
आप ही कहार, आप पालकी चढ़्यो फिरै।

ऊपर जिस प्रकार के ज्ञान का उल्लेख किया गया है, उसका विकास होने के पश्चात् ईश्वर-संबंधी द्वैत-भाव न रह जाना चाहिए। उसी अवस्था के लिये देवजी कहते हैं—

तेरो घर घेरो आठौ जाम रहैं आठौ सिद्धि,
नवौ निधि तेरे बिध लिखियै ललाट है;
'देव' सुख-साज महाराजनि को राज तुही,
सुमति सु सो ये तेरी कीरति के भाट हैं;

तेरे ही अधीन अधिकार तीन लोक को, सु
दीन भयो क्यों फिरै मलीन घाट-बाट हैं ;
तो मैं जो उठत बोलि, ताहि क्यों न मिलै डोलि ,
खोलिए, हिए मै दिए कपट-कपाट हैं ।

हृदय के कपट-कपाट खुल जाने के बाद अपने आपमें जो बोल उठता है, उससे सम्मिलन हो जाता है । इस सम्मिलन के बाद फिर और क्या चाहिए ? 'सोऽहं' और 'अहं ब्रह्म' भी तो यही है । फिर तो हमीं ब्रज हैं, ब्रज-स्थित वृंदावन भी हमीं हैं, श्याम-वर्ण भानु-तनया की विलोल तरंग-मालाएँ भी हमीं में हैं । चारों ओर विस्तृत सघन वन एवं अलि-माला से गुंजायमान विविध कुंजों का प्रादुर्भाव भी हमीं में होता है । वीणा की मधुर झंकार से परिपूर्ण, रास-विलास-वैभव से युक्त वंशी-वट के निकट नट-नागर का नृत्य भी हमीं में होता है । इस नृत्य के अवसर पर संगीत-ध्वनि के साथ-साथ गोपियों की चूड़ियों की मृदु झंकार भी हमीं में विद्यमान पाई जाती है । वाह ! कितना रमणीय परिवर्तन है !

हौं ही ब्रज, बृंदाबन मोहीं मैं बसत सदा ,
जमुना-तरंग स्याम-रंग अवलीन की ;
चहूँ ओर सुंदर, सघन बन देखियत ,
कुंजनि मैं सुनियत गुंजनि अलीन की ।
बंसी-बट-तट नट-नागर नटतु मोमैं ,
रास के बिलास की मधुर धुनि बीन की ;
भरि रही भनक, बनक ताल-तानन की ,
तनक-तनक तामैं झनक चुरीन की ।

वेदांत के इतने उच्च और सच्चे तत्त्व से परिचित होते हुए भी देवजी ने संसार की क्षण-भंगुरता पर विकलता-सूचक आँसू गिराए

हैं। सर्वसाधारण लोग जिस प्रकार संसार को देखते हैं, देवजी ने भी अपना 'जगद्दर्शन' उससे अलग नहीं होने दिया है—

हाय दई ! याह काल के ख्याल में फूल-से फूलि सबै कुँभिलाने ;
या जग-बीच बचे नहिं मीच पै, जे उपजे, ते मही मैं मिलाने।
'देव' अदेव, बली बल-हीन, चले गए मोह की हौंस-हिलाने ;
रूप-कुरूप, गुनी-निगुनी, जे जहाँ उपजे, ते तहाँ ही बिलाने।

देवजी की निर्मल दृष्टि प्रेम-प्रभाकर के सुखद प्रकाश में जितनी प्रभावमयी दिखलाई पड़ती है, उतनी अन्यत्र नहीं। उनके प्रेम-संबंधी अनेक वर्णन हिंदी-साहित्य में अपना जोड़ नहीं रखते।

देवजी के विषय में बहुत कुछ लिखने और कहने की हमारी इच्छा है। उसके लिये हम प्रयत्नशील भी हैं। परंतु कभी-कभी हमारी ठीक वही दशा होती है, जो देवजी ने अपने एक छंद में दिखाई है। हम कहना तो बहुत कुछ चाहते हैं, परंतु कहते कुछ भी नहीं बन पड़ता—जो हो, देवजी के उसी छंद को देकर अब हम अपने इस लेख को समाप्त करते हैं।

'देव' जिए जब पूछौ, तौ पीर को पार कहूँ लहि आवत नाहीं ;
सो सब झूँठमते मत कै, बरु मौन, सोऊ सहि आवत नाहीं।
है नद-संग-तरंगनि मैं, मन फेन भयो, गहि आवत नाहीं ;
चाहै कह्यो बहुतेरो कछू, पै कहा कहिए ? कहि आवत नाहीं।

६—चक्रवाक

हंस, चक्रवाक, गरुड़ इत्यादि अनेक पक्षियों के नाम तो हम बहुत दिनों से सुनते चले आते हैं, परंतु इनको आँखों से देखने अथवा इनके विषय में कुछ ज्ञान प्राप्त करने की ज़रूरत नहीं समझते। हमारी धारणा है कि जब पुराने ग्रंथों में इन पक्षियों के नाम आए हैं, तब वे कहीं-न-कहीं होंगे ही ! और, यदि न भी हुए, तो इससे हमारा कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। ऐसी ही धारणा

हमारे हृदय में जगह कर गई है, और उसी ने विज्ञान में हमारी उन्नति का मार्ग रोक रक्खा है।

परंतु पाश्चात्य विद्वान् ऐसा नहीं सोचते। उन्होंने अन्य विषयों की तरह पक्षिशास्त्र (Ornithology) का भी खूब अध्ययन किया है। जहाँ तक बन पड़ा, उन्होंने प्रत्येक देश में बसनेवाले प्रत्येक जाति के पक्षी का पूरा हाल जानने का प्रयत्न किया है। भारतीय पशु-पक्षियों के विषय में भी उन लोगों ने यथासाध्य अनुसंधान किया है, और हमारा इस विषय का सब ज्ञान उन्हीं के अनुसंधानों पर निर्भर है। उदाहरण के लिये चक्रवाक ही को ले लीजिए। अँगरेज़ी में चक्रवाक के Ruddy goose, Ruddy shelldrake, Brahmny duck इत्यादि कई नाम हैं। वैज्ञानिक भाषा में उसे Anas casarca अथवा Casarca rutalia कहते हैं। पहले जब Linneus-नामक प्राणिशास्त्रवेत्ता ने पक्षियों का विभाग किया, तब उसे Anas-नामक जाति (genus) में रक्खा था, परंतु पीछे के वैज्ञानिकों ने Anas-जाति को कई खंडों में विभक्त कर डाला, और चक्रवाक को Casarca-शीर्षक जाति में रक्खा। तभी से इसका नाम भी Anas casarca के स्थान पर Casarca rutalia हो गया *।

Anas casarca और Casarca rutalia चक्रवाक के ही नाम हैं। इसमें संदेह की जगह नहीं। पाठकों में से जो महाशय इस विषय की विशेष छानबीन करना चाहें, वे निम्न-लिखित ग्रंथ देखें—

(१) मॉनियर विलियम्स एम्० ए०-कृत Sanskrit English Dictionary †

---

* देखिए Penny Cyclopaedia

† *Chakravaka* -As M. the ruddy goose, commonly called the Brahmny Duck.

Anas Casarca. [Edition 1872, pp. 311]

(२) सर्जन जनरल बालफूर-कृत Cyclopaedia of India *

(३) वामन-शिवराम आपटे-कृत English Sanskrit Dictionary.

प्रांतीय अजायबघर, लखनऊ में जो चकवा और चकवी नाम के पक्षी रक्खे हुए हैं, उन पर भी Casarca ही नाम पड़ा हुआ है ।†

चक्रवाक, मुरग़ाबी, हंस, फ़्लैमिंगो इत्यादि सब एक दूसरे से बहुत मिलते-जुलते वर्गों के पक्षी हैं। पक्षिशास्त्रियों ने पक्षियों के जो बड़े-बड़े विभाग (Orders) बनाए हैं, उनमें से एक का नाम Natatores है। यह सात वर्गों (Families) में विभक्त किया गया है। उन वर्गों तथा प्रत्येक वर्गवाले सुपरिचित पक्षियों के नाम नीचे दिए जाते हैं—

Orders Natatores—

Family (वर्ग)			
Phoenicopterus	...	...	फ़्लैमिंगो इत्यादि
,, Cygnidæ	...	...	हंस इत्यादि
,, Anseridae	...	...	राजहंस आदि (राजहंस=Anser Indicus)
,, Anatidae	...	...	मुरग़ाबी, पनडुब्बे, चकवा इत्यादि (चकवा Casarca rutalia)

* *Dwand Chara*—Ruddy goose. Anas Casarca [pp. 442]

× × ×

† अजायबघर में जो मृत पक्षी रक्खे हुए हैं, वे म्यूज़ियम-कलेक्टर मिस्टर टी० ई० डी० इन्स महाशय की कृपा से अजायबघर के अधिकारियों को प्राप्त हुए थे। नर १०वीं फ़रवरी १८८८ ई० को गढ़वाल में तथा मादा ७वीं मार्च को खीरी में बंदूक़ से मारी गई थी।

Chakravaka—Ruddy goose. The birds are supposed to be separated through the night (Casarca rutalia) [pp. 640].

A genus of swimming birds of India, Casarca rutalia the Brahmini goose is met with above Sukkur. The male is a fine looking bird and measures about 29 inches. It is shy and wary [pp 594].

इन चार के अलावा तीन और वर्ग (Mergidae, Pedicepidae तथा Procillaridae) हैं। पाठकों में से जिन्हें इस विषय का विशेष अध्ययन करना हो, वे Indian ornithology पर कोई भी प्रामाणिक पुस्तक पढ़ें।

चक्रवाक एक बड़ा पक्षी है। यह आकार में बत्तक से कुछ छोटा होता है; पर इसकी बनावट उससे मिलती-जुलती है। साधारणतः नर-चकवे की लंबाई २४½ से २७ इंच तक, डैने की लंबाई १४½ से १५½ इंच तक, दुम ५½ से ६ इंच तक और चोंच की लंबाई २ इंच होती है। मादा भी प्रायः इसी आकार की होती है, पर कभी-कभी छोटी।

चकवे का सिर पीलापन लिए हुए कत्थई रंग का होता है। यहाँ से बदलते-बदलते पीठ और छाती पर का रंग गहरा नारंगी हो जाता है। दुम कालापन लिए हुए हलके हरे रंग की होती है। शरीर का बाक़ी भाग सुपारी के रंग का होता है। चोंच काली और बत्तक की चोंच से कुछ पतली होती है। पैर भी काले होते हैं और बत्तक के पैर के समान उँगलियाँ जुड़ी होती हैं। बहुधा नर पक्षी के गले में काले रंग का एक पट्टा-सा बना होता है। परंतु यह केवल जोड़ा खाने के मौसम में दिखलाई पड़ता है। किसी-किसी के नहीं भी होता।

चकवी नर से कुछ हलके रंग की होती है। उसके उपर्युक्त काला पट्टा नहीं होता।

चकवा भारत के प्रायः सभी नगरों में पाया जाता है; परंतु शिकारी लेखकों ने अधिकतर सिंध, फ़ारस, बिलोचिस्तान, अफ़ग़ानिस्तान,

पूर्वी तुर्किस्तान, पंजाब, संयुक्त-प्रांत, नेपाल, बंगाल, राजपूताना, मध्य-भारत, कच्छ, गुजरात तथा दक्षिण-भारत के कुछ भागों में इसके होने का वर्णन किया है। सिंध-प्रांत की झीलों में तथा सिंधु-नदी के किनारे यह पक्षी बहुत पाया जाता है। संयुक्त-प्रां में भी इसकी कमी नहीं। जिस समय गेहूँ जमने पर होता है, उस समय चकवों के बड़े-बड़े झुंड सूर्योदय और सूर्यास्त के समय खेतों में पहुँच जाते और फ़सल को बड़ी हानि पहुँचाते हैं।

मिस्टर रीड एक सुप्रसिद्ध शिकारी थे। वह अपनी Game birds-नामक पुस्तक में चक्रवाक का हाल यों लिखते हैं—

"वह (चकवा) अपने ही बचाव के बारे में विशेष सजग नहीं रहता, बल्कि शिकारी के सामने झील की ओर उड़कर दूसरों को भी सचेत करने के लिये शब्द करता है और अन्य पक्षी भी उसका साथ देते हैं।"

चक्रवाक का निवास-स्थान भारत में नहीं है। यह तथा इस जाति के अधिकांश पक्षी उत्तर दिशा से शरद्-ऋतु में यहाँ आते और वसंत के आरंभ में फिर अपने देश को वापस जाते हैं।

उत्तर दिशा से शरद्-ऋतु में भारत आनेवाले पक्षियों के विषय में सर्जन जनरल बालफ़ूर अपनी Encyclopædia of India-पुस्तक (भाग १, पृ० २८१) में यों लिखते हैं—

" The grallatorial and natatorial birds begin to arrive in Nepal from the North towards the close of August and continue arriving till the middle of September. The first to appear are the common snipe and jack-snipe and rhynchœa, next the scolopaceous waders (except wood-cock), next the birds of heron and stork and crane families, then the natatores and lastly the wood cocks which do not reach Nepal till November. The time of reappearance of these birds from the South is

the beginning of March and they go on arriving till the middle of May. None of the natatores stay in Nepal in spring except the teal."

इससे स्पष्ट है कि बाहर से आनेवाले पक्षियों में 'चाहा' तो सबसे पहले आता है और राजहंस, चकवा, मुरग़ाबी इत्यादि उसके बाद। उत्तर दिशा से आते हुए ये पक्षी ऑगस्ट-मास के अंत में नेपाल से गुज़रते हैं और मार्च के आरंभ में फिर दक्षिण से उत्तर की ओर जाते दिखाई पड़ते हैं। मई के मध्य तक इनका लौटना जारी रहता है। नैटैटोरीज़-विभाग का कोई भी पक्षी (पनडुबे को छोड़कर) वसंत-ऋतु में नेपाल में नहीं ठहरता।

यही महाशय पृ० ३६६ पर फिर लिखते हैं—

"भारत के अधिकांश पर्यटनशील पक्षी उत्तर के ठंडे देशों में रहते हैं। वे सितंबर और ऑक्टोबर में भारत आते और मार्च, एप्रिल तथा मई में यहाँ से चले जाते हैं।"

ख़ास चक्रवाक के विषय में कराची की म्युनिसिपल लाइब्रेरी तथा अजायबघर के क्यूरेटर, विक्टोरियन नेचुरल हिस्ट्री इंस्टीट्यूट के प्रबंधक नेचुरल हिस्ट्री सोसाइटी और एंथ्रोपॉलोजिकल सोसाइटी (बंबई) के सदस्य जेम्स ए० मरे एफ़० एस्० ए० एल्० यों लिखते हैं—

"चक्रवाक जाड़े की ऋतु में भारत में आनेवाला पक्षी है। सिंध-प्रदेश में यह प्रत्येक झील, नाले, विशेषकर मुंचर पर और सिंधु-नदी के किनारे पाया जाता है। पौ-फटे या सूर्यास्त के समय हंसों और मुरग़ाबियों के बड़े-बड़े झुंड उगते हुए गेहूँ के खेतों का आश्रय लेते और उन्हें बड़ी हानि पहुँचाते हैं।"

सारांश यह कि चक्रवाक हिमालय की उत्तर दिशा में स्थित अपनी जन्म-भूमि से सितंबर-मास के लगभग भारत में आता है।

इन्हीं दिनों यहाँ के शस्य-श्यामल मैदानों में उसके लिये पर्याप्त भोजन-सामग्री मिलती है। ऑक्टोबर, नवंबर, दिसंबर और जनवरी—ये चार मास इसे प्रवास में लग जाते हैं। शिकारियों को यह बात बहुत अच्छी तरह मालूम है और वे इन्हीं दिनों इस तथा इस जाति के अन्य पक्षियों का जी-भर शिकार खेलते हैं। इन महीनों में जिधर देखिए, इस जाति के झुंड-के-झुंड पक्षी विचित्र प्रकार का शब्द करते हुए जाते दिखाई पड़ते हैं।

फ़रवरी-मास के लगभग इन्हें अपनी जन्म-भूमि फिर याद आती है। यह इनका जोड़ा खाने का समय है। निश्चित समय पर वे झुंड-के-झुंड उत्तर दिशा की ओर जाते दिखाई पड़ते हैं, और फ़रवरी तथा मार्च में इनका शिकार करने के लिये शिकारियों को नेपाल तथा तराई में जाना पड़ता है। हिमालय के उत्तरी तथा दक्षिणी ढाल तथा और भी उत्तर के प्रदेश इनके अंडे देने के स्थान हैं। इन स्थानों के निवासियों की तो रोज़ी इन्हीं के अंडों पर निर्भर है। ये लोग ऐसे स्थानों का निश्चित पता रखते हैं, और समय पर जाकर अंडे जमा कर लाते हैं।

चक्रवाक के विषय में यह प्रसिद्ध है कि इसका जोड़ा रात को बिछुड़ जाता है और दिन को फिर एकत्र हो जाता है। बहुत खोज करने पर भी इस जनश्रुति का उद्गम हम न जान सके। जान पड़ता है, इस कथन में सत्य का अंश बहुत कम अथवा नहीं ही है। कई अनुभवी चिड़ीमारों तथा शिकारियों से भी हमने इस विषय में पूछा। सबने एक स्वर से इस लेख की बातों का समर्थन किया।

नवलविहारी मिश्र बी०एस्-सी०

७—विहारी और उनके पूर्ववर्ती कवि

ब्रजभाषा काव्य के गौरव कविवर विहारीलाल को हिंदी साहित्य-संसार में कौन नहीं जानता। हिंदी-कविता का प्रेमी

ऐसा कौन-सा अभागा व्यक्ति होगा, जिसे जगत्प्रसिद्ध सतसई के दो-चार दोहे न स्मरण होंगे ? यह बड़े ही आनंद का विषय है कि कविवर विहारीलाल ने इस समय अपनी सुख्याति को खूब विस्तृत कर लिया है । एक बार फिर सतसई पर समयानुकूल प्रचलित भाषा में विद्वत्ता-पूर्ण सटीक ग्रंथ लिखे जाने लगे हैं, एक बार फिर सतसई की कीर्ति-कौमुदी के शुभ्रालोक में साहित्य-संसार जगमगा उठा है, यह कितने अभिमान और संतोष की बात है ।

विहारीलाल का एक-एक दोहा उनके गंभीर अध्ययन की सूचना देता है । उन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों के काव्य का बड़े ही ध्यान के साथ मनन किया है । उनकी कविता में इन सभी कवियों के भावों की छाया पाई जाती है । विहारीलाल ने दूसरे का भाव लेकर भी उसे बिलकुल अपना लिया है। उनके दोहे पढ़ते समय इस बात का विचार भी नहीं उठता कि इस भाव को किसी दूसरे कवि ने भी इसी प्रकार अभिव्यक्त किया होगा । फिर भी सतसई के दोहों में पाए जाने-वाले भाव विहारीलाल के पूर्ववर्ती कवियों के काव्य में प्रचुर परिमाण में मौजूद हैं । हमने ऐसे भाव-सादृश्यवाले उदाहरण एकत्र किए हैं । इनकी संख्या एक-दो नहीं, सैकड़ों है ।

हम यहाँ काव्यप्रेमी पाठकों के मनोरंजनार्थ विहारीलाल और उनके पूर्ववर्ती प्रसिद्ध कवियों से समान भाववाले कुछ उदाहरण देते हैं । सदृश-भाववाले अनेक उदाहरण रहते हुए भी स्थल-संकोच के कारण प्रत्येक कवि का केवल एक-एक ही उदाहरण दिया जाता है ।

(१) भक्त की ईश्वर से प्रार्थना है कि मुझे जैसे-तैसे अपने दरबार में पड़ा रहने दो, मैं इसी को बहुत कुछ समझकर अपने को कृतकृत्य मानूँगा । विहारीलाल ने इस भाव को अपने एक

दोहे में प्रकट किया है। कबीर साहब ने भी इस भाव को लेकर कविता की है। दोनों उक्तियाँ पाठकों के सामने उपस्थित हैं—

मोमे इतनी शक्ति कहँ, गाऊँ गला पसार ;
बंदे को इतनी घनी, पड़ा रहे दरबार।

कबीर

हरि, कीजत तुमसों यहै बिनती बार हजार ;
जेहि-तेहि भाँति डरो रहौं, परो रहौं दरबार।

विहारी

(२) श्रीकृष्णजी ने अपने शरीर की भाव-भंगी से गोपी को अपने वश में कर लिया है। इस भाव-भंगी का वर्णन कवि ने अपनी चटकीली भाषा में किया है। महात्मा सूरदास ने पहलेपहल इस प्रकार के वर्णन से अपनी लेखनी को पवित्र किया है। फिर रसिक-वर विहारीलाल ने सूर के इसी भाव को संक्षेप में परंतु चुने हुए सजीव शब्दों में ऐसा सजाया है कि बस, देखते ही बनता है—

नृत्यत स्याम स्यामा-हेत ;
मुकुट-लटकनि, भृकुटि-मटकनि नारि-मन सुख देन।
कबहुं चलत सुगध-गति सों, कबहुं उघटत बैन ;
लोल कुंडल गंड-मंडल, चपल नैनानि-सैन ;
स्याम की छबि देखि नागरि रहीं इकटक जोहि,
"सूर" प्रभु उर लाय लीन्हों प्रेम-गुन करि पोहि।

सूरदास

भृकुटी-मटकन, पीत पट, चटक[१] लटकती चाल ;
चल चख-चितवनि चोरि चित लियो बिहारीलाल।

विहारी

(३) चंपकवर्णी नायिका के शरीर में चंपक, समान वर्ण का

होने से, बिलकुल छिप जाता है। फूल और शरीर का रंग बिलकुल एक जान पड़ता है। जब तक माला कुँभला नहीं जाती, शरीर पर उसकी स्थिति ही नहीं मालूम पड़ती। गोस्वामी तुलसीदास और विहारीलाल के इस भाव पर समान वर्णन पाए जाते हैं—

चपक-हरवा अँग मिलि अधिक सोहाय ;
जानि परै सिय-हियरे जब कुँभिलाय।

तुलसी

रच न लखियत पहिरियै कंचन-से तन बाल ;
कुँभिलाने जानी परै उर चंपे की माल।

विहारी

दोनों भावों में कितनी अनुकूल समता है। विहारीलाल ने कंचन-तन बढ़ाया है, पर तुलसी के वर्णन में कंचन के बिना ही चंपकवर्ण का विदग्धता-पूर्ण निर्देश है।

(४) पुतरी और पातुर का प्रसिद्ध रूपक केशवदास ने विहारीलाल के बहुत पूर्व कह रक्खा था। फिर भी विहारीलाल ने इसी रूपक को अपने नन्हें-से दोहे में अनोखे कौशल के साथ बिठाला है। रचना-चातुरी इसी को कहते हैं। जान पड़ता है, भाव बिलकुल नया है—

काछे सितासित काछनी "केसव", पातुर ज्यों पुतरीन बिचारो ;
कोटि कटाक्ष नचै गति-भेद, नचावत नायक नेहनि न्यारो।
बाजतु है मृदु हास मृदंग-सो, दीपति दीपन को उजियारो ;
देखतु हौ, यह देखत है हरि, होत है आँखिन में ही अखारो।

केशव

सब अँग करि राखी सुघर नायक नेह सिखाय ;
रसयुत लेत अनंत गति पुतरी पातुरराय।

विहारी

(५) मारवाड़ के प्रसिद्ध महाराज यशवंतसिंह ने 'भाषा-भूषण'

की रचना सतसई बनने के कुछ पूर्व ही की थी। 'भाषा-भूषण' का निम्न-लिखित दोहा बहुत प्रसिद्ध है—

रागी मन मिलि स्याम सों भयो न गहरो लाल ;
यह अचरज, उज्जल भयो, तज्यो मैल तिहि काल।

जसवंतसिंह

ठीक इसी भाव को बिहारीलाल ने इस प्रकार दरसाया है—

या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोय ;
ज्यों-ज्यों बूड़े स्याम-रँग, त्यों-त्यों उज्जल होय।

बिहारी

(६) ज्यों-ज्यों प्रियतम से सम्मिलन का समय निकट आता जाता है, त्यों-त्यों स्नेहभाव-परिपूर्ण नायिका अपने मंदिर में इधर से उधर जल्दी-जल्दी टहल रही है। नायिका की इस दशा का भाव एक कवि ने तो प्राणप्यारे के विदेश से लौटने के समय का व्यक्त किया है, पर दूसरा इसी भाव को किसी दिन के अवसान के बाद निशारंभ के ही संबंध में व्यक्त कर डालता है। दोनों भाव जिस भाषा द्वारा प्रकट किए गए हैं, उसमें अद्भुत साम्य है—

पति आयो परदेस ते ऋतु बसंत की मानि ;
झमकि-झमकि निज महल मैं टहलैं करें सुरानि।

कृपाराम

ज्यों-ज्यों आवै निकट निसि, त्यों-त्यों खरी उताल ;
झमकि-झमकि टहलैं करै, लगी रहँचटे बाल।

बिहारी

(७) कवि मुबारक की कल्पना है कि नायिका के चिबुक पर ब्रह्मा ने तिल इसलिये बना दिया था कि वह दिठौना का काम करे, उसके कारण लोगों की दृष्टि का बुरा फल न हो। पर बात उलटी हो रही है। तिल की शोभा और भी रमणीय हो गई है।

इससे संसार-का-संसार उसे देखने के लिये लालायित हो रहा है। विहारीलाल के यहाँ दिठौना चिबुक का तिल नहीं है। वहाँ दीठि न लगने पावे, इस विचार से सच्चा दिठौना लगाया गया है पर फल इनके यहाँ भी उलटा हुआ है। दिठौना से सौंदर्य और भी बढ़ गया है, जिससे पहले की अपेक्षा लोग उसी मुख को दुगुने चाव से देखते हैं। दोनों कवियों के भाव साथ-साथ देखिए—

चिबुक-दिठौना बिधि कियो, दीठि लागि जनि जाय ;
सो तिल जग-मोहन भयो, दीठिहि लेत लगाय।

मुबारक

लोने मुख डीठि न लगै, यह कहि दीनो ईठि ;
दूनी ह्वै लागन लगी दिए दिठौना दीठि।

विहारी

दोनों दोहों के भाव में शब्द-संघटन में एवं वर्णन-शैली तक में कितना मनोहर सादृश्य है! फिर भी विहारी विहारी हैं और मुबारक मुबारक।

जान पड़ता है, पूर्ण अध्यवसाय के साथ ढूँढ़ने से सतसई के सभी दोहों का भाव पूर्ववर्ती कवियों की कृति में दृष्टिगोचर हो सकेगा। देखिए, सतसई के मंगलाचरणवाले दोहे का पूर्वार्द्ध तक तो पूर्ववर्ती केशव के काव्य को देखकर बनाया गया प्रतीत होता है—

आधार रूप भव-धरन को राधा हरि-बाधा-हरनि।

या

राधा "केसव" कुँवर की बाधा हरहु प्रवीन।

केशव

भव-बाधा हरहु राधा नागरि सोय।

विहारी